"संस्कृत साहित्य में नीतिपरक काव्य —एक विवेचनात्मक अध्ययन"

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, में डी. फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

निर्देशक
प्रो० चण्डिका प्रसाद शुक्ल
(डी० लिट्०)
से० नि० (अध्यक्ष)
संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

अनुसधाता
अनूप कुमार रस्तोगी
एम० ए० (संस्कृत)
इलाहावाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
२००२

आभार

'सस्कृत साहित्य मे नीतिपरक काव्य–एक विवेचनात्मक अध्ययन' विषय पर प्रस्तु 'शोध–प्रबन्ध' नीतिपरक काव्यो मे वर्णित नीतियो का एक संक्षिप्त अध्ययन रूप है। इस वृह विषय पर कोई विशेष कार्य न होने के कारण मेरे परम श्रद्धेय गुरूवर एवं इस शोध विषय के मे निर्देशक 'प्रो० चण्डिका प्रसाद शुक्ल, से० नि० (अध्यक्ष)–सस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय इलाहाबाद' ने मुझे प्रस्तुत विषय पर शोध करने की सलाह दी, जिसके लिये मै उनका कि शब्दो मे आभार व्यक्त करूँ, समझ मे नही आता। इस 'शोध–प्रबन्ध' के लेखन मे नीति सम्बन्धी अपने विचारो से समय–समय पर अवगत कराकर उन्होने मेरा उचित दिशा में मार्गदर्शन किया है, जिसके लिये मैं उनका आभार व्यक्त करता हूँ।

इस शोध–प्रबन्ध को मै समय से पूर्ण कर सका हूँ, तो इसमे मेरे पिताजी 'श्री स्वामी दयाल रस्तोगी' एव मेरी माता जी 'श्रीमती किरन लता रस्तोगी' का बहुत बडा सहयोग रहा है। जिन्होने सदैव मुझे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये निरन्तर प्रेरित करते हुये मेरा उत्साहवर्द्धन किया है।

इस शोध–प्रबन्ध के लेखन मे यदि किसी का सबसे बडा सहयोग रहा है, तो वह है मेरे परम पूज्य गुरूवर 'डा० कृष्ण कुमार अवस्थी–से०नि० (अध्यक्ष)– सस्कृत विभाग–सी०एस० नेहरू डिग्री कॉलेज, हरदोई', जिन्होने मुझे अपनी निजी पुस्तके उपलब्ध कराकर मुझे ग्रन्थों की खोज मे इधर–उधर भटकने से ही नही बचाया, अपितु उन ग्रन्थो मे वर्णित नीतियो के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त कराकर मुझे प्रस्तुत 'शोध–प्रबन्ध' के लेखन में भी सहयोग प्रदान किया। इस अपूर्व योगदान के लिये मै सदैव उनका ऋणी रहूँगा। क्योकि उनकी मदद के बिना शायद मै इस शोध–प्रबन्ध को समय से पूर्ण नही कर सकता था, इसलिये एक बार फिर मैं उनका आभार व्यक्त करना चाहूँगा।

मै अपने उन गुरूजनो का भी बहुत आभारी हूँ, जिन्होने समय–समय पर मुझे शोध सम्बन्धी मदद देकर मेरे कार्य को सहज बनाने मे सहयोग प्रदान किया है। इस क्रम में मै 'डा० पी० एल० अवस्थी–रीडर (भूगोल विभाग)– सी०एस० नेहरू डिग्री कॉलेज, हरदोई' के प्रति आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझता हूँ। मैं 'डा० मञ्जुला जायसवाल–प्रवक्ता (संस्कृत–विभाग),

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद' के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होने मुझे रञ्चमात्र भी इस शोध–प्रबन्ध को पूर्ण करने मे मेरी सहायता अथवा मेरा उत्वाहवर्द्धन किया है।

इस 'शोध–प्रबन्ध' की कम्प्यूटर टाइपिग मे मेरे अनुज 'विनीत कुमार रस्तोगी' का अतीव योगदान रहा है। जिसने अपने कम्प्यूटर ज्ञान की मदद से इसकी टाइपिग मे मुझे पूर्ण सहयोग दिया है। इस कार्य के लिये मै उसके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

यद्यपि मैने 'शोध–प्रबन्ध' एव उसकी 'सक्षिप्तिका' की छपाई मे पूर्ण सावधानी बरतने का प्रयास किया है परन्तु फिर भी यदि त्रुटियॉ रह गई हो तो उसके लिये मै हार्दिक रूप से क्षमा प्रार्थी हूँ।

दिनांक : 25 06.2002

अनूप कुमार रस्तोगी

विषय सूची

	प्रथम अध्याय - भूमिका	**1 - 28**
(I)	नीति काव्य एव उसकी परिभाषा	1 - 5
(II)	नीति काव्य का उद्भव एव विकास	6 - 11
(III)	नीतिपरक काव्यो की चिन्तन परम्परा	12 - 17
(IV)	नीतिकाव्यो की व्यवहारिकता एव सामाजिक उद्बोध	18 - 28
	द्वितीय अध्याय - नीतिपरक काव्यों की विषयवस्तु	**29 - 94**
(I)	दार्शनिक नीतियॉ	29 - 36
(II)	धार्मिक नीतियॉ	37 - 44
(III)	उपदेशात्मक नीतियॉ	45 - 52
(IV)	सामाजिक नीतियॉ	53 - 70
(V)	राजनीतिक नीतियॉ	71 - 88
(VI)	मनोवैज्ञानिक नीतियॉ	89 - 94
	तृतीय अध्याय - नीतिपरक काव्यों के विविध माध्यम	**95 - 163**
(I)	पशुओ के माध्यम से कही गयी नीतियाँ	96 - 105
(II)	पक्षियो के माध्यम से कही गयी नीतियॉ	106 - 124
(III)	कीट–पतगों के माध्यम से कही गयी नीतियॉ	125 - 137
(IV)	वानस्पतिक एवं प्राकृतिक माध्यमो से कही गयी नीतियॉ	138 - 156
(V)	अन्य माध्यमो से कही गयी नीतियॉ	157 - 163
	चतुर्थ अध्याय - नीतिपरक काव्यों का वर्गीकरण	**164 - 248**
(I)	महाकाव्यो एव प्रमुख काव्यो मे वर्णित नीति	164 - 181
(II)	रूपको मे नीति	182 - 210
(III)	कथा साहित्य मे नीति	211 - 236
(IV)	नीतिपरक सूक्तियॉ	237 - 248
	पंचम अध्याय - नीतिपरक काव्यों का साहित्यिक मूल्यांकन	**249 - 291**
(I)	छन्द	249 - 256
(II)	अलंकार	257 - 268
(III)	रस एवं गुण	269 - 285
(IV)	नीतियो में ध्वनि	286 - 291
	षष्ठम् अध्याय - उपसंहृति	**292 - 309**
(I)	नीतिपरक काव्यों का महत्व	292 - 296
(II)	नीतिपरक काव्यों की वर्णन शैली	297 - 300
(III)	नीतिपरक काव्यो का समाज पर प्रभाव	301 - 306
(IV)	नीतिपरक काव्यों का योगदान	307 - 309
	सन्दर्भ ग्रन्थ सूची	**310 - 312**

प्रथम अध्याय

(I)
नीति काव्य एवं उसकी परिभाषा

समाज का घनिष्ठ सम्बन्ध नीति से है, क्योंकि नीतिपूर्वक किया गया संगठन स्थायी एवं सुगठित होता है। नीति का सम्बन्ध व्यक्ति और समाज दोनों से रहता है, क्योंकि व्यक्ति समाज में ही जन्म लेता है और उसी में सम्पूर्ण जीवन यापन करता है और व्यक्तियों से ही समाज का निर्माण होता है। अतः हम कह सकते हैं कि व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों का चरम लक्ष्य एक ही है। समाज की उन्नति का आधार वैयक्तिक नैतिकता ही है। व्यक्ति जितना ही नैतिक एवं न्यायप्रिय होगा समाज उतना ही सुसंगठित एवं नैतिक हो सकेगा।

नीति को हम अध्ययन की दृष्टि से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। प्रथम भाग में नीति का अभिप्राय नैतिकता से लिया जा सकता है, इसके अन्तर्गत मनुष्य की नैतिकता के साथ ही साथ शासन, धर्म, अर्थ आदि से सम्बन्धित नीतियों का भी समावेश हो जाता है जो समाज को सुश्रृंखलित एवं सुसंगठित बनाने में सहयोग प्रदान करती हैं और साथ ही उच्छृंखलता का भी निवारण करती हैं। इसी अभिप्राय को स्मृतिकारों ने आचार की संज्ञा प्रदान की है। जो समाज को गतिशील बनाये रखने में सहायता प्रदान करता है, क्योंकि जो समाज जितना ही अधिक नैतिक अर्थात् अपने कर्तव्यों का पालन करने में तत्पर होता है वही समाज उन्नत माना जाता है। इसी उद्देश्य से श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है–

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यतप्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।"[1]

इसी अभिप्राय को तैत्तरीयोपनिषद की शिक्षा वल्ली में भी कहा गया है कि यदि कर्तव्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह उत्पन्न हो तो वहाँ के रहने वाले आचारवान व्यक्ति जैसा व्यवहार करते हों वैसा व्यवहार करना चाहिये–

"अथ यदि ते कर्म विचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः।।"[2]

वस्तुतः नीति का सम्बन्ध आचरण से ही है यही कारण है कि प्राचीन सामाजिक सुधारकों ने आचरण को सर्वाधिक महत्व देते हुये उसे धर्म की कोटि में रखा। जैसा कि

---

[1] श्रीमद्भगवद्गीता– 3/21
[2] तैत्तरीयोपनिषद– शिक्षा वल्ली– 11/4

मनु ने-

"चतुर्णामपि वर्णानामाचारश्चैव शाश्वतः"[1]
एवं
"आचारः परमो धर्मः"[2]

कहा है।

मनुष्यता के विकास का स्रोत नैतिक निष्ठा ही है और नीति का सम्बन्ध आचार से है। अतएव कहा भी गया है कि जो व्यक्ति आचार से हीन होता है उसको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते-

"आचारहीनम् न पुनन्ति वेदाः"[3]

और पराशर ने भी कहा है-

"चतुर्णामपि वर्णानाम् आचारो धर्म पालनम्"[4]

इस प्रकार मानव जीवन के लिए आचार को विशेष महत्व दिया गया और आचार को ही धर्म कहा गया। आचार पालन के लिये सामाजिक चिन्तकों ने जिन नियमों को निर्धारित किया और जिनका निषेध किया उन्हें ही नीति काव्य के रूप में विद्वानों ने संकलित किया, जिन्हें नैतिकता से सम्बद्ध किया जा सकता है।

नीति के दूसरे प्रकार को सामाजिक एवं वैयक्तिक अनुभूतियों के साथ जोड़ा जा सकता है जिनमें जीवन-यापन से सम्बन्धित सुगम मार्ग का प्रदर्शन किया गया है तथा जीवन को प्रत्येक परिस्थिति में सुरक्षित, संतुलित और उन्नतोन्मुखी बनाये रखने सम्बन्धी अनुभूत तथ्यों का उल्लेख किया गया है। जैसे मनुष्य को सदैव विवेकपूर्वक कार्य करना चाहिए, क्योंकि विवेक नष्ट हो जाने पर आपत्तियाँ घेर लेती हैं तथा नैतिकता की दृष्टि से क्रोध अनैतिक माना जा सकता है परन्तु नीति की दृष्टि से क्रोध शून्य मनुष्य का न तो आदर होता है और न शत्रुओं में भय रह जाता है। अतः यह नीति स्वतः सिद्ध हो जाती है कि मनुष्य के लिये क्रोध करना भी आवश्यक है। इस प्रकार के जीवन सम्बन्धित सुपथ का विवेचन नीति काव्यकारों ने अपने नीति काव्यों में बहुलता के साथ किया है। जिनमें पूर्व से प्रचलित और स्वयं अनुभूत जिन विचारों को मानव जीवन यापन की निर्बाध

---

[1] मनुस्मृति- 1/107
[2] मनुस्मृति- 1/108
[3] मनुस्मृति
[4] पराशरस्मृति- 1/37

व्यवस्था के लिये लिपिबद्ध किया वही परवर्ती काल में नीति क़ाव्य के रूप में हमारे समक्ष आते हैं।

नीति काव्य के विषय में गवेषणा करनें के अनन्तर स्वतन्त्र रूप से नीति काव्य के रूप में चाणक्यशतक और नीतिशतक ही मुख्य रूप से नीति विषयक काव्य ग्रन्थों में गिने जा सकते हैं। नीति काव्यों में विदुर नीति की भी चर्चा है। परन्तु वह महाभारत का ही अंश है इस प्रकार वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत तो नीति के आकर ग्रन्थ हैं इन्हीं से परवर्ती कवियों ने नीति का संकलन किया। इनके अतिरिक्त अन्य महाकाव्यों, रूपकों, गद्य काव्यों तथा मुक्तकों में भी नीतियाँ देखने को मिलती हैं जो उक्त काव्यों की श्रेष्ठता को व्यक्त करने के साथ ही समाज को भी शिक्षा प्रदान करती हैं। जैसे अभिज्ञान शाकुन्तलम् में पारिवारिक एकरूपता बनाये रखने के लिये महर्षि कण्व के द्वारा शकुन्तला को दिया गया उपदेश समाज के सभी व्यक्तियों के लिये नीति का निर्धारण करता है जिसका रूप–

"शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रिसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापिऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामः कुलस्याधयः।।"[1]

में देखा जा सकता है। इसी प्रकार भास के नाटकों में भारवि एवं माघ के काव्यों में नीति के बीज स्पष्ट रूप से अंकुरित होते हुये देखे जा सकते हैं।

इस परम्परा में जब हम वैदिक युग की ओर दृष्टिपात करते हैं तो यही पाते हैं कि प्रारम्भ काल से ही मनुष्यों को कुमार्ग से हटाकर सत्मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित किया जाता रहा। उन्हें यही शिक्षा दी जाती रही कि जो हमारे प्रशंसनीय अनिन्दित कर्म हैं उन्हें ही स्वीकार करो अन्य को नहीं, जैसा कि तैत्तरीयोपनिषद में कहा गया है–

"यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।
यान्यस्माकँ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।।"[2]

इस विवेचन से नीति शब्द की परिभाषा स्वतः स्पष्ट हो जाती है कि नीति उसे कहते हैं जो मनुष्यों को सन्मार्ग पर ले जाय और इससे सम्बन्धित उपायों का दिग्दर्शन जिन ग्रन्थों में किया गया हो उन्हें नीति काव्य कहते है।

नीति शब्द की व्युत्पत्ति 'णीञ् धातु से क्तिन् प्रत्यय' करने पर सिद्ध की गई है

---

1 अभिज्ञान शाकुन्तलम्– 4/18
2 तैत्तरीयोपनिषद– 1/11/2

जिसका अभिप्राय है आचार पद्धति अथवा लोक या समाज के कल्याण के लिये निर्दिष्ट किया हुआ आचार व्यवहार। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि–

"या सन्मार्गम् नयति सा नीतिः"
अथवा
"यया सन्मार्गम् नीयते सा नीतिः"

कहने का अर्थ यह है कि व्यक्ति एवं समाज को कुमार्ग से सन्मार्ग की ओर ले जाने वाले काव्यशास्त्र या वचन नीति काव्य के अन्तर्गत आते हैं। अतः जिसमें मनुष्य एवं समाज के हित के लिये देश, काल और पात्र के अनुसार आचार व्यवहार, प्रबन्ध एवं शासन का विधान किया गया हो तथा जीवन पथ को प्रशस्त बनाने के लिए उपाय प्रदर्शित किये गये हो उसे नीति काव्य कहते हैं।

नीति के अन्तर्गत शुभ और अशुभ दोनो का समावेश होता है। जब हम शुभ की कल्पना करते हैं तो अशुभ स्वयं कल्पित हो जाता है, क्योंकि जब 'अस्ति' होता है तभी 'नास्ति' की कल्पना की जाती है। उक्त दोनों को उपनिषदों में दूसरे रूप में व्यक्त किया गया है जिन्हें श्रेयमार्ग और प्रेयमार्ग कहा गया है। जैसा कि कठोपनिषद में दोनों का विवेचन करते हुये कहा गया है कि श्रेय और प्रेय दोनों मनुष्य को बाँधते हैं, जो श्रेय को ग्रहण करता है उसका शुभ होता है और जो प्रेय को ग्रहण करता है असका अशुभ अर्थात् पतन हो जाता है। इस प्रकार श्रेय की इच्छा को शुभ अर्थात् सन्मार्ग और प्रेय की इच्छा को अशुभ अर्थात् कुमार्ग कहा जा सकता है–

"अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषँ् सिनीतः।
तयो श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।।"[1]

उक्त दोनो (श्रेय एवं प्रेय) को नीति और अनीति कह सकते हैं नीति कल्याणप्रद एवं अनीति पतन का कारण बनती है। स्मृतियों में भी श्रेय को श्रेष्ठ मानते हुये इसे सदाचार कहा गया और इसे ही मनुष्य का परम कर्तव्य माना गया। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जिन काव्यों या शास्त्रों से कर्तव्य और अकर्तव्य का बोध किसी भी प्रकार कराया गया हो वे सभी नीति काव्य के अन्तर्गत आ जाते हैं।

यदि हम नीति काव्य के अतिरिक्त नीतिशास्त्र का प्रयोग करें तो इसका अभिप्राय यह होगा कि जो सन्मार्ग पर चलने के लिये अनुशासित करे उसे नीति शास्त्र कहते हैं परन्तु नीतिशास्त्र और नीतिकाव्य में मुझे कुछ अन्तर अवश्य प्रतीत होता है, क्योंकि नीतिशास्त्र के अनुशासन में बाध्यता निहित रहती है उसका पालन न करने पर प्रशासनिक

---

1 कठोपनिषद– 2/1

दण्ड की व्यवस्था का विधान कर दिया जाता है। जैसे नीतिशास्त्र की दृष्टि से चोरी करन अपराध है। अतः चोर को दण्डित करने का विधान निर्धारित रहता है। इसके विपरीत नीति काव्यों में प्रयुक्त नीति में कोई बाध्यता नहीं होती वहाँ विधान निर्धारित न करके सरल शब्दों में नीतिगत कथन कर दिया जाता है उसे मानना या न मानना व्यक्ति के ऊपर निर्भर करता है।

इस प्रकार नीति काव्य या शास्त्र शुभ और अशुभ का वह अध्ययन है जिसका लक्ष्य समस्त प्राणियों का कल्याण है। यही कारण है कि सदसद् विवेकशील, सदाचारी विवेचकों ने मानव को बाधारहित जीवन-यापन करने की शिक्षा देने के लिये नीति काव्यो या शास्त्रों का निर्माण किया।

नीति की उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर हम इसे नीति दर्शन भी कह सकते हैं क्योंकि नीति का सम्बन्ध मानव जीवन के समस्त पक्षों से सम्बद्ध रहता है। इसके अन्तर्गत धर्म, राजनीति, आर्थिक नीति, सामाजिक व्यवस्था, शिक्षा तथा दैनन्दिन जीवन से सम्बन्धित सभी पक्ष आ जाते हैं। उपनिषदों में-

'सत्यं वद्, धर्मम् चर्, मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, अतिथि देवो भव, स्वाध्यायान् मा प्रमदः'

आदि दिये गये सभी उपदेश उपर्युक्त विषयों से सम्बद्ध माने जा सकते हैं इसके साथ ही राजनीति भी यदि नीति मार्ग का अुनसरण करती है तो मानव के साथ ही साथ समस्त राष्ट्र का भी कल्याण होता है अन्यथा नीतिविहीन राजनीति अमानवीय व्यवहारों का स्रोत बनकर एक दिन स्वयं नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार शिक्षा का भी आधार नीतिपूर्ण होना चाहिये। इन सभी की शिक्षा तथा विवेचन नीति काव्यों में किया गया है, ये नीति काव्य शाश्वत सत्यों को मनोरम वाक्यों द्वारा प्रकट करते हैं। अतः आचार्य मम्मट के अनुसार नीति काव्य 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' का अक्षरशः पालन करते हैं। अतः नीति काव्य की परिभाषा के सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि जो अपने मनोहर, सरल, मार्मिक एवं त्रिकालाबाध अनुभूतियों के द्वारा मानव जीवन को सन्मार्ग पर ले चलने का त्रैकालिक उपदेश दें उन्हें नीति काव्य कहा जा सकता है।

चूँकि नीति शब्द इतना व्यापक और गम्भीर होने के साथ ही साथ अनेक अर्थो को अपने में अन्तर्निहित किये हुये है कि इसको परिभाषित करना एक दुरुह कार्य है। नीति शब्द स्वयं में असीम है, अतः असीम को किसी सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकतो फिर भी सामान्य रीति से नीति को परिभाषित तो नही अपितु व्याख्यायित अवश्य किया जा सकता है, जैसा कि मैंने अपने उपर्युक्त विवेचन में नीति को व्याख्यायित करने का प्रयास किया है।

(II)
नीति काव्य का उद्भव एवं विकास

नीति काव्य की प्राचीनता और उसके उद्भव पर विचार करें तो इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि यह उतना प्राचीन अवश्य है जितनी कि वैदिक संस्कृति, क्योंकि संस्कृत वाङ्गमय में वेदों का अस्तित्व सर्वप्राचीन माना जाता है। इस मत को न केवल भारत में अपितु विश्व के मूर्धन्य विद्वानों द्वारा भी स्वीकार किया गया है। चूँकि वेदों में समस्त ज्ञानों को समाहित किया गया है इसलिये मानव जीवन से सम्बन्धित प्रायः जितने भी क्रिया कलाप हैं वे सभी किसी न किसी रूप में वेदों में उपलब्ध हैं। इस प्रकार वेद शब्द अपने नाम को यथार्थ रूप में सिद्ध करता है। अतः यह कहा जा सकता है कि वेद का अर्थ ज्ञान राशि है। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है–

"स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।।"[1]

यह ज्ञान राशि नाम इसलिये भी उचित प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में जितना भी ज्ञान विज्ञान था उन सबका समावेश वेदों में किया गया है। इस कथन की पुष्टि इससे भी होती है कि वेद में यज्ञ विद्या, अध्यात्म विद्या के साथ भौतिकता सम्बन्धी मानव जीवनोपयोगी लौकिक क्रिया–कलापों को भी समाहित किया गया है। जैसे कृषि विज्ञान, शिल्प विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, कला, गणित, ज्योतिष तथा आयुर्विज्ञान आदि के तत्व भी वेदों में मिलते हैं। अथर्ववेद में यही नीति व्यक्त की गई है कि जुँआ मत खेलो, खेती करो, क्योंकि कृषि से ही समस्त सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। यजुर्वेद की रूद्राष्टाध्यायी में गणित का स्वरूप देखने को मिलता है तथा कृषि सम्बन्धी अनेक अन्नों के नाम भी विद्यमान हैं। आयुर्विज्ञान को तो आयुर्वेद के अन्तर्गत ही माना गया है इस प्रकार उक्त समस्त ज्ञान विज्ञान के साथ ही मानव जीवन को सुसंगठित सुश्रृंखलित बनाये रखनें के लिये कर्तव्य पालन का उपदेश भी समाज के सभी वर्गो के लिये आवश्यक माना गया। अतएव मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से कहा गया है–

"वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।"[2]

यहाँ पर धर्म का अभिप्राय व्यापक रूप से लिया गया है। संकुचित अर्थ में कहीं पर भी वैदिक साहित्य में धर्म का प्रयोग नहीं हुआ है। धर्म का तो अभिप्राय मानव

---

[1] मनुस्मृति– 2/7
[2] मनुस्मृति– 2/6

जीवन के सर्वांगीण उत्कर्ष एवं उन्नति से है। जैसा कि महर्षि कणाद ने वैशोषिक दर्शन सूत्र में कहा है–

"यतो अभ्युदय निःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः"

इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि जिस कार्य के करने से अभ्युदय (ऐहिक) अर्थात् उन्नति निःश्रेयस (आमुष्मिक) अर्थात् परम कल्याण की प्राप्ति हो वही धर्म है। इसी को आधार मानते हुए स्मृति शास्त्रों में आचार को परम धर्म माना गया। नीति का मूल आधार धर्म अर्थात् कर्तव्य पालन ही माना जा सकता है। वेद भी आचार की शुद्धि पर बल देते हैं। वेद में समस्त प्राणियों में समदृष्टि रखने की नीति का स्पष्ट उल्लेख किया गया है मानव–मानव में भेद वेद को अभीष्ट नहीं। जैसा कि–

"मा कश्चिद् विद्विषा वहै"

से स्पष्ट होता है। सामाजिक एकता के लिये यही वैदिक नीति है कि समाज के सभी व्यक्ति परस्पर सहयोग की भावना से कार्य करते रहें, क्योंकि समाज को ही नहीं अपितु परिवार को भी विघट्ति करनें का मूल कारण द्वेष होता है। अतः द्वेष भावना का त्याग करना ही सर्वोत्तम है। इसके साथ ही साथ संवादहीनता भी विघट्न का कारण होती है इससे बचना चाहिये और परस्पर संवाद कायम रखना चाहिये जिससे विद्वेष उत्पन्न न हो। इसी उद्देश्य से वैदिक ऋषियों ने समाज के व्यक्तियों के लिये यही नीतिपरक उपदेश दिया है–

"संगच्छध्वम् संवदध्वम् संवो मनांसि जानताम्"

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत उपनिषदों में भी नीति सम्बन्धी उक्तियाँ देखने को मिलती हैं। ईशोपनिषद में स्पष्ट रूप से यह नीति प्रदर्शित की गई है कि मानव जीवन की उन्नति एवं कल्याण त्याग के बिना सम्भव नहीं, लोभ को छोड़कर त्याग की भावना से ही व्यक्ति तथा समाज का कल्याण सम्भव है। अतएव त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए लोभ का संवरण करना चाहिये–

"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।"[1]

धन नश्वर है यह किसी का नहीं होता यही नीति है। इसके साथ ही यह भी नीति स्पष्ट कर दी गई है। कि मनुष्य को जीवन में कर्तव्य शून्य नहीं होना चाहिए कर्म

---

[1] ईशोपनिषद

करते हुए ही जीने की इच्छा रखनी चाहिये–

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतम् समाः।।"[1]

आदि वाक्य वैदिक कालिक नीति की ओर ही संकेत करते हैं जिनका सम्बन्ध धर्म अर्थात् मानव जीवन के कर्तव्य से ही है। इस प्रकार वैदिक युग से ही समाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिये धर्म अर्थात् कर्तव्य पालन की नीति को स्वीकार किया गया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि नीति संहिता के आचारानुभूत दर्शन का मूल स्रोत वेदों में निहित है। अतः नीति काव्य का उद्भव वेदों से मानने में कोई संदेह नहीं, क्योंकि सूक्ति रूप में नीतियों का उल्लेख वेदों में स्पष्ट रूप से मिलता है। जैसे अथर्ववेद में यह नीति व्यक्त की गई है कि परिवार में सभी व्यक्तियों को परस्पर सक दूसरे को सम्मान देते हुए स्नेहपूर्वक रहना चाहिये तभी परिवार सम्पन्न तथा सुरक्षित रहता है–

"नि तद् दधिषऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे।।"[2]

अर्थात् जिस घर में छोटे और बड़े सब मिलकर प्रेमपूर्वक रहते हैं वह घर अपने बल पर सदा सुरक्षित रहता है। व्यापक रूप में इस नीति का यही अभिप्राय है कि समाज की प्राथमिकता इकाई परिवार होता है और यदि प्राथमिक इकाई का आचार–व्यवहार शुद्ध होता है तो पूरे समाज का हित उसमें सुरक्षित रहता है। जिस प्रकार सुन्दर माला में प्रत्येक गुटिका का महत्व होता है यदि कोई गुटिका टूट जाती है तो माला का स्वरूप विकृत हो जाता है इसी प्रकार परिवार समाज रूपी माला की एक गुटिका के समान है उससे सम्पूर्ण समाज की एकता और सुन्दरता बनी रहती है। वेद मन्त्रों में मानव जीवन को उन्नत बनाने के लिये यही नीति व्यक्त की गई है कि मनुष्य का यही कर्तव्य है कि वह स्वयं तथा समाज के प्रत्येक व्यक्ति को नवीन से नवीनतर और उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर जीवन की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न करता रहे।

"प्रतार्यायुः प्रतरं नवीय।।"[3]

यजुर्वेद में भी यही नीति महत्वपूर्ण मानते हुये कहा है कि मनुष्य का कर्तव्य है कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति का घर उत्तम योग्य पदार्थो से परिपूर्ण रहे यही प्रयत्न करना चाहिये–

"अन्तस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः।।"[4]

---

[1] ईशोपनिषद

[2] अथर्ववेद– 5/2/6

[3] ऋग्वेद– 10/59/1

[4] यजुर्वेद– 3/43

ऋग्वेद में समस्त व्यक्तियों के लिये यह नीति स्पष्ट की गई है कि कोई भी व्यक्ति अपने अच्छे संस्कारों को नष्ट न करे–

"न संस्कृतम् प्रमिमीतः।।"[1]

इस नीति का अभिप्राय है कि अच्छे संस्कारो से ही समाज सुसंस्कृत एवं सुसभ्य होता है, क्योंकि अच्छे संस्कार ही मनुष्य तथा समाज की उन्नति में सहायक होते हैं। संस्कारो की शुद्धता पर विशेष ध्यान वेदों का प्रतिपाद्य रहा इसलिये संस्कारित जीवन को सफलता की कुंजी माना गया। इसी को ऋग्वेद में सभी मनुष्यों के हितार्थ नीति रूप में व्यक्त किया गया है कि समाज का कोई भी व्यक्ति मूर्ख के मार्ग का अनुसरण न करे–

"अचेतानस्य मा पथो विदुक्षः"[2]

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रन्थों में भी उपदेशात्मक नीति वाक्यों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। यद्यपि ये नीति वाक्य कहीं सूक्ति के रूप में तो कहीं श्लोक के रूप में मिलते हैं तथापि इनमें मनुष्य जीवन को श्रेष्ठ बनाने सम्बन्धी नीतियाँ ही कही गई हैं। जैसे ऐतरेय ब्राह्मण में श्रम की महत्ता को ध्यान में रखकर यह सूक्ति कही गई है कि ईश्वर श्रम करने वालो का ही मित्र होता है–

"इन्द्र इच्यर्तः सखा।।"[3]

इस उपदेशात्मक नीति के द्वारा व्यक्ति को लक्ष्य करके श्रम की महत्ता को प्रकट किया गया है क्योंकि परिश्रमशील व्यक्ति और समाज ही परम कल्याण और उन्नति को प्राप्त करनें में समर्थ होता है। आलसी व्यक्ति और अकर्मण्य कभी उन्नति को नही प्राप्त कर सकता। श्रम करने वाला व्यक्ति ही उत्तम फलों का भोक्ता बनता है और एक उन्नत समाज का निर्माण करता है। परवर्ती नीतिकारों के लिये इस नीति को उपजीव्य माना जा सकता है। जिसे आधार मानकर ही नीतिकारों ने अपने नीति काव्यो में उन्हें भिन्न–भिन्न प्रकार से व्यक्त किया है। यथा–

"आलस्यं हि मनुष्याणाम् शरीरस्थो महान रिपुः।।"[4]
एवं
"उद्योगिनं पुरूष सिंहमुपैति लक्ष्मी।।"[5]

---

[1] ऋग्वेद– 5/7/62
[2] ऋग्वेद– 7/4/7
[3] ऐतरेय ब्राह्मण– 33/3
[4] नीतिशतक– श्लोक 86
[5] पंचतन्त्र– मित्रसम्प्राप्ति– श्लोक 135

ऐतरेय ब्राह्मण का

"चरैवेति चरैवेति, चरन वै मधुविन्देत।।"

आदि नीति वाक्य इसी ओर संकेत करते हैं। इसी आदर्श को ईशोपनिषद में भी– 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' मन्त्र द्वारा प्रकट किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनन्तर आरण्यक एवं उपनिषदों में भी नीति वाक्य सूक्ति के रूप में कहे गये है। जैसे बृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया है कि पुत्र ऐसा होना चाहिये कि जिसके सम्बन्ध में बड़े गर्व एवं प्रशंसा के रूप में लोग यह कहें कि यह तो अपने पिता और पितामह से भी आगे निकल गया है–

"तं वा एतमाहुः - अतिपिता बतोभूः , अतिपितमहो बताभूः।।"[1]

अन्य सूक्तियाँ यथा–'सर्वत्र विजयम् इच्छेत पुत्रादिच्छेत् पराजयं' जैसी सूक्ति का आधार उक्त उपनिषदीय सूक्ति को माना जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमें यह कहने में कोई विचिकत्सा नहीं कि नीतिकाव्य का उद्‌भव वैदिक साहित्य से ही मानना उचित है। भारतीय नैतिक चिन्तन परम्परा में ज्ञानराशि वेद को ही समस्त ज्ञान विज्ञानों का मूल माना गया है। व्याकरण, तर्क, ज्योतिष, काव्यशास्त्र, दर्शन आदि सभी के मूल बीज वेदों में ही निहित हैं। इसके आध्यात्मिक चिन्तन का स्वरूप इसीलिये वेदान्त कहा गया है, क्योंकि अध्यात्म का ज्ञान प्राप्त होने के अनन्तर मनुष्य की इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं और वह सांसारिक बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष का अधिकारी हो जाता है, जो कि मानव जीवन का परम लक्ष्य है। इसका प्रतिपादन वेदान्त अर्थात् उपनिषदों में किया गया है। अतएव वेदान्तसार में स्वामी सदानन्द ने स्पष्ट कहा है कि– 'वेदान्तोनाम् उपनिषद् प्रमाणम्'।

इस प्रकार जहाँ वेदों के मूल बिन्दुओं को ग्रहण कर उनका विस्तार करते हुए अनेक ग्रन्थों की रचनायें की गई वहीं वेद को ही आधार मानते हुए सामाजिक हित एवं व्यवहार ज्ञान के लिये नीति काव्यों का भी विकास होता रहा। इस क्रम में वाल्मीकि रामायण की रचना के साथ वैदिक साहित्य और लौकिक साहित्य का विभाजन हो गया और तत्पश्चात् महाभारत, पुराण, स्मृति ग्रन्थ तथा नीति काव्यों के रूप में लौकिक साहित्य की एक अविरल धारा प्रवाहित हो गई। वाल्मीकि रामायण, महाभारत तथा पुराणादि में सर्वत्र नीतिपरक उक्तियाँ देखने को मिलती हैं। महाभारत के अन्तर्गत ही विदुर के सिद्धान्तो को विदुर नीति के नाम से जाना जाता है और यही से नीति से सम्बन्धित स्वतन्त्र काव्यों की रचना मुक्तकों के रूप में प्रारम्भ हुई। ये मुक्तक

---

[1] बृहदारण्यकोपनिषद– 6/4/28

नीतिमुक्तक, उपदेश मुक्तक स्तोत्र मुक्तक और श्रृंगारी मुक्तक के रूप में विभक्त होते गये। स्तोत्र मुक्तकों का आधार वैदिक सूक्त माने जा सकते हैं, पुराण भी इस परम्परा में अग्रगण्य हैं। शतकीय परम्परा के अन्तर्गत बाणभट्ट का चण्डी शतक, मयूर भट्ट का सूर्यशतक आदि प्रसिद्ध है। शंकराचार्य की सौन्दर्य लहरी स्तोत्र मुक्तकों में श्रेष्ठ है। श्रृंगार मुक्तकों के अन्तर्गत अमरूक शतक, बिल्हड़ की चौरपंचाशिका तथा नीति परक मुक्तकों की परम्परा में कौटिल्य की चाणक्य नीति, भर्तृहरि का नीतिशतक तथा विदुर नीति आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त नवरत्नम्, अष्टरत्नम्, सप्तरनम्, षड्रत्नम्, पंचरत्नम्, दृष्टान्तशतक, अन्यापदेशशतक आदि नीति काव्य मुक्तक अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। शतकीय परम्परा के अन्तर्गत लिखे गये नीति परक मुक्तकों का स्थान नीति काव्यों में सर्वश्रेष्ठ माना जा सकता है। नीति काव्यों के विकास के इस क्रम में घटकर्पर का नीतिसार, भवभूति का गुणरत्न, बेतालभट्ट का नीति प्रदीप, कवि भट्ट का पद्य संग्रह, वररूचि का नीतिरत्नम् आदि मुक्तक नीति काव्य परम्परा के अन्तर्गत लिखे गये अनुपम नीति रत्न हैं। जिनका विवेचन हम आगे यथास्थान करने का प्रयास करेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नीति काव्य सम्बन्धी मुक्तकों के विकास की परम्परा अति प्राचीन काल से चली आ रही है। लौकिक काव्य साहित्य के प्रकर्ष काल से लेकर अठारहवीं शताब्दी के पश्चात् काल तक मुक्तक नीति काव्यों की रचना होती रही। इसी परम्परा में अन्योक्तिपरक मुक्तकों में नवीं शताब्दी के आचार्य भल्लट का भल्लटशतक अति प्रसिद्ध ग्रन्थ है। जिसमें नीति परक उपदेश वाध्य न होकर व्यंग्य से परिपूर्ण हैं। वस्तुतः नीति काव्य मानव समाज की आचार भित्ति है और यह उतनी ही पुरानी है जितना कि मानव समाज। यही कारण है कि नीति काव्य के रत्नभूत वाक्य लोगों की जिह्वा पर नर्तन किया करते हैं। नीतिवचनों को सुभाषितरत्नकोश, सुभाषितसुधानिधि, सूक्तिमुक्तावली, सुभाषितावली, सूक्तिवारिधि आदि संग्रह ग्रन्थों में संग्रहीत किया गया है, इस क्रम में सुभाषित रत्नभण्डागार सर्वाधिक प्रसिद्ध संग्रह ग्रन्थ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नीति काव्य अपने उद्भव काल जिसे हम वैदिक काल से मान सकते हैं, से लेकर वर्तमान काल तक पल्लवित पुष्पित होकर अनेक अनेक शाखाओं में विभक्त होकर विकास को प्राप्त हुआ है।

(III)
नीति परक काव्यों की चिन्तन परम्परा

प्राचीन भारतीय नैतिक चिन्तन परम्परा का मूल आधार-

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु या कश्चिद् दुःख भाग्भवेत्।।"

रहा है और इसी को समाज के लिये हितकारी बनानें का प्रयास किया गया। विश्व के हित की कामना में स्वयं के हितों का ध्यान न रखते हुए यही कहा गया-

"न त्वऽहम् कामये राज्यं न स्वर्गम् न पुनर्भवम्।
कामये दुःख तप्तानाम प्राणिनामार्ति नाशनम्।।"

इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्राचीन भारतीय नैतिक चिन्तकों ने चार पुरूषार्थो की व्यवस्था बनायी जिसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के रूप में निर्धारित किया।

वस्तुतः पुरूषार्थ शब्द में अर्थ शब्द संपृक्त है अर्थ का अभिप्राय प्रयोजन भी होता है। अतः हम कह सकते हैं कि पुरूष अर्थात् मानव जीवन का यही प्रयोजन है कि वह प्रयोजनभूत धर्म, अर्थ, कामादि का समुचित रूप से पालन करे, क्योंकि इन चारों का सम्यक रूप से पालन करने पर ही व्यक्ति के साथ ही साथ समाज और देश का कल्याण सम्भव है।

प्राचीन नैतिक चिन्तकों ने चारो पुरूषार्थो में धर्म का प्रमुख स्थान माना क्योंकि उन्होनें धर्म को व्यापक रूप में लिया। उन्होनें धर्म को व्यापक स्वरूप प्रदान करते हुये उसे कर्तव्य के रूप में प्रयुक्त किया। जिसका संकेत हमे वैशेषिक दर्शन के- 'यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः' सूत्र से मिलता है तथा अन्यत्र भी कहा गया है कि **"धर्म ईश्वर अथवा देवी-देवताओं पर विश्वास और उनकी आराधना मात्र नहीं है। धर्म अपने व्यपकतम अर्थ में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों, क्रिया-कलापों, उद्देश्यों और विचारों की समष्टि है।"**[1]

धर्म को इसी अर्थ में ग्रहण करके प्रथम पुरूषार्थ के रूप में इसकी गणना की गई तथा महाभारत में भी इसी अभिप्राय को आधार मानते हुये कहा गया कि-

"न वै राज्यं न राजासीत्, न दण्डो न च दाण्डिकः
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः, रक्षन्तिस्म परस्परम्।।" [2]

---

[1] भारतीय चिन्तन परम्परा- के० दामोदरन- पृष्ठ 29

[2] महाभारत (शान्ति पर्व)- 59/14

यहाँ पर धर्म का अर्थ कर्तव्य से है। अतः अभिप्राय यह होता है कि विधियों तथा कर्तव्यों का समुचित पालन करते हुये प्रजा परस्पर एक दूसरे की रक्षा करे। इस प्रकार धर्म की उत्पत्ति चारो वर्णो के अधिकार और कर्तव्य सम्बन्धी विधियों के रूप में हुई। धर्म अर्थात् कर्तव्य की अधीनता में रहकर सभी वर्णो के लोग अपना काम ठीक ढँग से संचालित करें और समाज की व्यवस्था सम्यक रूपेण निर्बाध गति से चलती रहे यही नीतिकारों का प्राचीन काल से ही उद्देश्य रहा है। इसी क्रम में एक कदम और बढ़ाते हुये कहा कि धर्म अर्थात् कर्तव्यों का पालन करते हुये अर्थ का उपार्जन करना चाहिये, क्योंकि अर्थ के बिना किसी भी पुरूषार्थ की सिद्धि असम्भव है। जब कर्तव्यों का पालन करते हुये परस्पर हित को ध्यान में रखकर अर्थोपार्जन किया जाता है तो मनुष्य की कामनाओं की पूर्ति सरलता से हो जाती है। जैसा कि महाभारत में कहा गया है-

"यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः।।"[1]

मानव जीवन के उत्थान में धर्म को विशेष महत्व देते हुये कौटिल्य ने कहा है-

"मनुष्याणाम् वृत्तिरर्थः।।"[2]

सोमदेव ने भी सब प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला अर्थ को ही माना है-

"यतः सर्व प्रयोजन सिद्धि सोऽर्थः।।"[3]

और यहीं पर कहा है कि धर्म, अर्थ और काम में धर्म का सर्वाधिक महत्व है परन्तु धर्म और काम दोनों का मूल अर्थ ही है-

"धर्मार्थकामानां युगपत्समवाये पूर्वः गरीयान् कालसहत्वे पुनरर्थ एव। धर्मकामयोरर्थमूलत्वात्।।"[4]

इसी अभिप्राय को कौटिल्य ने भी समर्थन देते हुये कहा है-

"अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः ; अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति।।"[5]

अर्थ को महत्व इसलिये दिया गया कि अर्थ के बिना मनुष्य की सम्पूर्ण कामनायें उसी प्रक।।र क्षीण हो जाती हैं जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में छोटी नदियाँ स्वतः सूख जाती हैं, साथ ही साथ धर्म की महत्ता का प्रतिपादन करते हुये सामाजिकों के लिये यह भी

---

1 महाभारत (शान्तिपर्व)-
2 कौटिलीय अर्थशास्त्र- 15/1/1
3 नीतिवाक्यामृतम्
4 नीतिवाक्यामृतम्
5 कौटिलीय अर्थशास्त्र- 1/3/6

नीति कही गई है कि अर्थ का उपार्जन नीतिरहित नहीं होना चाहिये, क्योंकि नीति विहीन उपार्जित धन स्वयं नष्ट होकर उपार्जन कर्ता को भी नष्ट कर देता है। अतः धर्मपूर्वक अर्थ का उपार्जन करना ही नीति है। इस प्रकार नीति शब्द धर्म का पर्यायवाची सा हो जाता है। अतः नीतिपूर्वक अर्थात् धर्म का पालन करते हुये अर्थ का उपार्जन करना ही मनुष्य के लिये सर्वश्रेष्ठ है, अनीत के मार्ग पर चल कर उपार्जित धन मनुष्य के लिए वर्जित है। उक्त दोनो (धर्म एवं अर्थ) के सहयोग से मनुष्य को काम की पूर्ति करना चाहिये। प्राचीन सामाजिक नैतिक चिन्तकों ने काम का अभिप्राय वासना या उपभोग से नहीं लिया है अपितु 'इच्छा' अर्थ लिया है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं भगवान कृष्ण ने कहा है–

"धर्माविरूद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।"[1]

इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुये अन्नमभट्ट ने 'तर्कसंग्रह': में 'कामः इच्छा' कहा है तथा कौटिल्य ने भी काम को महत्व देते हुए यही कहा है कि–

"धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखः स्यात्। समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धम्।
एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति।।"[2]

काम के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुये आदि गुरू शंकराचार्य ने भाष्य में कहा है कि–

'धर्माविरूद्धो धर्मेण शास्त्रर्थेन अविरूद्धो यः प्राणिषु भूतेषु कामो
यथा देहधारणमात्रद्यर्थः अशनपानादिविषयः कामः।।'

इसी अभिप्राय को नीति काव्यकारों ने भी स्वीकार करते हुये काम के वासनात्मक अर्थ की भर्त्सना की है। इस प्रकार नैतिक चिन्तकों का यही उद्देश्य नीति काव्यों में स्पष्ट रूप से झलकता है कि यदि मनुष्य धर्म अर्थात् कर्तव्यों का पालन करते हुये अर्थोपार्जन के द्वारा नैतिक इच्छाओं की पूर्ति करता हैं तो उसे मोक्ष की प्राप्ति सहज हो जाती है।

मोक्ष के सम्बन्ध में नीति वचनों के आधार पर यही विचार बनता है कि मोक्ष परमात्मा में लीन हो जाना नहीं है अपितु सांसारिक विभिन्न नैतिक बन्धनों से प्राप्त होने वाले कष्टों से छुटकारा पा जाना ही मोक्ष है। जैसा कि सांख्य सूत्र में मोक्ष को स्पष्ट करते हुये 'दुःखात्यन्तनिवृत्तिः मोक्षः' कहा गया है।

---

1 श्रीमद्भगवद्गीता– 7/11
2 कौटिलीय अर्थशास्त्र

उपर्युक्त विचार सरणि को ही आधार मानते हुये नीतिपरक काव्यों की चिन्तन परम्परा निरन्तर प्रवाहित होती रही। अतः जब हम भारतीय नैतिक चिन्तन परम्परा पर दृष्टिपात करते हैं तो वैदिक युग से लेकर परवर्ती काल तक यह परम्परा अक्षुण्ण दिखायी पड़ती है, क्योंकि भारतीय मनीषियों ने अपनी नैतिक चिन्तन परम्परा में न केवल भारतवर्ष पर ही विचार किया अपितु समस्त विश्व के मनुष्यो को श्रेष्ठ बनाने के लिये नीति काव्यों की रचना की जिनकी उपयोगिता सार्वजनीक एवं सार्वकालिक है। इसके अन्तर्गत आचार पर विशेष बल दिया गया, क्योंकि व्यक्ति तथा समाज को उन्नत बनाने के लिये आचरण की शुद्धता नितान्त आवश्यक है। इसी आचार शुद्धता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये औषधि के रूप में सरल सर्वग्राह्य नीति वाक्यों का प्रयोग नीतिकारों ने अपने नीति काव्यों में किया, क्योंकि नीति सिद्धान्तों का परिपालन अर्थात् आचरण में उन्हें ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक मानते हुये महाभारत में 'आचारः परमो धर्मः' कहा गया और नीति को स्वयं ब्रह्म का रूप स्वीकार करते हुये गीता में भगवान कृष्ण ने कहा है कि–

"नीतिरस्मि जिगीषताम्"[1]

प्राचीन नीति काव्यकारों ने आचारपूर्ण जीवन के लिये त्याग को प्रमुख स्थान देते हुये ईशोपनिषद में 'तेन व्यक्तेन भुञ्जीथा' कहा है। वस्तुतः यह कथन स्वयं में व्यवहारिकता को संजोये हुये है और नैतिक चिन्तन परम्परा का यही मूलमंत्र है। प्राचीन चिन्तकों ने आत्मोन्नति के लिये उपदेश देते हुये लोभ की निवृत्ति का मार्ग दर्शाते हुये 'भस्मान्तम् शरीरम्' की नीति व्यक्त की।

इस प्रकार प्राचीन नैतिक चिन्तकों ने सूक्ष्म रूप से नीति वाक्यों यथा–'सत्यं वद, धर्मम् चर्, मातृ देवो भव, पितृ देवो भव' आदि सूक्ति वाक्यों को मानव कल्याण के लिये प्रस्तुत किया और यह भी नीति प्रकट की कि समाज के मनुष्यों के लिये यह आवश्यक है कि जो अनिन्दित कर्म हों उन्हीं का सेवन करे। निन्दित कर्मो का सेवन करने से व्यक्ति तथा समाज दोनों का पतन निश्चित है, अर्थात् आचार के महत्व को ही सर्वत्र प्रतिपादित किया। इसी कारण प्राचीन कालिक इस चिन्तन की परम्परा ने लौकिक साहित्य तक आते–आते सर्वाधिक वृद्धि को प्राप्त किया जिन्हें संस्कृत के सभी ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में उद्धृत कर उनके प्रति अपना अनुराग प्रकट किया।

संस्कृत के काव्य साहित्य में नीति विषयक काव्यों तथा अपदेशात्मक काव्यों का

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता– 10/38

मिश्रित रूप देखने को मिलता है, जिसमें प्रधानतया नीतिपरक एवं उपदेशात्मक सूक्तियाँ सम्मिलित हैं। आचार प्रधान होने के कारण नीति परक काव्यों पर धर्म, दर्शन का प्रभाव माना जा सकता है। ये नीतिविषयक काव्य एक नवीन परम्परा और चिन्तन पद्धति की व्याख्या उपस्थित करते हैं। अतएव 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में कहा गया है–

"सामाजिक सद्भाव मैत्री की भावना का निर्माण, धर्म, दर्शन, सदाचार और राजनीति जैसे गम्भीर विषयों का सरल काव्यमयी भाषा में प्रतिपादन करने में इस प्रकार के ग्रन्थकारों ने बहुत ही महत्वपूर्ण विषय को संस्कृत में उतारा है। इन सूक्तिकारों ने सुख दुःख का विवेचन कर जीवन के साथ उसके सम्बन्धों को बडी चुस्ती से घटित किया; जीवन की अभ्युन्नति को दृष्टि में रखकर सन्मार्ग एवं कुमार्ग की भलाई-बुराई का परीक्षण किया; मनुष्यों एवं पशु-पक्षियों को एक दायरे में खड़ा कर उनकी प्रेम भावनाओं को परखा;मानव जगत तथा पशु जगत की सद्वृत्तियों का विश्लेषण कर मैत्रीभाव की आस्था को बलवत्तर बनाया; सीधी चोट करने वाली व्यंग्यात्मक शैली में दैन्य,कार्पण्य, शोषण, असमानता आदि सामाजिक प्रवृत्तियों पर भी समर्थ प्रहार किया। इनमें भाग्य की अवश्यम्भाविता के बावजूद भी पुरूषार्थ को सर्वोपरि स्थान दिया गया;।"[1]

इस प्रकार नीति विषयक चिन्तकों ने उपदेशात्मक नीति काव्यों का निर्माण करके अद्भुत मनोवैज्ञानिक चित्रण उपस्थित किया। चिन्तन की कोई भी परम्परा तभी सफल होती है जब उसे लोक का समर्थन प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि जिस–जिस की ग्राह्यता बढ़ जाती है और लोग उसमें अपने हित के साथ समाज हित के दर्शन करने लगते हैं तो वही परम्परा निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करती जाती है। यही कारण है कि जहाँ अन्य परम्पराओं का विकास हुआ वहीं नीति विषयक काव्यों की चिन्तन परम्परा का भी विस्तार होता रहा और इस चिन्तन को कथाकारों, आख्यायिकाकारों, काव्यकारों तथा रूपककारों ने सफलता के साथ आगे बढ़ाया। सुभाषितों के रूप में इस चिन्तन परम्परा ने अतिशय विकास को प्राप्त किया। चिन्तन की यह परम्परा इतनी ग्राह्य हुई कि बौद्ध, जैन तथा अन्य अध्यात्मिक चिन्तकों ने इसमें अपना अपूर्व योगदान दिया जिसमें बौद्ध साहित्य का धम्मपद विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नीति काव्यों की रचना करने वाले इन मनीषी चिन्तकों ने निस्पृह होकर संसार के कल्याण के निमित्त नीतियाँ कहते हुये स्वयं के अस्तित्व को भी विस्मृत कर दिया। उनके लिये उद्भट सागर में उचित ही कहा गया है–

"धन्याः कवीश्वरास्ते हि रससागरपारगाः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।"[2]

---

[1] संस्कृत साहित्य का इतिहास–वाचस्पति गैरोला– पृष्ठ – 799

[2] उद्भट सागर– 1/115

महाकवि भर्तृहरि ने भी ऐसे मनीषियों के लिये इसी प्रकार के उद्‌गार व्यक्त किये हैं-

"जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।"[1]

यही कारण इस परम्परा को विकसित करने वाले निर्माताओं के नाम, धाम आदि का भी पता नहीं चलता। इनमें से कुछ रचनायें ऐसी हैं जो मौखिक रूप से आज भी जीवित हैं और अधिकांश रूप में संग्रहकारो ने उन्हें संकलित करनें का प्रयास किया है। इस परम्परा में रामायण, महाभारत के पश्चात् शुद्ध रूप से जो नीति काव्य उपलब्ध होता है वह चाणक्य शतक माना जाता है, बौद्धों का धम्मपद भी इसी कोटि मे आता है। मुख्य रूप से भर्तृहरि का नीतिशतक नीति काव्यों की परम्परा में प्रमुख स्थान रखता है। इसके पश्चात् पण्डितराज जगन्नाथ का 'भामिनी-विलास' उच्चतम ग्रन्थ है। इन नीति काव्यों के अतिरिक्त संस्कृत वाङ्गमय के अन्य काव्यों में नीति का संचार हमें स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है जो निरन्तर प्राचीन काल से लेकर अपने परवर्ती काल तक निर्बाध गति से चलता रहा।

इस प्रकार नैतिक चिन्तन काव्यों की परम्परा का विकास उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करता हुआ आज अपने विशाल रूप में उपस्थित है। इस परम्परा के अन्तर्गत संकलित अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। ज्ञात एवं अज्ञात सभी नीतिकारों की अनुभूत नीतियों का संकलन अनेक ग्रन्थों में हमें बहुतायत से मिलता है, जो इन विद्वानों की समाज हितैषी प्रवृत्ति को प्रकट करता है, जिनके प्रकाश से मनुष्य अपने जीवन पथ को सुलभ एव सरल बनाने में समर्थ हो सकता है।

---

[1] नीतिशतक- श्लोक 25

(IV)
नीति काव्यों की व्यवहारिकता एवं सामाजिक उद्बोध

आचार्य भरत ने नाट्य शास्त्र में कहा है कि काव्य लोकोपदेशक, विनोदकारक तथा हितोपदेश जनक होना चाहिये। यद्यपि भरत ने नाट्य के सम्बन्ध में यह बात कही है परन्तु यह सभी प्रकार के काव्यों के लिये अपेक्षित है, क्योंकि यदि काव्य हितोपदेशक नहीं होगा तथा लोकवृत्त को ध्यान में नहीं रखेगा तो वह काव्य सर्वजन ग्राह्य नहीं हो सकेगा। चूँकि काव्य में वर्णित अनुभूतियों और विचारों का लोक अनुकरण करता है इसलिये उसके उद्बोधन में लोक हित सर्वोपरि होना ही चाहिये। मेरे इस कथन का अभिप्राय यह है कि शास्त्र, काव्य, नीति आदि सभी लोक के लिये ही होते हैं और जिनमें वर्णित हितोपदेशक कथनों के द्वारा मनुष्य अपने जीवन पथ को प्रशस्त करने का कार्य करते हैं साथ ही जिन काव्यों में लोक जीवन से सम्बन्धित व्यवहारिकता की प्रधानता रहती है वे सरलता के साथ सर्वजन ग्राह्य हो जाते हैं जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें समाज में देखने को मिलता है। नीति काव्यों की व्यवहारिकता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि अपढ़ व्यक्ति भी काव्योक्त नीतियों का प्रयोग करते हुये देखा जाता है और रामायण आदि की नीतियाँ साधारण लोगों के मुख से भी सुनी जाती हैं। अतः जिन काव्यों में समाजहितोन्मुखी नीतियों का प्रयोग बहुलता के साथ होता है वे नीति काव्य सर्वजनग्राह्य होने के साथ ही साथ अपनी व्यवहारिकता को स्वतः सिद्ध कर देते हैं, इसके लिये उन्हें किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही रहती। जिसके फलस्वरूप अन्य ज्ञानों के साथ ही साथ लौकिक व्यवहार ज्ञान उनमें मुख्य रूप से समाहित रहता है। यही कारण है कि आचार्य मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में काव्य के प्रयोजनों में व्यवहार ज्ञान को प्रमुखता देते हुये 'काव्यम् व्यवहारविदे' कहा है। इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि काव्य रचना के मूल में व्यवहारिकता का ज्ञान अवश्य होना चाहिये। अभिप्राय यह है कि समाज में व्यक्ति के माता-पिता, शिक्षक तथा अन्य सम्बन्धी सदस्यों का अस्तित्व भी होता है और उनके प्रति किये गये व्यवहारों के कारण ही उक्त सम्बन्ध स्थापित होते हैं, क्योंकि कि कोई भी व्यक्ति यर्थाथ रूप में एकाकी व्यक्तिगत जीवन व्यतीत नहीं कर सकता। इसीलिये समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों से किसी न किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य रहता है। अतः नीति का समस्त ज्ञान समाज के तथ्यों पर आधारित रहता है। इसी कारण नीति और समाज का गहरा सम्बन्ध है। प्राचीन काल से लेकर अपने परवर्ती काल तक नीति काव्य किसी न किसी रूप में मानव

व्यवहारों का मूल्यांकन करते रहें है। अतः हम कह सकते हैं कि नीति काव्य मनुष्य के व्यवहार के वाह्य पक्ष को नहीं अपितु आन्तरिक पक्ष को भी उद्घाटित करते हैं।

व्यवहार का प्रयोग अनेक अर्थो में किया गया है। महाभारत के अनुसार इसका अर्थ लेन-देन है, शान्तिपर्व में इसका अर्थ परस्पर उत्पन्न विवादों का निराकरण करना और एक अन्य अर्थ है- किसी विषय को निश्चित करने का साधन। कात्यायन ने इसकी व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करते हुये उपसर्ग 'वि' का प्रयोग बहुत के अर्थ में, 'अब' का संदेह के अर्थ में तथा 'हार' का हटाने के अर्थ में किया है अर्थात् जो बहुत से सन्देहों को दूर करे उसे व्यवहार कहते हैं-

"वि नानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते। नानासन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः।।"[1]

इस प्रकार व्यवहार ज्ञान उसे कहा जा सकता है जिससे मानव जीवन में उत्पन्न अनेक संशयों को दूर किया जा सके। इस दृष्टि से जब हम नीति काव्यों पर विचार करते हैं तो यह परिभाषा सटीक प्रतीत होती है, क्योंकि नीति काव्यकारों ने अपनी उपदेशात्मक नीति परक शैली में मानव जीवन के संदेहों को दूर करने सम्बन्धी व्यवहार ज्ञान को समाहित करने का सफल प्रयास किया है। नीति काव्यों की दूसरी विशेषता यह है कि इनके अध्ययन से अल्प बुद्धि वालों को भी धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति में सहायता मिलती है, क्योंकि ये नीति काव्य मीठी औषधि के समान होते हैं और सीधे मन मानस को प्रभावित करते हैं। अतः अन्य शास्त्रों एवं काव्यों में व्यवहार ज्ञान के सम्बन्ध में जो बतलाया गया है वह केवल परिपक्व बुद्धि वालों को ही प्रभावित करता है परन्तु उससे कही अधिक व्यवहार ज्ञान तो नीति काव्यों से परिपक्व एवं अपरिपक्व बुद्धि वालों को सरलता से हो जाता है, क्योंकि नीति काव्यों में लौकिक जीवन से सम्बन्धित सामाजिक व्यवहारिकता को सर्वत्र ध्यान में रखा गया है। अतः नीति वचनों से परिपूर्ण मुक्तक काव्य मानव मन पर सीधा प्रभाव डालते हैं, इनमें मानव जीवन से सम्बन्धित सहज अनुभूतियों का प्रतिपादन किया गया है। जैसा कि भोला शंकर व्यास ने कहा है-

'मानव के घात प्रतिघातमय कटुजीवन के फफोलों पर मलहम का काम कर यह मुक्तक काव्य ही उन फफोलों की खुजली को,भले ही वह कुछ समय के लिये ही क्यों न हो, शान्त कर देते हैं। चित्त को रमाने की जो अपूर्व क्षमता सफल मुक्तक काव्यों में देखी जाती है वह प्रबन्ध काव्यों नहीं है। ये चमत्कारपूर्ण काव्य हैं एवं इनका एक ही श्लोक चमत्कार करने में समर्थ होता है।'

नीति काव्यों की परम्परा में ही उपदेशात्मक मुक्तको की गणना भी अपेक्षित है,

---

[1] व्यवहारमयूख- पृष्ठ 283 से उद्धृत

जिनमें दिये गये उपदेश मानव जीवन पथ पर आने वाली कठिनाइयों को दूर करने में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उपदेशात्मक काव्य एवं नीति परक मुक्तकों में मानव जीवन से सम्बन्धित अनुभूतियों को चुन-चुन कर एवं व्यवहारिक कसौटी पर कसकर उनका प्रणयन किया गया है, जिनकी एक-एक सूक्ति अमूल्य रत्न के समान है। जैसे विद्वत समाज में यह कथन प्रचलित है कि 'सहसाविदधीत न क्रियामविवेकः परमापदामपदम्।' इस एक कथन ने ही अपराधों को रोककर बहुतों को जीवन दान दिया। इस प्रकार उपदेशात्मक नीति काव्यों में मानव जीवन से सम्बन्धित व्यवहारिकता को स्पष्ट करते हुये अनेक नीति वचनों का कथन किया गया है, जैसे मनुष्य को किस प्रकार इस समाज में अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये, किसके साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिये, मानव जीवन में धन का क्या महत्व है, दैव की प्रबलता आदि अनेक विषयों से सम्बन्धित व्यवहारिक ज्ञान हमें नीति काव्यों में व्यापक रूप से मिलता है। अतएव ये नीति मुक्तक सामाजिक, आध्यात्मिक, मैत्रीभाव, तथा सदाचरण आदि दृष्टि से मानव जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं।

नीति या नय, उचित व्यवहार को कहते है अर्थात न्यायपूर्ण एवं उचित व्यवहार करना, कर्तव्य-अकर्तव्य, उचित-अनुचित का ध्यान जीवन के प्रत्येक मोड़ पर रखना तथा मानव जीवन को मानव जीवन के हितार्थ सदैव अग्रसर बनाये रखने का बोध नीति काव्यों में दिया गया है। मनुष्य परस्पर एक दूसरे के साथ, मित्र के साथ, पिता के साथ, पुत्र के साथ तथा समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ किस प्रकार का आचरण करे, यह व्यवहार ज्ञान नीति काव्यों से ही सम्यक रूपेण होता है। जैसा कि इस सम्बन्ध में सार्थक और परम उपयोगी तथा साथ ही पारिवारिक विघटनों से मुक्त रखने वाली नीति को प्रदर्शित करते हुये कहा गया है-

"लालयेत् पंच वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्।।"[1]

यदि इस नीति का सम्यक रूप से पालन किया जाय तो पारिवारिक विघटन की समस्या नहीं रहती तथा पुत्र भी उच्छृंखल न होकर संस्कारयुक्त होकर अपने कर्तव्यों का पालन करने में तत्पर रहता है। उक्त नीति का समर्थन स्मृतिकारों ने भी करते हुये कहा है कि जब पुत्र समर्थ हो जाय और पिता, पुत्र को भार वहन करने के योग्य समझ ले तो उसे परिवार का भार सौंप देना चाहिये। इससे परिवार के प्रति उसका उत्तरदायित्व बढ़ जाता है, जिसे पूरा करना वह अपना कर्तव्य समझता है तथा परिवार भी विघटित होने से बच जाता है।

---

[1] चाणक्य नीति- 3/18

नीति काव्य केवल सामाजिक नीतियों के परिप्रेक्ष्य में ही व्यवहारिक नहीं हैं अपितु नीति काव्यों में व्यक्तियों के साथ-साथ राजनीतिक दृष्टि से राष्ट्र तथा शासको के लिये भी अत्यन्त व्यवहारिक नीतियाँ कही गई हैं। जैसे चाणक्य ने कहा है कि जिस राज्य का राजा जैसा होता है उसी प्रकार प्रजा भी अनुसरण करने लगती है। राजा यदि धार्मिक होता है तो प्रजा भी धर्म का मार्ग ग्रहण करती है और यदि राजा क्रूर और अन्यायी होता है तो प्रजा भी तदनुरूप ही आचरण करने लगती है। जैसा कहा है-

"राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः।।"[1]

इस प्रकार उक्त कथन से यही अभिप्राय निकलता है कि शासक यदि राष्ट्र को सुशासित एवं सुसंस्कृत बनाना चाहता है तो उसे उपर्युक्त नीति का पालन करना चाहिये, तभी राष्ट्र समृद्ध, सम्पन्न एवं सुरक्षित रह सकता है।

राष्ट्र की गोपनीयता एवं सुरक्षा को बनाये रखने के लिए यह नीति कही गयी है कि यदि राष्ट्र के हित में अल्प कार्य भी हो तो उसे सर्व प्रकार से प्रकाशित नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने पर बाधायें उपस्थित हो सकती हैं। अतः नीति यह कहती है कि राज्य सम्बन्धी गोपनीय नीति अधिकतम चार कानों में ही रहनी चाहिये ज्यादा लोगो पर उसका प्रकाशन राज्य के हित में नहीं होता। जैसा कहा है-

"षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णः स्थिरो भवेत्।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन षट्कर्ण वर्जयेत् सुधीः।।"[2]

व्यवहारिक नीतियों की दृष्टि से पंचतन्त्र नीतियों का भण्डार है। इसकी प्रत्येक नीति परिवार, समाज तथा राष्ट्र सभी के लिये नितान्त उपयोगी है। शासक के लिये यह नीति व्यक्त की गई है कि उसे प्रजापीड़क नहीं होना चाहिये क्योंकि यदि वह प्रजा पीड़न करता है तो प्रजा के सन्ताप से उत्पन्न हुई अग्नि राजा की लक्ष्मी तथा सभी बन्धु बान्धवों सहित सभी को नष्ट किये बिना शान्त नहीं होती-

"प्रजापीडनसन्तापात्समुद्भूतो हुताशनः।
राज्ञः श्रियं कुलं प्राणान्नादग्ध्वा विनिवर्तते।।"[3]

अत्यन्त ही व्यवहारिक नीति सामाजिक प्राणियों के लिये कही गई है कि अकारण ही यदि अधिक आदर किया जाय तो उससे सन्देह उत्पन्न होता है, क्योंकि बिना प्रलोभन

---

1 चाणक्य नीति- 13/7
2 पंचतन्त्र- मित्रभेद- श्लोक 108
3 पंचतंत्र- मित्रभेद- श्लोक 376

और बिना स्वार्थ के कोई किसी में अत्यधिक स्नेह नहीं प्रदर्शित करता। अतः जहाँ पर बिना किसी प्रयोजन के ही अत्यधिक आदर किया जाय वहाँ निश्चय ही सतर्क रहना चाहिये क्योंकि उसका परिणाम अन्तकाल में सुखदायी नहीं होता–

"अत्यादरो भवेद्यत्र कार्यकारणवर्जितः
तत्र शंका प्रकर्तव्या परिणामेऽसुखावहा।।"[1]

भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरूषार्थो को मानव जीवन में परम उपयोगी माना गया है। इन पुरूषार्थो में धर्म और काम का सम्बन्ध अर्थ से है, क्योंकि अर्थ के बिना धर्म अर्थात् कर्तव्य की पूर्ति नहीं हो सकती और न काम अर्थात् इच्छा की। यही कारण है कि लौकिक व्यवहार में अर्थ के महत्व को वाल्मीकि रामायण,महाभारत तथा अन्य नीति परक काव्यों में बहुतायत से नीति वचनों के रूप में व्यक्त किया गया है। इससे अर्थ की उपादेयता मानव जीवन में स्वतः स्पष्ट हो जाती है। अतः मानव जीवन की सुख शान्ति के लिये अर्थ को प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है, जो कि उद्योग और श्रम के बिना सम्भव नहीं। जैसा कहा है–

"उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।।"[2]

इसी नीति को पंचतन्त्र में कुछ इस तरह से भी कहा गया है–

"उद्योगिनं पुरूषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैंवं हि देयमिति का पुरूषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरू पौरूषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्रदोषः।।"[3]

इन नीति वचनों के द्वारा उद्योग और श्रम की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। जीवन को सफल बनानें में वही समर्थ होते हैं, जो उद्यमी और पुरूषार्थी होते हैं, क्योंकि कि जीवन को सफल बनानें के लिये श्रम से प्राप्त लक्ष्मी अर्थात् धन की बहुत आवश्यकता होती है। धन के बिना कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता। धनवान व्यक्ति के ही मित्र–बन्धु होते हैं और अन्य बान्धव–गण भी उसी का सहयोग करते हैं जो धनवान होता है। जैसा कि महाभारत में नीति कही गई है–

---

1 पंचतन्त्र– मित्रभेद– श्लोक 446
2 पचतन्त्र मित्र सम्प्राप्ति– श्लोक 136
3 पचतन्त्र– मित्रसम्प्राप्ति– श्लोक 135

"यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः।।"[1]

महाभारत में ही आगे कहा गया है कि धन से ही धर्म तथा काम अर्थात् इच्छा की भी पूर्ति सम्भव है, यहाँ तक कि स्वर्ग की प्राप्ति, हर्ष तथा शत्रुओं के दमन में भी अर्थ ही सहायक सिद्ध होता है। जैरा कहा है-

"धर्मः कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः।
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिप।।"[2]

इस प्रकार नीति काव्यों में व्यवहारिक जीवन को सफल बनाने के लिये अर्थ की महत्ता को सर्वत्र स्थान दिया गया है। महाभारत में अर्थ के महत्व का प्रतिपादन अनेकों उदाहरणों द्वारा किया गया है। जहाँ कहा गया है कि अर्थहीन होने पर मनुष्यों का बुद्धिबल भी क्षीण हो जाता है और उनको कभी भी किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिलती। उनकी सभी इच्छायें उसी प्रकार निष्फल हो जाती हैं जैसे ग्रीष्म काल में छोटी-छोटी नदियाँ सूख जाती है-

"अर्थेन हि विहीनस्य पुरूषस्यालपमेधसः।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वाग्रीष्मे कुसरितो यथा।"[3]

व्यवहारिक जीवन में धन की उत्कृष्टता को व्यक्त करते हुये नीतिसार में नितान्त सटीक नीति को प्रदर्शित करते हुये कहा गया है कि अर्थ अर्थात् धन के सभी दास होते हैं, अर्थ किसी का दास नहीं होता-

"अर्थस्य पुरूषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित।
इति सत्यं महाराज बद्धोस्मर्थेन कौरवैः।।"[4]

ये सभी नीति वचन नितान्त व्यवहारिक हैं। अर्थ की महत्ता का प्रतिपादन महाकवि शूद्रक रचित 'मृच्छकटिक' प्रकरण में भी स्पष्ट रूप से किया गया है। जिसमें चारुदत्त कहता है कि धन के न रहने पर जो अपने सगे सम्बन्धी और मित्र कहे जाते हैं वे भी साथ छोड़कर चले जाते हैं।

महाकवि भर्तृहरि ने भी धनवान की प्रशंसा और धन के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि धनवान मनुष्य ही इस संसार में सभी गुणों को रखने वाला होता है और उसे ही लोग विद्वान एवं कुलीन मानते है, निर्धनों को नहीं। जैसा कहा है-

---

1 महाभारत - शान्ति पर्व - 6/19
2 महाभारत - शान्ति पर्व - 8/21
3 महाभारत - शान्ति पर्व - 8/18
4 नीतिसार - श्लोक 4

"यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,
स पण्डित स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः,
सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति।।"[1]

नीति काव्यों में अनेक प्रकार से सोदाहरण, अत्यन्त सरल एवं सरस शब्दों में नीति वचन कहे गये हैं जिनसे स्वयं नीति काव्यों की व्यवहारिकता का उद्‌बोध हो जाता है। ये नीति वचन एकदम स्वाभाविक हैं, इसीलिये ये लोगों को आकर्षित करने में अत्यन्त समर्थ हैं। नीति काव्यों में लौकिक जगत से सम्बन्धित एवं अनुभूत उदाहरणों के द्वारा उपदेश देने का सफल प्रयास किया गया है।

चाणक्य ने मनुष्य को सचेत करते हुये कहा है कि दुर्जन व्यक्ति कितना भी विद्वान, पण्डित एवं सुन्दर क्यों न हो फिर भी वह मणिभूषित सर्प के समान भयंकर ही होता है। अतएव दुर्जन एवं प्रियवादी विश्वास के योग्य नहीं होते, क्योंकि इनकी जिह्वा में तो मिठास होती है परन्तु हृदय में विष होता है-

"दुर्ज्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम्।
मधु तिष्ठति जिह्वांग्रे हृदये तु हलाहलम्।।"[2]

चाणक्य ने सर्वकालिक व्यवहारिक एवं सदैव स्मरणीय नीति व्यक्त करते हुये कहा है कि मनुष्य को चाहिये कि लोभी व्यक्ति को धनादि देकर, क्रोधी व्यक्ति के सामने नम्रता के साथ अंजलि बाँधकर उसे प्रसन्न करे, और मूर्ख व्यक्ति की प्रशंसा करके तथा विद्वान ज्ञानी, व्यक्ति से यथा तथ्य कहकर अपने कार्य की सिद्धि करे, अन्यथा वह जीवन में कभी सफल नहीं हो सकता-

"लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् क्रुद्धमञ्जलिकर्मणा।
मूर्खे छन्दोनुवृत्तेन तथा तथ्येन पण्डितम्।।"[3]

चाणक्य ने मनुष्य जीवन को सार्थक बनाने के लिये नितान्त व्यवहारिक नीति व्यक्त करते हुये कहा हैं कि मनुष्य को पहली अवस्था में विद्या ग्रहण करनी चाहिए, द्वितीय अवस्थ में धन और तृतीय अवस्था में पुण्य अर्जित करना चाहिये, क्योंकि यदि जीवन में व्यक्ति ने ऐसा नहीं किया तो चतुर्थ अवस्था अर्थात् वृद्धावस्था में जब मनुष्य की स्थिति 'अंगम् गलितम् पलितम् मुण्डम् दशन् विहीनं जातं तुण्डं' की हो जाती है तो वह क्या कर सकेगा। जैसा चाणक्य ने कहा है-

---

[1] नीतिशतक- श्लोक 42
[2] चाणक्यशतक- श्लोक 24
[3]. चाणक्यशतक- श्लोक 33

"प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नर्जितं धनं।
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति।।"

नीति काव्यों में व्यवहारिक नीतियों के माध्यम से मनुष्य के जीवन स्तर को उन्नत बनानें के लिये सर्वत्र प्रयास देखा जा सकता है। जहाँ कहा गया है कि मनुष्य को गुणवान बनने का सदैव प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि जो व्यक्ति गुणवान नहीं होता वह कितना भी रूपवान क्यों न हो उसका समाज मे उसी प्रकार आदर नहीं होता जिस प्रकार गन्धरहित किंशुक पुष्पों का कोई महत्व नहीं होता। सामाजिक व्यवहारिकता एवं उन्नति को ध्यान में रखकर यही कहा गया है कि पुरुषार्थी व्यक्ति ही जीवन में सफल होता है, ऐसा व्यक्ति कार्य को प्रारम्भ करनें के अनन्तर चाहें जितने विघ्न आयें, वह कार्य को मध्य में नही छोड़ता। इस प्रकार के सात्विक एवं समर्थ व्यक्ति ही कार्य को पूर्ण करके समाज में सम्मान प्राप्त करते हैं। जैसा कि 'हनुमन्नाटक' में कहा गया है–

'क्रिया सिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे'

नीति काव्यकारों ने सर्वत्र लौकिक उदाहरणों के द्वारा अपने नीति वचनों की पुष्टि की है। इस आधार पर कहा है कि मनुष्य को हाथी के समान गम्भीर होना चाहिये उसे श्वान के समान चाटुकार एवं दीन नहीं होना चाहिये, क्योंकि स्वाभिमान ही मनुष्य का सबसे बड़ा धन होता है, जैसा कि महाकवि माघ ने 'शिशुपालवध' में कहा है–

'सदाभिमानैकधना हि मनिनः'

स्वाभिमानी व्यक्तियों की प्रकृति पुष्पों के समान होती है या तो वे स्वाभिमान के साथ जीवन व्यतीत करते हुये समाज में अग्रगण्य रहते हैं अथवा एकाकी जीवन व्यतीत करते हुये अपना जीवन काट देते हैं। जैसे पुष्प या तो देवताओं के शीश पर चढ़ता है या जंगल में सूख जाता है। महाभारत में कहा गया है कि स्वाभिमानी व्यक्ति ही पृथ्वी रूपी लता से सुवर्ण रूपी पुष्पों का संचय करने में समर्थ होते हैं–

"सुवर्णपुष्पां पृथ्वीम् चिन्वन्ति पुरूषास्त्रयः।
शूराश्च कृतविद्याश्च ये च जानन्ति सेवितुम।।"[2]

सामाजिकों के हित की दृष्टि से नीति काव्यों में यही कहा गया है कि मनुष्य का यह कर्तव्य है कि अच्छी एवं हितकारी बातें चाहें जिसके पास हो उनको ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिये। नीतिकारों की यही मान्यता रही है और उन्होनें इसका

---

[1] चाणक्य शतक– श्लोक 93

[2]. महाभारत– उद्योग पर्व– 35/74

पालन भी किया है। जैसा कहा है–

'बालादपि सुभाषितम् ग्राह्यम्

समाज के लोगो उद्‌बोधित करते हुये नीतिकार ने यह निष्कर्ष निकाला है जो व्यक्ति क्षण भर में रूष्ट और क्षण भर में प्रसन्न हो जाता है, ऐसे अव्यवस्थित चित्त वाले व्यक्ति की प्रसन्नता भी भयंकर होती है। अतः ऐसे व्यक्ति से सदैव सावधान रहना चाहिये। जैसा कहा है–

क्षणे रूष्टः क्षणे तुष्टः, रूष्टस्तुष्टः क्षणे-क्षणे
अव्यवस्थितचित्तस्य प्रसादोऽपि भयंकरः।।"[1]

नीतिकार ने समाज को देखकर ही यह निष्कर्ष निकाला है कि अपशब्द कहने पर भी सज्जन व्यक्ति उसी प्रकार कटु वचन नहीं कहतें जिस प्रकार पेरने पर भी ईक्षु दण्ड मधुर रस को ही प्रदान करता है परन्तु नीच व्यक्ति गुणों से परिपूर्ण होने पर भी परिहास में ही ऐसी बात कह देते है जो कलह में भी नहीं कही जाती–

"आक्रोशितोऽपि सुजनो न वदत्यवाच्यं निष्पीडितो मधुरमुद्‌वमतीक्षुदण्डः।
नीचो जनोगुणशतैरपि सेव्यमानो हास्येनतद् वदतियत् कहलेऽप्यवाच्यम्।।"[2]

सामाजिक दृष्टि से ही उद्‌बोधित करते हुये कहा गया है कि दुर्जन का साथ होने पर भी सज्जन व्यक्ति कभी अपनी सज्जनता का त्याग नहीं करते। जैसे जन्म से ही काक (कौआ) के साथ रहने पर भी कोयल मधुर वाणी में ही बोलता है–

"साधुरेव न जहाति साधुतां
दुर्ज्जनेन सह सम्मिलन्नपि।
जन्मतः प्रभृति काकसङ्गतः
पश्य रौति मधुरं हि कोकिलः।।"[3]

सामाजिक व्यक्ति के लिये सन्तोष को महत्वपूर्ण बतलाते हुये कहा गया है कि किसी भी व्यक्ति को पीड़ा न पहुँचाकर और सन्मार्ग का परित्याग न करके जो कुछ भी थोड़ा मिल जाये वही बहुत समझे अर्थात् उसी में सन्तोष रखे–

"अकृत्वा परसन्तापमप्राप्य नीचनम्रताम्।
अनुत्सृज्य सतां मार्ग यत् स्वल्पमपि तद् बहु।।"[4]

---

1 सूक्तिगंगाधर– 2/681

2 सूक्तिगंगाधर– 2/616

3. उद्‌भट सागर– 2/260

4. उद्‌भट सागर– 2/216

देशाटन के महत्व को प्रतिपादित करते हुये कहा गया है कि जो व्यक्ति देश–देशाटन करता है और सुयोग्य विद्वानों से सम्पर्क रखता है, उसकी बुद्धि का विस्तार उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार जल में तैल बिन्दु विस्तार को प्राप्त कर लेता है–

"यो हि भ्रमति देशेषु सेवते च सुपण्डितान्।
तस्य विस्तारिता बुद्धिस्तैलबिन्दुरिवाम्भसि।।"[1]

समाज के व्यक्तियों को आर्थिक रूप से सम्पन्न होनें के लिये उद्बोधित करते हुये नीतिकार ने स्पष्ट किया है कि सम्पत्ति के न रहने पर माता, पिता, पुत्र सेवकादि कोई भी प्रेमपूर्वक व्यवहार नहीं करता, यहाँ तक कि मित्र की धन माँगे जाने की आशंका से बात नहीं करते। इसलिये धनार्जन करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि की सभी स्वार्थ के वशीभूत होकर ही कार्य करते है। जैसा कि घटकर्पर ने नीतिसार में कहा है–

"माता निन्दति नाभिनन्दति पिता भ्राता च सम्भाषते
भृत्यः कुप्यति नानुगच्छति सुतः कान्ता च नालिङ्गते।
अर्थ प्रार्थनशङ्कया न कुरूतेऽप्यालापमात्रं सुहृत्
तस्मादर्थमुपार्जयस्य च सखे स्वार्थस्य सर्वे वशाः।।"[2]

इस प्रकार नीति काव्य मानव जीवन के लिये बहुत ही व्यवहारिक हैं एवं उनके द्वारा मानवों के लिये जो उद्बोध किया गया है अर्थात् वे मानवों को सुमार्ग पर चलने के लिये जिन नीति वचनों के द्वारा उद्बोधित करते हैं वे सभी अत्यन्त श्लाघनीय हैं। नीति काव्यों के अतिरिक्त अन्य काव्यों में भी जो नीतिपरक उपदेश दिये गये है वे भी समाज के लिये अत्यन्त व्यवहारिक हैं एवं समाज के व्यक्तियों को सुमार्ग पर चलने के लिए उद्बोधित करते हैं। यही नीति काव्यों एवं तत्सम्बन्धी काव्यों का वैशिष्ट्य है कि उनका जितनी बार भी अध्ययन किया जाता हैं उनमें सदैव कुछ नवीनता दृष्टिगोचर होती है, जो मनुष्यों को लाभ ही पहुँचाती है। इसी कारण नीति काव्य इतने व्यवहारिक एवं अत्यधिक प्रभावशाली बन गये हैं।

नीति काव्यों के अवलोकन से नवनीत रूप जिस तत्व की प्राप्ति होती है वह अन्य काव्यों की तरह गरिष्ठ न होकर सुपाच्य होता है। नीति काव्य सभी बन्धनों से मुक्त होने के कारण मुक्तक ग्रन्थों के रूप में हमारे सामने आते हैं। शास्त्रीय ग्रन्थकारों ने प्रबन्ध काव्य, रूपक तथा खण्ड काव्य आदि की रचना के सम्बन्ध में जो बन्धन निर्धारित किये हैं उन सभी से ये नीति काव्य मुक्त रहते है। इसी कारण इन्हें मुक्तक की संज्ञा दी गयी है। ये नीति काव्य पारस्परिक अपेक्षा न रखते हुए स्वतन्त्र रूप से अपने एक ही

---

1 उद्भट सागर– 1/129
2 नीतिसार– श्लोक 2

पद्य में जीवन की सारभूत अनुभूतियों को समाविष्ट किये रहते हैं, जैसा कि विवेचित पद्यों से स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अन्य काव्यों में नीति वचनों का प्रयोग यत्र-तत्र कथावस्तु के अन्तर्गत प्रसंगतः कर दिया जाता है और उनमें भी पूर्वापर प्रसंग की अपेक्षा विद्यमान रहती है परन्तु नीतिपरक मुक्तकों में पूर्वापर प्रंसग की कोई आवश्यकता नहीं रहती, इनका एक पद्य ही सैकड़ों पद्यों के समान होता है। महाकाव्यों, रूपको आदि का आधार प्राचीन कथानक होता है जिसे कवि अपनी कल्पना से सुसज्जित करता है, परन्तु नीतिपरक काव्यों में कल्पना का नहीं अपितु यर्थाथ अनुभूतियों का चित्रण होता है, यही इनकी विशेषता है। नीति काव्य का प्रत्येक पद्य स्वयं में सम्पूर्ण होता है उसके लिए किसी प्रकार का सन्दर्भ अथवा प्रसंग की कोई आवश्यकता नहीं होती। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि नीतिकाव्यकारों ने सरल एवं सहज ढँग से समाज के लिए जो भी उपयोगी नीति समझी उसे किसी लौकिक माध्यम से प्रस्तुत कर दिया, जो स्वयं यर्थाथ चित्रण के रूप में सामाजिक हित के लिए नीति काव्यों का रूप लेते चले गये और व्यावहारिकता की दृष्टि से मानव जीवन के अज्ञानावृत पथ को आलोकित करने वाले रत्नदीपों के समान बन गये। रत्नदीपों से हमारा तात्पर्य यह है कि अन्य प्रकार के प्रकाश देने वाले दीपक शान्त भी हो सकते हैं, बुझ भी सकते हैं, परन्तु रत्नदीपों का प्रकाश सदैव उसी प्रकार बना रहता है। अतएव सुभाषित नीति वाक्यो की महत्ता त्रैकालिक व्यवहार ज्ञान को प्रकट करती है। इनमें तीनो कालों की व्यवहारिकता का ज्ञान प्रदान करने की क्षमता है।

*** *** *** *** ***

द्वितीय अध्याय

नीतिपरक काव्यों की विषयवस्तु

(I)

दार्शनिक नीतियाँ

जैसा कि पूर्व कहा गया है कि भारतीय बौद्धिक चिन्तन परम्परा के प्रवाह में वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग उपनिषदों का महत्वपूर्ण योगदान है। इनमें लौकिक भौतिकता से हट्कर जीवन के भविष्य की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। जीवन क्या है? आत्मा क्या है? संसार क्या है? और मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य क्या है? आदि विषयों पर विचार करते हुये परम तत्व तथा परमानन्द की प्राप्ति के उपायों की ओर संकेत किया गया है। इसी पर विचार करते हुये कहा है–

'यो वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखम्'

भूमा सम्बन्ध परमात्मा से है। अतएव कहा गया है–

'तमेव विदित्वा अमृतत्वमेत्'

एक दृष्टि से यह भी नीति वाक्य है और यहीं से भारतीय दर्शनों की प्रारम्भिक चिन्तन अवस्था का पता चलता है। स्वयं दर्शन शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ ही यह सिद्ध करता है कि जिससे लोक तथा परलोक के विषय में ज्ञान प्राप्त किया जाय उसे दर्शन कहते है–

'दृश्यते अनेन जगत इति दर्शनं'

इस अर्थ को लोक और परलोक दोनों से जोड़ा जा सकता है। जैसा कहा है–

"श्रोतव्यं श्रुति वाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं धेयः एते दर्शन हेतवः।।"

परलोक का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से और लोक का सम्बन्ध नीति काव्यों से हैं मेरी दृष्टि में उपनिषदों में प्रतिपादित श्रेय और प्रेय मार्ग उक्त दोनो को प्रकट करते हैं। इन्हे ही ईशोपनिषद में विद्या और अविद्या के नाम से अभिहित किया गया है। कठोपनिषद में कहा गया है कि जो श्रेय को ग्रहण करता है उसका शुभ होता है और जो प्रेय को ग्रहण करता है वह सांसारिक बन्धनों में बँध जाता है। यद्यपि ये दोनो ही मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित करते हैं परन्तु अविद्यावश लोग प्रेय की ओर अधिक आकर्षित हो जाते हैं। वस्तुतः मनुष्य को दोनो मार्गो का संतुलित अवलम्बन करना आवश्यक होता है।

यही कारण है कि ईशोपनिषद में कहा गया है कि जो इन दोनों की एक साथ उपासना करता है वह अविद्या अर्थात् कर्म से मृत्यु को पार करके विद्या से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। इस विचार की व्यापकता को ध्यान में रखकर परवर्ती विचारकों ने विभिन्न प्रकार से नीति काव्यों में उनका समावेश करने का सफल प्रयास किया है। इस सरणि में स्तोत्रात्मक उपदेश मुक्तक, जिनका सम्बन्ध आध्यात्मिकता से अर्थात् श्रेय मार्ग से जोड़ा जा सकता है और शुद्ध उपदेशात्मक नीति काव्य जिनका सम्बन्ध प्रेय मार्ग से अर्थात् सांसारिक कर्तव्यों से जोड़ा जा सकता है।

उक्त विचार को ध्यान में रखते हुये हम सर्वप्रथम स्तोत्रात्मक मुक्तक काव्यों में जिस अध्यात्म सम्बन्धी नीतियों को प्रदर्शित किया गया है। उन पर विचार करने का प्रयास कर रहे हैं।

संस्कृत साहित्य में उपदेशपरक परम्परा अति प्राचीन काल से ही चली आ रही है जिनमें नीतिपूर्ण वाक्यों को अनुभूत आध्यात्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर व्यक्त किया गया है। यद्यपि शुद्ध नीति काव्यों में नीतिकारों ने समाज से सम्बन्धित सभी विषयों को अपना आधार बनाया है परन्तु प्राचीन दार्शनिक चिन्तकों ने मनुष्य के इहलौकिक सुख के साथ ही साथ पारलौकिक सुख की जो कामना की है वह भी अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होती है। इस आधार पर आध्यात्मिकता से सम्बन्धित नीतियों का दिग्दर्शन हमें स्तोत्र काव्यों में देखने को मिलता है। अतः इसके अन्तर्गत आध्यात्मिक नीतिपरक स्तोत्र काव्यों का प्रमुख स्थान माना जा सकता है जिनमें दार्शनिकता के आधार पर मानव जीवन के आध्यात्मिक पक्ष पर ध्यान देते हुये सांसारिक बंधनों से छुट्कारा पाने के लिये उपदेशात्मक नीति वाक्य कहें गये हैं। अतएव स्त्रोत काव्यों में संसार की असारता, भगवत्प्रेम तथा आध्यात्मिक चिन्तन का प्रवाह मिलता है। इनका उद्देश्य यही प्रतीत होता है कि जीवन में सुख शान्ति प्राप्त करने के लिये अन्य सांसारिक क्रिया कलापों के साथ ही आध्यात्मिक ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है।

वस्तुतः स्तोत्र काव्यों का लक्ष्य भौतिकता तथा सम्पन्नता से प्राप्त आनन्द के साथ ही साथ मनुष्य को ज्ञान और भक्ति की ओर अग्रसर करना है। ईशोपनिषद तथा श्रीमद्भगवद्गीता में यही कहा गया है कि मनुष्य को त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुये निष्काम के मार्ग का अनुसरण करते हुये ज्ञान मार्ग पर चलना चाहिये और इन दोनो के सहयोग से भक्ति योग में लीन होकर परमात्मा के सानिध्य को प्राप्त करके परमानन्द और परम शान्ति की प्राप्ति का प्रयास करना चाहिये। इसी उद्देश्य से मानव जीवन को चार भागों– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास में विभक्त कर तीसरे और चौथे भाग

को अध्यात्म चिन्तन के लिये निर्धारित किया गया।

इस प्रकार मानव जीवन से सम्बन्धित सुख–शान्ति प्रदायक जितने भी विषय हो सकते हैं, उन सबका समावेश स्तोत्र काव्यों एवं उपदेशात्मक नीतिपरक मुक्तकों में करने का प्रयास किया गया है। जैसे मानव जीवन के लिये एक सुगम मार्ग को बतलाते हुए भार्तृहरि ने कहा है–

"एको देवः केशवो वा शिवो वा"[1]

इस नीति वाक्य के द्वारा अनेक आध्यात्मिक मार्गो में भटकने वाले व्यक्ति के लिये यह निर्देशित कर दिया गया है कि सब कुछ छोड़कर केवल किसी एक ही देव की उपासना से मनुष्य को जीवन में परम शान्ति मिलती है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि लोग अपनी–अपनी रुचि के अनुसार इष्ट देवों की आराधना करते हैं परन्तु वे सभी एक ही परब्रह्म को प्राप्त होती हैं, जैसे विभिन्न नदियाँ अनेंक मार्गो से प्रवाहित होकर एक ही समुद्र में जाकर समहित हो जाती हैं उसी प्रकार भिन्न–भिन्न इष्ट देवों के माध्यम से की गई उपासनायें उसी एक परम तत्व में जाकर समाहित हो जाती है। जैसा कि शिवमहिम स्तोत्र में कहा गया है–

"त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमिदं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परिमितिमिदः पथ्यमिति च ।
रूचीनां वैचित्र्यात् ऋजुकुटिल नानापथजुषाम् इव
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामरणव ।।"[2]

इस परम्परा में नीलकण्ठ दीक्षित विरचित शान्ति विलास नामक मुक्तक, दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, इसमें कहा गया है कि मनुष्य सांसारिक व्यामोह में पड़कर परमेश्वर को विस्मृत कर देता है और जब अन्तिम अवस्था में सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और शरीर निर्बल होकर कुछ करने के योग्य नहीं रहता तब वह ईश्वर की शरण में जाने का प्रयास करता है और ऐसे व्यक्तियों पर भी ईश्वर दया करता है यह उस परमपिता परमेश्वर की दयालुता ही है। जैसा कहा है–

"निर्मर्यादः परम चपलो निः समाज्ञानराशि,
मार्दृ क्षोऽन्यः क इति भुवने मार्गणीयस्त्वयैव।
ईदृक्षेऽपि कचिदपि दयेयेति कौतूहलं चे-
त्स्वामिन्विश्वेश्वर तव भवं निस्तरेयं तदाहम्।।"[3]

---

[1] नीतिशतक– श्लोक 70
[2] शिवमहिम स्तोत्र
[3] शान्ति विलास –श्लोक 44

इस प्रकार भगवत्कृपालुता को ध्यान में रखकर ही यह नीति उपदेश के रूप में कही गई है कि मनुष्य को ईश्वर का ध्यान सभी अवस्थाओं में तन्मयता के साथ करते रहना चाहिये, क्योंकि अन्त में ईश्वर के ही शरणागत होना पड़ता है।

इसी प्रकार शान्ति विलास में व्यवहारिकता को ध्यान में रखते हुये आध्यात्मिक दृष्टि से उपदेश दिया गया है कि जब मनुष्य के प्राण निकलने लगते हैं तो उस समय कोई भी सहायक नहीं होता, पत्नी, पुत्र, बन्धु-बान्धव, सेवाकादि जो स्वप्न में भी विरह को नहीं सहन कर पाते थे, प्राणहारक यमराज के दूतों के आ जाने पर उनमें से कोई एक भी प्राणी उसका अनुसरण नहीं करता। जैसा कहा है-

"दाराः पुत्रः परमसुहृदो बान्धवाः किंकरा वा,
स्वप्नावस्थास्वपि च विरहं ये मया न क्षमन्ते।
अद्यासन्ने तपनतनायस्याज्ञया दूतवर्गे,
तेष्वेकोऽपि स्मरहर न में गन्तुमन्वस्ति जन्तुः।।"[1]

इस कथन के द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से यह नीति प्रदर्शित की गई है। कि अन्तिम अवस्था में भगवन्नाम के अतिरिक्त और कोई भी सहायक नहीं होता। अतः परिवार आदि के प्रति निष्काम भावना से अपने कर्तव्यों का पालन करते हुये ईश्वर का स्मरण करते रहना चाहिये, उसी से परम कल्याण की प्राप्ति सम्भव है और तभी मनुष्य सांसारिक बन्धनों को तोड़नें में कामयाब हो सकता है।

महाकवि श्री लोष्टक रचित दीनाक्रन्दन स्तोत्र दार्शनिक दृष्टि से उपदेशात्मक नीति वचनों से ओतप्रोत है। जैसे कहा है कि मनुष्य को जीवन पर्यन्त सत्कार्य करते रहना चाहिये, क्योंकि जो सज्जनों के समान अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते वे अन्त काल में स्त्रियों के समान विलाप करते हुये पश्चात्ताप करते रह जाते हैं-

"प्राणाधिकैरथ वियोगमवाप्य तैस्तै-
रिष्टैररूंतुदविषादवशंवदेन।
स्त्रीवन्मया विलपितं विहितं न किंचि-
त्कृत्यं सतां समुचितं हहहा हतोऽस्मि।।"[2]

इसमें दार्शनिक पुट देते हुये यह उपदेशात्मक नीति व्यक्त की गई है कि पारिवारिक बन्धनों में रहते हुये भी मनुष्य को सदाचरण से विरत नहीं रहना चाहिये, क्योंकि मृत्यु के अनन्तर केवल सदाचरण और भगवत्कृपा ही रक्षा करने में समर्थ होते हैं। जो लोग ऐसा नहीं करते हैं वे अन्तिम अवस्था में पश्चात्ताप करते हुए अधोगति को

---

[1] शान्ति विलास- श्लोक 5
[2] दीनाक्रन्दन स्तोत्र- श्लोक 13

प्राप्त होते हैं।

इसी विचार शरणि में आगे भी कहा है कि माता-पिता, बन्धु, मित्र आदि कोई भी परलोक में सहायक नही होते, इसका ध्यान मनुष्य को सदैव रखना चाहिये। इसलिये सत्कर्म की ओर ही मनुष्य प्रवृत्त हो, जो परलोक में भी सुख प्रदान करते है। जैसा कहा है-

"नो यत्र बन्धुरथ नैव पिता न माता
नो वा सुहृद्द्‌दृतिमुपेत्य विधातुमीष्टे।
तास्वेत्य नाथ मम नारकभूषु कुर्या-
स्त्राणं त्वमेव हि जगत्सु, दयार्द्रचेताः।।"[1]

महाकवि क्षेमेन्द्र ने 'दर्पदलनम्' में शान्त चित्त वालों के लिये वैराग्य को सदैव हितकारक बतलाते हुये कहा है कि मनुष्य को व्याकरण, मीमांसा, तर्क तथा नये-नये काव्य उतनी शान्ति प्रदान करने में समर्थ नहीं होते, जितना कि वैराग्य। क्योंकि यदि मनुष्य वैराग्य की ओर उन्मुख होता है तो सांसारिक भौतिकता एवं उनसे उत्पन्न सांसारिक बन्धनों की पकड़ मनुष्य पर ढीली पड़ने लगती है और वह सांसारिक मोह व बन्धनों से मुक्त होने लगता है जो उसे परमात्मा के और करीब ले जाने में सहायक होता है और धीरे-धीरे वह अपने परम लक्ष्य या परम पद को प्राप्त कर लेता है। इसी उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा है-

"दूरे व्याकरणं कुरूष्व विषमं धातुक्षयक्षोभितं
मीमांसा विरसा न शोषयति किं तर्कैरलं कर्कशैः।
न क्षीबः पतति स्मरभ्रमकरैः किं नव्यकाव्यासवै
स्तस्मान्नित्यहिताय शान्तमनसां वैराग्यमारोग्यदम्।।"[2]

आचार्य क्षेमेन्द्र ने संसार की आसारता तथा मानव जीवन की क्षण भंगुरता को ध्यान में रखते हुये कहा है कि मनुष्य को रूप, वय, धन आदि पर कभी गर्व नहीं करना चाहिये, क्योंकि ये सभी काल रुपी भ्रमर के द्वारा कमल पराग के समान सभी का भक्षण कर लेते हैं। काल की गति से ये सभी नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि काल की गति विलक्षण और सभी के लिये होती है। जैसा कहा है-

"रूपं वयः शौर्यमनङ्गभोगं प्रज्ञाप्रभावं विभवं वपुश्च।
अश्नाति कालभ्रमरः समन्तात्पुंसां हि किंजल्कमिवाम्बुजानाम्।।"[3]

---

1 दीनाक्रन्दन स्तोत्र- श्लोक 18
2 दर्पदलनम् 3/53
3 दर्पदलनम्- 4/17

राग और द्वेष की शान्ति के लिये एवं ईश्वर की आराधना के लिये भी मनुष्य को समय निकालना चाहिये, जैसा कि आदि गुरू शंकराचार्य ने कहा है कि हाथी-घोड़ो आदि के साथ प्राप्त राज्य से कोई लाभ नहीं, इसी प्रकार पुत्र-कलत्र, मित्र आदि की प्राप्ति से भी कोई लाभ नहीं, क्योंकि ये सभी क्षणभंगुर हैं और अन्त में सब छूट जायेगें। अतः इनसे दूर रहते हुये आत्म कल्याण के लिये पार्वती वल्लभ की शरण में जाने से ही परम् कल्याण की प्रप्ति सम्भव है। जैसा कहा है-

"किं दानेन धनेन वाजिकरिभिः प्राप्तेन राज्येन किं
किम्बा पुत्रकलत्रमित्रपशुर्देहेन गेहेन किम्।
ज्ञात्वैतत् क्षणभंगुरं सपदि रे व्याज्यं मनोदूरतः,
स्वात्मार्थं गुरूवाक्यतो भज-भज श्रीपार्वतीवल्लभम्।।"[1]

आत्मबोध में भी शंकराचार्य ने कहा है कि अज्ञान को दूर करने के लिये ज्ञान आवश्यक है। मनुष्य इस संसार में अज्ञान के कारण ही ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाता। जब कि ज्ञान प्राप्ति के अनन्तर सभी भ्रमों का निराकरण होकर परम शान्ति की प्राप्ति का स्थान अर्थात् 'ब्रह्म' की प्राप्ति सम्भव हो जाती है और इस परम पद के अतिरिक्त अन्य कोई स्थान शान्ति प्रद नहीं। इसी प्रकार शंकराचार्य के साधनपंचक और यतिपंचक नाम ग्रन्थादि दार्शनिक नीतियों से परिपूर्ण हैं जो मनुष्य को त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये प्रेरित करते हैं।

संसार की असारता, पुत्रादि की स्वार्थपरता को ध्यान में रखकर आदि गुरू शंकराचार्य ने मनुष्यों को उपदेश देते हुये कहा है कि अर्थ (धन) से सुख की प्राप्ति नहीं होती अपितु धनवानों को अपने पुत्रों से भी भय बना रहता है। क्योंकि इस भौतिक संसार में अर्थ विपत्तियों का मूल कारण है, इसलिये धन एवं पुत्रादि का मोह त्यागकर अध्यात्म की ओर अपने चित्त को प्रवृत्त करना चाहिये तभी जीवन का सार प्राप्त होगा, जैसा कहा है-

"अर्थमनर्थं भावय नित्यं,
नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।
पुत्रादपि धनभाजाम्भीतिः,
सर्व्वतैषा कथिता नीतिः।।"[2]

जीवन सम्बन्धी यह नीति है कि जब तक मनुष्य धनोपार्जन करने में समर्थ होता है तब तक उसका परिवार उसमें अनुरक्त रहता है और जब वह वृद्धावस्था के कारण

---

[1] अपराधभंजन स्तोत्र- श्लोक 15
[2] मोहमुद्गर- श्लोक 2

जर्जर शरीर वाला होकर धनोपार्जन में असमर्थ हो जाता है तो उसे घर में पूँछने वाला कोई नहीं होता, यह सांसारिक भौतिक प्रवृत्ति है। अतः इससे बचने के लिये मनुष्य को अध्यात्म की ओर अग्रसर होना चाहिये, क्योंकि अन्तकाल में ये सभी मनुष्य को त्याग देते हैं, केवल भगवत्भजन और अध्यात्म ही सहायक होता है। इसे ही स्पष्ट करते हुये कहा है-

"यावद्वित्तोपार्ज्जनशक्तः,
तावन्निजपरिवारो रक्तः।
तदनु च जरया जर्ज्जरदेहे
वार्त्ता कोपि न पृच्छति गेहे।।"[1]

भर्तृहरि ने भी दार्शनिक दृष्टि से नीति व्यक्त करते हुये कहा है कि इस संसार में आशा रूपी नदी, मनोरथ रूपी जल, तृष्णा रूपी तरंग, राग रूपी ग्राह (घड़ियाल), वितर्क रूपी पक्षी, धर्म रूपी वृक्ष को नष्ट करनें वाली, मोह रूपी भ्रमर और चिन्ता रूपी तट वाली नदी को पार करके विशुद्ध मन वाले योगीश्वर ही परमानन्द को प्राप्त करते हैं। अर्थात् जो इन बन्धनों में न बँधकर अध्यात्म को अपनाते हैं, वे ही सद्गति को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं, जैसा कहा है-

"आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णातरङ्गाकुला,
रागग्राहवती वितर्कविहगा धर्मद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्तसुदुस्तरातिगहना प्रोतुङ्गचिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः।।"[2]

इस नीति के द्वारा यह व्यक्त किया गया हैं कि यह संसार विभिन्न प्रकार के बन्धनों में बाँधने वाला है और मनुष्य अज्ञानवश सांसारिक बन्धनो में बँधकर परमात्म चिन्तन को विस्मृत कर देता है जबकि अन्य कार्यो की अपेक्षा परमात्म चिन्तन नितान्त आवश्यक है, क्योंकि एकमात्र यही मनुष्य के कल्याण का निमित्त है। जो मनुष्य सांसारिक कार्यो में निष्काम भाव रखते हुये आत्म चिन्तन में प्रवृत्त हो जाते हैं वे ही इस भवसागर को पार करने में समर्थ होते हैं।

इस संसार में मनुष्य के लिये यह उपदेश है कि आयु जल की तरंग के समान चंचल है तथा युवावस्था क्षणिक है, धन नश्वर है और क्षणिक प्रकाश देने वाली विद्युत के समान भोग भी क्षणिक हैं, इस प्रकार यह संसार नष्ट हो जाने वाला है। अतः संसार रूपी सागर को पार करने के लिये ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है। जैसा

---

1 मोहमुद्गर- श्लोक 8
2 वैराग्यशतक- श्लोक 11

कहा है-

"आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनीयौवनश्रीर्,
अर्थाः सङ्कल्पकल्पा धनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूगाः।
कण्ठाश्लोषोपगूढं तदपि चन चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतं,
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवभयाम्भोधिपारंतरन्तः।।"[1]

इस प्रकार नीति काव्यों के अध्ययन के अनन्तर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि मानव जीवन में सुख शान्ति एवं समृद्धि अर्थात् उन्नति के मार्ग को प्राप्त करने के लिये नीतिकारों ने त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया है। नीति काव्यों के प्रारम्भिक अवस्था में अध्यात्म पर विशेष बल दिये जाने का यही कारण प्रतीत होता है कि मनुष्य को सर्वप्रथम अपने अन्तःकरण को स्वच्छ बनाने का प्रयत्न करना चाहिये और इसके लिये अध्यात्म सम्बन्धी नीतियों का कथन करके एवं उन्हें दार्शनिक आधार प्रदान करके त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करने का संदेश दिया गया है।

---

[1] वैराग्यशतक- श्लोक 33

(II)
धार्मिक नीतियाँ

अध्यात्म के गर्भ में धर्म निहित रहता है, जो अध्यात्म चिन्तन की ओर प्रवृत्त होगा उसमें कर्तव्यशून्यता नहीं होगी, क्योंकि धर्म का अभिप्राय शुभ कर्मों से है। शुभ कर्मो को निष्काम भाव से करना ही धर्म है। धर्म के लिये किसी वाह्य तत्व की आवश्यकता नहीं होती यह मनुष्य के अन्त:करण की प्रेरणा से उत्पन्न होता है। स्थूल दृष्टि से विचार करने पर नैतिकता और धर्म का कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, क्योंकि धार्मिक हुये बिना भी मनुष्य नैतिक हो सकता है और धार्मिक व्यक्ति भी अनैतिक हो सकता है। इस दृष्टि से ईश्वर में आस्था रखना धार्मिक दृष्टि से भले ही आवश्यक हो परन्तु नैतिक बनने के लिये ईश्वर में आस्था रखना आवश्यक नहीं। जब ईश्वर को ही कर्ता धर्ता और परमोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार कर लिया जायेगा तो मनुष्य की स्वतन्त्रता समाप्त हो जायेगी और मनुष्य के कृत्य अकृत्य का दायित्व ईश्वर पर आ जायेगा। परन्तु मनुष्य स्वकृत कर्मो का फल भोगता है और धर्म उन कृत्यों के आधार पर उन्हें करने न करने का निर्देश देता है। क्योंकि धर्म का यही अभिप्राय है कि जो धारण करने के योग्य हो वही धर्म है। मनु ने तो धर्म के दस लक्षण बताये हैं–

"धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।।"[1]

धर्म को रीतियों से नहीं जोड़ा जाना चाहिये। धर्म तो वही है जिसके धारण करने से मनुष्य को कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान हो। इसी अर्थ को वेदों, उपनिषदों तथा पुराणों में स्वीकार किया गया है। जब तैत्तरीयोषनिषद की शिक्षावल्ली में 'धर्मम् चर्' का उपदेश दिया जाता है तो उसका अभिप्राय यही होता है कि जीवन में अपने कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन करो, वही हितकर है। अतः नीति को धर्म से पृथक नहीं किया जा सकता, क्योंकि किसी भी रीति में तथा ईश्वरादि में श्रद्धा न रखने वाला नास्तिक व्यक्ति भी धार्मिक न होते हुये किसी सिद्धान्त को मानने के कारण धार्मिक अर्थात् कर्त्तव्य का पालन करने वाला होता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि नीति धर्म का व्यवहारिकता रूप है और धर्म नीति का अन्तरंग रूप है। इसी को ध्यान में रखकर विद्वानों ने नीति परक मुक्तकों में धार्मिक एवं नैतिक उपदेश दिये हैं जिनमे धर्म का अभिप्राय कर्तव्य से लिया है अर्थात् कर्तव्य को ही धर्म की संज्ञा प्रदान की है। अतः

---

1 मनुस्मृति– 6/92

जिससे अभ्युदय और परम कल्याण की प्राप्ति हो नीति परक धार्मिक उपदेशों का यही उद्देश्य प्रतीत होता है।

नीतिपरक धार्मिक उपदेशों के अन्तर्गत जब हम स्तोत्र मुक्तकों पर ध्यान देते है तो हम देखते है कि उनमें धार्मिक भावना को विशेष रूप से अपनाया गया है और इस भावना में दिव्य शक्तियों को माध्यम बनाया गया है, क्योकि बिना माध्यम के कोई कथन सार्थक नहीं हो पाता। प्रायः देखा जाता है कि जीवन में प्रत्येक मनुष्य का लगाव किसी दिव्य शक्ति के प्रति अवश्य होता है और वह दिव्य शक्ति ही आस्था और श्रद्धा का केन्द्र बिन्दु होती है। इसका कारण यह है कि निराकार में मन प्रथमतः भटकता रहता है और साकार के माध्यम से मन दृढ़ होता रहता है, सगुणोपासना का यही महत्व है। यही कारण है कि धार्मिक दृष्टि से जीवन को सफल बनाने के लिये एवं परम शान्ति तथा सुख प्राप्ति के लिये कहीं शिव की आराधना, कहीं विष्णु की तो कहीं शक्ति की आराधना करते हुये जीवन को सफल बनानें की नीति व्यक्त की गई है।

धर्म की श्रेष्ठता तथा निश्चलता को व्यक्त करते हुये आचार्य चाणक्य ने कहा है कि इस चराचर जगत में लक्ष्मी, प्राण, यौवन और जीवन में सभी नश्वर है एकमात्र धर्म ही निश्चल है अतः उसी का आश्रय लेना चाहिये–

"चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चलं जीवित यौवनम्।
चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः ।।"[1]

इस कथन के माध्यम से ही यही बतलाया गया है कि मनुष्य इस संसार में जो भी अच्छे कर्तव्यों को करता है वही सत्कार्य स्थायी होते हैं शेष धन यौवनादि नष्ट हो जाते है। इसलिये धर्म का पालन करना ही श्रेष्ठ है।

शंकराचार्य ने मनुष्य के लिये यही कर्तव्य बतलाया है कि मनुष्य को अपने विहित कर्तव्यों के प्रति ही स्नेह रखना चाहिये और परम शक्ति में दृढ भक्ति रखनी चाहिये और सद्विद्या का ग्रहण करते हुये एकाक्षर ब्रह्म स्वरूप 'ॐ' का श्रवण करना चाहिये। इस प्रकार मनुष्य अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए ब्रह्म की उपासनापूर्वक परम सुख को प्राप्त करनें का अधिकारी होता है–

"सङ्गः सत्सु विधीयतां भगवतो भक्तिर्दृढा धीयतां,
शान्त्यादिः परिचीयतां दृढतरं कर्माशु संत्यज्यतां।
सिद्विद्योह्युपसर्प्यतां प्रतिदिनं तत्पदुका सेव्यतां,
ब्रह्मैकाक्षरमर्थ्यतां श्रुतिशिरो वाक्यं समाकर्ण्यतां।।"[2]

---

[1] चाणक्य नीति– 5/20
[2] साधन पंचक– श्लोक 2

धर्म सम्बन्धी स्तोत्र मुक्तकों में रचनाकारों ने न केवल किसी एक आश्रम के लिये नीति व्यक्त की है अपितु अपनी विचार श्रृंखला में सभी आश्रमवासियों को ध्यान में रखा है। जहाँ 'अध्ययनं विद्यार्थीनां परमोधर्मः' कहा है तथा गृहस्थ आश्रमियों के लिये सदाचार तथा दानादि का विवेक किया है वहीं सन्यास आश्रमवासियों के लिये धार्मिक नीतियों का प्रतिपादन किया गया है। यतियों के लिये धार्मिक नीति व्यक्त करते हुये आदि गुरू शंकराचार्य ने कहा है कि यतियों को अपने देहाभिमान का परित्याग करके अपने को स्वयं में देखते हुये ही आनन्द में सन्तुष्ट रहना चाहिये। उन्हें अपनी सभी इन्द्रियों को वश में रखते हुये पवित्र पंचाक्षर मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये तथा भगवान शंकर को हृदय में स्थापित करके किसी एक स्थान में निवास न करते हुये भिक्षा के लिये देशाटन करते रहना चाहिये, यही यतियों का कर्तव्य है और उन्हें इसी नीति का पालन करना चाहिये। जैसा कहा है–

"पञ्चाक्षरं पावनमुच्छरन्तः।
पतिं पशूनां ह्रदि भावयन्तः।
भिक्षाशिनो दिक्षु परिभ्रमन्तः,
कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः।।"[1]

आचार्य चाणक्य ने गृहस्थ आश्रमियों के लिये नीति स्पष्ट करते हुये कहा है कि सभी आश्रमों में गृहस्थ आश्रम श्रेष्ठ है और इस आश्रम को प्रत्येक आश्रमी निम्न प्रकार से सुखी बना सकता है। जैसा कहा है–

"सानन्दं सदनं सुताश्च सुधयः कान्ता प्रियलापिनी,
सुधनं सन्मित्रं स्वयोषिति रतिः स्वाऽऽज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः सङ्गमुपासते च सततं धन्यो गृहस्थाऽऽश्रमः।।"[2]

कुलशेखर कृत 'मुकुन्दमाला' में भगवान कृष्ण को आराध्य मानकर यह उपदेश दिया गया है कि धन, कामोपभोग आदि के विषय में मनुष्य को ध्यान नहीं देना चाहिये। ये सब तो पूर्वजन्म में किये गये कर्मो के अनुरूप मिलते रहते हैं। अतः जन्मजन्मान्तर में भी भगवान मधुसूदन के चरणों में निश्चल भक्ति रखने से संसार के सभी कष्टों से छुटकारा मिलता है। भवसागर दुस्तर है, उसको पार करना अत्यन्त कठिन है, केवल भगवान में दृढ़ भक्ति ही एकमात्र भवसागर से पार करने में समर्थ है। अतः मनुष्य को किसी प्रकार की चिन्ता न करते हुये आलस्य को त्यागकर व्यसनो तथा पापों से दूर करने वाले भगवान नारायण में भक्ति भाव रखना चाहिये, क्योंकि वह सब कुछ करनें में समर्थ

---

[1] यति पंचक– श्लोक 5
[2] चाणक्य नीति– 12/1

हैं, और उन्हीं की कृपा से मनुष्य इस संसार के सभी कष्टों में मुक्ति पा सकता है। जैसा कहा है–

"मा भैर्मन्दमनो विचिन्त्य बहुधा यामीश्चिरं यातना
नैवामी प्रभवन्ति पापरिपवः स्वामी ननु श्रीधरः।
आलस्यं व्ययनीय भाक्तिसुलभं ध्यायस्व नारायणं
लोकस्य व्यसनापनोदनकरो दासस्य किं न क्षमः।।"[1]

अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपनें शरीर, वाणी, मन इन्द्रिय, बुद्धि तथा आत्मा से जो भी कृत्य करे, वे सभी भगवान नारायण को समर्पित कर दे क्योंकि वही उसके योग और क्षेम के रक्षक हैं–

"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैश्च
बुद्धात्मना त्रनुसृतिप्रभावात्।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै
नारायणायैव समर्पयामि।।"[2]

इसी प्रकार महाकवि हलायुध ने 'धर्मविवेक' में कहा है कि कृष्ण की भक्ति करने से तथा उनके पावन चरणों की कृपा होने पर विषम, दुर्गम स्थान में भी किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिये। अभिप्राय यह है कि भगवान के प्रति अटूट श्रद्धा होने पर विपत्ति में भी मनुष्य को चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि ईश्वर उसका प्रत्येक स्थान पर सहायक होता है। जैसा कहा है–

"यदि कृष्णपदे चिन्ता भक्तिस्तत्पदपङ्कजे।
विषमे दुर्गमे वापि का चिन्ता मरणे रणे।।"[3]

'शान्तिशतक' धर्म सम्बन्धी नीतियों का भण्डार है इसमें नीतिपूर्वक धार्मिक भावनाओं को विशेष रूप से अपनाते हुये कर्तव्यों का पालन करने पर विशेष बल दिया गया है। इनमें कहा गया है कि जब तक चेतना रहे तब तक अनन्त अजर –अमर ब्रह्म को प्राप्त करने की इच्छा करते रहना चाहिये, क्योंकि परमात्म शक्ति का बोध होने पर भुवन का अधिपत्य भी क्षणिक अर्थात् नष्ट होने वाला प्रतीत होनें लगता है–

"तस्मादनन्तमजरं परमं विकाशि
तद्ब्रह्मवांछत बुधा यदि चेतनास्ति।
यस्यानुषङ्गतइमे भुवनाधि पत्यभोगदयः
क्षयिणएव सतां विभान्ति।।"[4]

---

1 मुकुन्दमाला– श्लोक 10
2 मुकुन्दमाला– श्लोक 15
3 धर्मविवेक– श्लोक 16
4 शान्तिशतक– 3/24

मनुष्य को निरन्तर धर्मपूर्वक आचरण करते हुये सत्कर्मों का पालन करना चाहिये, क्योंकि किये गये सत्कर्म ही जीवन में सहायक होते हैं और जन्मान्तर में भी इनका फल मिलता है। जैसा कि कर्तव्य का उपदेश देते हुये कहा है कि कोई व्यक्ति चाहें आकाश में उड़े, दिशाओं में छिपे, समुद्र में प्रवेश कर जाये फिर भी जन्मान्तर में अर्जित शुभ और अशुभ कर्म छाया के समान मनुष्य के साथ लगे रहते हैं और उन्हें मनुष्य को भोगना ही पड़ता है। जैसा कहा है-

"आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्तम्
अम्भोनिधिं विशतु तिष्ठत वा यथेष्टं।
जन्मान्तरार्ज्जितशुभाशुभकृन्नराणां
छायेव न त्यजति कर्मफलानुबन्धः।।"[1]

शान्तिशतक में गृहस्थाश्रम को ही तपोवन मानते हुये कहा है कि वन में रहते हुये भी रागी व्यक्तियों को दोष प्रभावित करते हैं परन्तु गृहस्थाश्रम का पालन करते हुये ही जो व्यक्ति इन्द्रिय निग्रह करके अनिन्दित कर्मों की ओर प्रवृत्त होते हैं ऐसे व्यक्तियों के लिये घर ही तपोवन के समान होता है-

"वनेषु दोषाः प्रभवन्ति रागिणां
गृहेषु पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवत्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्।।"[2]

वैराग्य शतक में भर्तृहरि ने कहा है कि मनुष्य का यह कर्तव्य है कि सभी के प्रति समान दृष्टि रखते हुये अपने कर्तव्यों का समुचित पालन करे और किसी पवित्र स्थान में बैठकर शिव का स्मरण करे, क्योंकि शिव का स्मरण करते रहने पर शिवत्व अर्थात् परम कल्याण की प्राप्ति होती है, जो कि मनुष्य का चरम लक्ष्य होता है। जैसा कहा है-

"अहौ वा हारे बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ वा लोष्ट्रे वा कुसुमशयने वा दृशदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित्पुण्येऽरण्ये शिवशिवशिवेति प्रलपतः।।"[3]

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि धर्म को कर्म, भाग्य, दैव आदि से जोड़कर उसका अभिप्राय प्रकट किया गया है। यहाँ पर भवितव्यता को भी धर्म के

---

1 शान्तिशतक- 3/21
2 शान्तिशतक- 2/28
3 वैराग्य शतक- श्लोक 50

अन्तर्गत मान लिया गया है, क्योंकि मनुष्य जिस प्रकार के कर्म करता है तदनुसार ही उसके भावी जीवन का आधार निश्चित होता है अर्थात् सत् और असत् कर्म ही भवितव्यता का निर्माण करते हैं। अतएव जो होने वाला नहीं है वह नहीं होता और जो होने वाला होता है वह बिना प्रयास के ही हो जाता है। दैनन्दिन जीवन में भी हम यही देखते हैं कि प्राप्त हुई वस्तु भी हाथ से दूर चली जाती है और अप्राप्य वस्तु सहसा प्राप्त हो जाती है। यह भवितव्यता अर्थात् पूर्वजन्मकृत कर्मों का ही प्रभाव होता है। जैसा कि पंचतन्त्र में कहा गया है–

"न हि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन।
करतलगतमपि नश्यति यस्य तु भवितव्यता नास्ति।।"[1]

धर्म और कर्म का तादात्म्य सम्बन्ध मोना जा सकता है अर्थात् जो धारण किया जाता है वह धर्म और जो किया जाता है वह कर्म। इस प्रकार धर्म और कर्म दोनों एक साथ रहा करते हैं। धर्म सम्बन्धी यही नीति है कि जो मनुष्य जिस प्रकार का कर्म करता है, उसे वैसा ही फल मिलता है। अतएव मनुष्यों के भ्रम को दूर करते हुये नीति कही गई है कि कर्म अदृष्ट होते हुये भी मनुष्य के साथ छाया की तरह लगे रहते हैं और वे मनुष्य को उसी प्रकार ढूँढ लेते हैं जिस प्रकार हजारों गायों के मध्य बछड़ा अपनी माता को पहचान लेता है और उसी के पास चला जाता है। अतएव कहा है–

"यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पुराकृत कर्म कर्तारमनुगच्छति।।"[2]

धर्म का सम्बन्ध दान से भी है। मनु ने भी धर्म के दस लक्षणों में दान की गणना की है। दान को धर्म के अन्तर्गत इसलिये माना जाता है, क्योंकि इसमें परोपकार एवं परहित की भावना निहित रहती है। यह भावना इसलिये भी आवश्यक मानी गई है कि समाज का कोई भी व्यक्ति भूखादि से पीड़ित न रह सके। अतः दान देना धार्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ मानते हुये कहा गया है कि विवेकशील पुरुषों द्वारा योग्य पात्र, महती श्रद्धा, उचित स्थान तथा उचित समय पर उत्तम दान देना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार के दान से अक्षय फल की प्राप्ति होती है। अतः दानी निर्धन व्यक्ति की भी सेवा करनें में कोई संकोच नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह प्रशंसनीय होता है। जैसा कहा है–

"सत्पात्रे महती श्रद्धा देशे काले यथोचिते।
यद्दीयते विवेकज्ञैस्तदनन्ताय कल्पते।।"[3]

---

[1] पंचतन्त्र– मित्र सम्प्राप्ति– श्लोक 129
[2] पचतन्त्र– मित्रसम्प्राप्ति–श्लोक 130
[3] पंचतन्त्र– मित्रसम्प्राप्ति–श्लोक 79

भाग्य को भी धर्म के साथ जोड़ कर देखा जाता है। अतएव कहा गया है–

'भाग्यं फलति सर्वत्र न हि विद्या न हि बाहुबलम्'

भर्तृहरि ने भी भाग्य को ही प्रधान मानते हुये धार्मिक दृष्टि से कहा है–

"नैवाकृतिः फलति नैव कुलं न शीलं
विद्यापि नैव न च यत्न कृतापि सेवा।
भाग्यानि पूर्वतपसा खलु संचितानि
काले फलन्ति पुरुषस्य यथैव वृक्षा"[1]

भाग्य की प्रबलता को व्यक्त करते हुये महाकवि हलायुध ने 'धर्मविवेक' में कहा है कि जिसका जन्म सूर्यकुल में हुआ, जिसके पिता महारथी सेनानियों में अग्रगण्य थे, पत्नी सीता सत्यपरायणा तथा भाई लक्ष्मण के समक्ष कोई शाक्तिशाली न था और जो स्वयं भगवान विष्णु रूप थे, ऐसे श्रीराम को भी भाग्य के कारण जंगल में भटकना पड़ा तो अन्य लोगों के सम्बन्ध में क्या कहा जा सकता है–

"जातः सूर्य्यकुले पिता दशरथः क्षेणीभुजामग्रणीः
सीता सत्यपरायणा प्रणयिणी यस्यानुजो लक्ष्मणः।
दौर्दण्डेन समो न चास्ति भुवने प्रत्यक्षविष्णुः स्वयं
रामो येन विडम्बितोऽपि विधिना चान्ये परे काकथा।।"[2]

नीलकण्ठ दीक्षित नें धर्म की प्रशंसा करते हुये कहा है कि धर्म का उपार्जन बड़ी कठिनाई से होता है और सुख से उसका विनाश हो जाता है। अतः कष्ट से प्राप्त हुये धर्म की रक्षा के लिये मुनि लोग सुख की इच्छा नहीं करते। जैसा कहा है–

"दुःखेनोपार्ज्यते धर्म्मः सुखेन तु विनाश्यते।
कष्टलब्धमिमं त्रातुं नेच्छन्ति मुनयः सुखम्।।"[3]

धर्म की प्रशंसा करते हुये एवं उसके महत्व का प्रतिपादन करते हुये महाकवि क्षेमेन्द्र नें कहा है कि मानव जीवन अत्यन्त दुर्लभ है और उस पर भी विप्र होना तथा विप्र होने के साथ ही साथ विद्यावान होना और विद्या प्राप्त कर लेने पर अर्थज्ञ होना तथा अर्थज्ञ होने पर सुन्दर वाक्पटुता और लोकज्ञता होना लोकज्ञता के साथ ही समस्त शास्त्रों में वैदुष्य प्राप्त होना ये सभी मनुष्य अर्जित कर सकता है परन्तु धर्म के प्रति लगाव होना बहुत दुर्लभ है। जैसा कहा है–

---

[1] नीतिशतक– श्लोक 97
[2] धर्मविवेक– श्लोक 10
[3] उद्भटसागर– – 2/199

"मानुष्ये सति दुर्लभा परूषता पुंस्त्वे पुनर्विप्रता
विप्रत्वे बहुविद्यता नययुता विद्यावतोऽर्थज्ञता।
अर्थज्ञस्य विचित्रवाक्यपटुता तत्रापि लोकज्ञता
लोकज्ञस्य समस्तशास्त्रविदुषो धर्म्मे मतिर्दुर्लभा।।"[1]

धर्म का महत्व इसलिये भी है कि यह इस लोक तथा परलोक दोनों में कल्याण करनें वाला है, अन्धकार अर्थात् अज्ञानता में धर्म सूर्य के समान प्रकाश अर्थात् ज्ञान को प्रदान करने वाला है। धर्म समस्त आपत्तियों का शमन करने में समर्थ तथा सज्जनों की मूल्यवान निधि है। धर्म ही बन्धु है, मित्र है और संसार रूपी मरूस्थल में कल्पवृक्ष के समान है। इस प्रकार धर्म से श्रेष्ठ और कोई पदार्थ नहीं है। जैसा कहा है-

"धर्म्मः शर्म परत्र चेह च नृणां धर्म्मोऽन्धकारे रविः
सर्वापत्प्रशमक्षमः सुमनसां धर्म्मो निधिर्मूल्यवान्।
धर्म्मो बन्धुरबान्धवे पृथुपथे धर्म्मः सुहृन्निश्चलः
संसारोरूमरूस्थले सुरतरूर्नास्त्येव धर्म्मात् परः।।"[2]

उक्त विवेचन के आधार पर यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि मुक्तक नीति काव्यकारों ने धर्म को भी आधार मानते हुये भौतिकता तथा सांसारिक बन्धनों से निवृत्त होने के लिये तथा जीवन में सुख शान्ति प्राप्ति हेतु नीतियाँ प्रतिपादित की हैं। साथ ही धर्म को संकुचित अर्थ में न लेकर उसके व्यापक अर्थ को ग्रहण किया है। यही कारण है कि धर्म शब्द कहीं कर्म का, कहीं दान का, कहीं भाग्य का और कहीं भवितव्यता का पर्याय बन गया है। विविध देवों की आराधना को भी धर्म का अंग मानते हुये देवों की अर्चना, ध्यान, उपासना आदि को भी सुख शान्ति साधन माना गया है। इस प्रकार नीति मुक्तकों में धर्म को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

---

1 उद्भटसागर- 3/329
2 उद्भटसागर- 3/330

(III)
उपदेशात्मक नीतियाँ

आध्यात्मिक एवं धार्मिक नीतिपरक चिन्तन करने के अनन्तर समस्त प्राणियों के हित की कामना में निरत आचार्यों ने मान-अपमान की चिन्ता न करते हुये विभिन्न रूपों में मनुष्यों को सन्मार्ग पर लाने तथा उनके भावी जीवन को उज्ज्वल बनाने के उद्देश्य से तथा इस लोक के साथ ही साथ परलोक में भी सुख प्राप्ति के लिये उपदेशात्मक नीतियों का भी बहुतायत से कथन किया है। इनके अन्तर्गत उपदेशात्मक नीति मुक्तक लिखे गये, जिन्हें हम दूसरे रूप में स्तोत्र मुक्तक भी कह सकते हैं। यद्यपि नीतिकारों को इस बात का ज्ञान था कि अल्पज्ञ हठी तथा मूर्खों को उपदेश देने से वे शान्त नहीं होते अपितु उनका क्रोध और भी बढ़ जाता है। अतएव पहले ही निश्चय कर लिया कि- 'उपदेशो हि मूर्खाणाम् प्रकोपाय न तु शान्तये' परन्तु नीतिकारों ने भी 'अंगीकृतं सुकृतिना परिपालयन्ति' की नीति का पालन किया और उपदेश देने से विरत नहीं हुये और मनुष्य के हित के लिये उपदेशात्मक स्तोत्र तथा नीति मुक्तकों का प्रणयन किया। जिनमें मनुष्य को शुभ कार्य करने के लिये प्रेरित किया गया और संसार की असारता तथा ब्रह्म की सारता का उपदेश दिया गया जिससे मनुष्य सांसारिक बन्धनों में अपने को लिप्त न कर सके। क्योंकि बन्धनों में लिप्त होने पर दुःख की ही प्राप्ति होती है। जो मनुष्य सांसारिक बन्धनों में लिप्त न होकर निष्काम भाव से अपने कर्तव्यों का पालन करता है वही परम शान्ति को प्राप्त करता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु नीतिकारों ने उपदेश दिया है कि मानव जीवन तथा यह संसार अनित्य है, एकमात्र परमेश्वर ही सत्य है। इस दृश्यमान जगत में जो कुछ भी प्रतीत हो रहा है वह मात्र भ्रम है। जैसे शुक्तिका में रजत का ज्ञान केवल भ्रम ही है। परमात्मा ही एकमात्र सत्य है। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह ब्रह्म को सत्य मानते हुये उसी के निमित्त कार्य करे और अपने किये हुये कर्मों को परमात्मा को ही समर्पित कर दे, क्योंकि यही मानव जीवन का ध्येय है।

वस्तुतः यह संसार स्वप्नतुल्य तथा रागद्वेषादि से परिपूर्ण है। अतएव जब तक मनुष्य अज्ञान से आवृत्त रहता है तब तक उसको यह संसार सत्य प्रतीत होता है और वह ब्रह्म को समझ ही नहीं पाता परन्तु जब अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है तो यह संसार मिथ्या प्रतीत होने लगता है। वैसे भी पन्चीकृत महाभूतों से उत्पन्न संचित कर्मा के फलस्वरूप सुख दुःखों का भोगायतन शरीर कहा जाता है। जैसा कि अन्नम् भट्ट ने शरीर का लक्षण करते हुये कहा है-

"आत्मनो भोगायतनं शरीरम्। यदवच्छिन्न आत्मनि भोगो जायते-
तद्भोगायतनं! सुखदुः खान्यतरसाक्षात्कारो भोगः"।।[1]

जब तक मनुष्य भ्रंमवश या अज्ञानवश अपने को नहीं जान पाता तब तक उसे भय रहता है और ज्ञान होने के अनन्तर 'मै परमात्म स्वरूप हूँ' यह बोध हो जाता है ता वह निर्भय हो जाता है। जैसा कि आत्म बोध में आदि गुरू शंकराचार्य ने कहा है-

"रज्जुसर्पवदात्मानं जीवो ज्ञात्वा भयं वहेत्।
नाहज्जीवः परात्मेतिज्ञानश्चेन्निर्भयो भवेत्।।"[2]
"संसार स्वप्नतुल्योहि रागद्वेषादिसङ्कलः।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधेऽसत्यवद्भेवेत्।।"[3]
"तावत्सत्यं जगद्भाति शुक्तिकारजतं तथा।
यावन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयं।।"[4]

इस प्रकार के उपदेशों के द्वारा विचारकों ने सामाजिक एकता को ही बनाये रखने की नीति का प्रतिपादन किया है, क्योंकि इन उपदेशों के माध्यम से जब मनुष्य जगत को मिथ्या, ब्रह्म को सत्य और स्वयं को ब्रह्म रूप जान लेता है तो वह राग, द्वेष, ईर्ष्या, स्वार्थ आदि से विरत हो जाता है। ऐसा होने पर समाज के सभी व्यक्तियों को परस्पर भय नहीं रहता और वे प्रसन्नचित्त होकर एक दूसरे का सहयोग करने में ही तत्पर रहा करते हैं। यही उपदेश उपनिषदों में भी दिया गया है। वहाँ कहा गया है कि परमात्मा को जानकर ही अमरत्व की प्राप्ति होती है। अमरत्व के द्वारा यही नीति व्यक्त की गई है कि मनुष्य उक्त गुणों से युक्त होने पर पन्च भौतिक शरीर से तो नहीं परन्तु यशः शरीर से अमर हो जाता है। ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मनुष्य समस्त प्राणियों में सवयं को और स्वयं में समस्त प्राणियों को देखने लगता है। ऐसी स्थिति के प्राप्त होने पर सम्पूर्ण जगत आत्ममय प्रतीत होने लगता है और किसी प्रकार के शोक और मोह का स्थान नहीं रह जाता है, क्योंकि शोक और मोह तो द्वैत की भावना में होते हैं। जैसा कि ईशोपनिषद में कहा गया है-

"यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः
तत्र का मोहः कः शाक एकत्वमनुपश्यतः।।"[5]

इस उपदेश के द्वारा विश्व के समस्त प्राणियों में भ्रातत्व की भावना रखने की

---

1 तर्क संग्रह- दीपिका
2 आत्मबोध-श्लोक 26
3 आत्मबोध-श्लोक 6
4 आत्मबोध-श्लोक 7
5 ईशोपनिषद-श्लोक 7

नीति का प्रतिपादन किया गया है।

उपदेशात्मक नीति काव्यों में धम्मपद का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें कहा गया है कि मनुष्य को सुखी होने एवं शान्ति प्राप्ति के लिये धीर, ज्ञानी, शीलवान सत्पुरुष का उसी प्रकार अनुगमन करना चाहिये जैसे चन्द्रमा नक्षत्र पथ का अनुगमन करता है। सत्पुरूषों से तात्पर्य ऐसे लोगो से है जो रागद्वेष के वशीभूत होकर स्वप्न में भी असत् आचरण नहीं करते, असत्य भाषण नहीं करते और किसी का अहित भी नहीं करते तथा अपने ज्ञान से लागों का पथ आलोकित करते रहते हैं। इस प्रकार के व्यक्तियों का ही लोग अनुगमन किया करते हैं। जैसा कि तैत्तरीयोपनिषद में कहा गया है-

"यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकँ-
सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।।"[1]

इस मन्त्र के द्वारा मनुष्य को यही उपदेश दिया गया है कि कर्म निन्द्य और अनिन्द्य दो प्रकार के होते हैं। इनमें लोक प्रसिद्ध अनिन्दित जो शिष्टाचार रूप कर्म हैं उन्हीं का सेवन मनुष्य को करना चाहिये, निन्दित कर्मो का नहीं। इस प्रकार इस उपनिषद की शिक्षा वल्ली में व्यक्ति तथा समाज के हितार्थ उपदेशात्मक नीतियाँ प्रतिपादित की गई हैं।

इसी प्रकार महात्में गौतम बुद्ध ने अनेक प्रकार से धम्मपद में नीति का पुट देते हुये उपदेशात्मक कथन किये हैं, जो समस्त प्रणियों के लिये परम हितकर एवं उपयोगी हैं। यह ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता के समान ही सर्वमान्य है। धम्मपद में जीवन से सम्बन्धित उपदेशों की बहुलता है। इसमें कहा गया है कि साधु अथवा असाधु प्रवृत्तियाँ चित्त के अनुसार ही होती हैं, चित्त ही उनके स्वरूप का निर्णायक होता है। अतः यदि काई प्रसन्नचित्त होकर कुछ बोलता है, कुछ करता है तो सुख उस मनुष्य का उसी प्रकार अनुसरण करता है जिस प्रकार कभीं भी साथ न छोड़ने वाली छाया अनुसरण करती है। जैसा कहा है-

"मनः पूर्वङ्गमा धर्मा मनः श्रेष्ठा मनोमयाः।
मनसा चेत् प्रसन्नेन भाषते वा करोति वा।
ततस्तं सुखमन्वेति छायेवानपायिनी।"[2]

महात्मा बुद्ध के इस उपदेश की स्पष्ट छाया महाकवि कालिदास की इस उक्ति में झलकती है कि-

"सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः ।।"[1]

महात्मा बुद्ध का कथन है कि उत्साह तथा उद्योग ही मनुष्य को सुख प्रदान करने में समर्थ होता है, क्योंकि उत्साहशीलता अमरत्व है और उत्साहहीनता मरण। उत्साही व्यक्ति ही प्रमुदित तथा यशस्वी होते हैं। अतः मनुष्य को प्रमाद का परित्याग करके उत्साह सम्पन्न होना चाहिये। अप्रमाद के कारण ही इन्द्र सभी देवताओं में श्रेष्ठ माने जाते हैं–

"अप्रमादोऽमृतपदं प्रमादो मृत्योः पदम्।
अप्रमत्ता न म्रियते ये प्रमत्ता यथा मृताः।।"[2]
"उत्थानवतः स्मृतिमतः शुचिकर्मणो निशम्य-कारिणः।
संयतस्य च धर्मजीविनोऽपमत्तस्य यशोभिवर्द्धते।।"[3]
"अप्रमादेन मघवा देवानां श्रेष्ठतां गतः।
अप्रमादं प्रशंसन्ति प्रमादो गर्हितः सदा।।"[4]

भर्तृहरि ने भी नीतिशतक में लोगों को यही उपदेश दिया है कि मनुष्य को सदैव प्रमादरहित होकर उन्नति के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। आलस्य को हमेशा के लिये त्याग देना चाहिये, क्योंकि आलस्य मनुष्य के शरीर में रहने वाला गुप्त शत्रु है जो अवनति और दरिद्रता की ओर ले जाता है। अतः आलस्य या प्रमाद को छोंडकर सदैव प्रयत्नशील रहते हुये उद्यम करना चाहिये, क्योंकि उद्यम के समान कोई बन्धु नहीं, अतः उद्यमी व्यक्ति कभी दुःखी नहीं रहता। जैसा कहा है–

"आलस्यं हिं मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यम समो बन्धुः कुर्वाणो नावसीदति।।"[5]

धम्मपद में यह भी उपदेश दिया गया है कि मनुष्य जो भी कार्य करे उसका यह कर्तव्य है कि स्वकृत कार्यों का निरन्तर आलोडन करता रहे और दूसरे व्यक्तियों के द्वारा किये गये कार्यों में दोष न निकाले और न ही उनकी निन्दा करें। क्यों कि इस प्रकार का कार्य ईर्ष्या को ही जन्म देता है जो कि मनुष्य के विकास में बाधक है। अतः मनुष्य को उपदेशित करते हुये कहा है–

"न परेषां विलोमानि न परेषां कृताकृतम।
आत्मन एव अवेक्षेत कृतानि अकृतानि च।"[6]

---

1 अभिज्ञान शाकुन्तलम् - 1/19
2 धम्मपद - अप्पमादवग्ग - श्लोक 1
3 धम्मपद - अप्पमादवग्ग - श्लोक 4
4 धम्मपद- अप्पमादवग्ग - श्लोक 10
5 नीतिशतक - श्लोक 87
6 धम्मपद - पुप्फवग्ग - श्लोक 7

मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह पहले स्वयं को सन्मार्ग पर लगावे और स्वयं सत्कार्यों को करे उसके पश्चात् दूसरों को उपदेश दे यही बुद्धिमत्ता है। इसका कारण यह हे कि मनुष्य का स्वयं पर अधिकार होता है, अतः सर्वप्रथम वह स्वयं को अनुशासित एवं सन्मार्गी बनावे तभी वह दूसरों को उपदेश देने के योग्य हो सकता है अन्यथा उसका सम्मान ही क्षत होता है। जैसा कि धम्मपद में कहा है–

"आत्मानमेव प्रथमं प्रतिरूपे निवेशयेत्।
अथान्यमनुशिष्यात् न क्लिश्येत् पण्डितः।।"[1]

अभिप्राय यह है कि सदाचारी और सज्जन व्यक्ति ही उपदेश देने के योग्य होता है तथा वहीं अन्य मनुष्यों को कुमार्ग से हटाकर सन्मार्ग की ओर चलने के लिए प्रेरित करने में समर्थ होता है परन्तु ऐसा व्यक्ति दुर्जनों को अप्रिय होता है। फिर भी उसे अपने कर्तव्य से पीछे नहीं हट्ना चाहिये और उसका यही कर्तव्य है कि अच्छे कार्य करने में विलम्ब कदापि न करे, क्यों कि पुण्य कार्य में विलम्ब करने से मन पाप कर्मों की ओर अग्रसर हो जाता है। अतः सज्जन मनुष्य का यह कर्तव्य है कि पुनः-पुनः उत्तम कार्यो की ओर प्रवृत्त होता रहे, क्योंकि उत्तम कार्यो को करने से जिस पुण्य का संचय होता है वही सुख को प्रदान करने वाला होता है। जैसा कहा है–

"अभित्त्वरेत कल्याणे पापात् चित्तं निवारयेत्।
तन्द्रितं हि कुर्वतः पुण्यं पापे रमते मनः ।।"[2]

इसी प्रसंग में धम्म पद में यह ही उपदेशात्मक नीति कही गई है कि यदि मनुष्य को उसके समान अनुशासित, सदाचारी, संयमी और पुण्यकर्मा व्यक्ति न मिले तो उसे अकेला ही रहना चाहिये परन्तु मूर्ख से कभी भी मित्रता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि अनुशासनहीन और मूर्ख व्यक्ति से सदैव पीड़ा ही मिलती रहती है उससे सुख की सम्भावना नगण्य रहती है। अतः मनुष्य को ऐसी स्थिति में एकाकी रहना ज्यादा श्रेष्ठ है। जैसा कहा है–

"चरन् चेत् नाधिगच्छेत् श्रेयांसं सदृशं आत्मनः।
एकचर्यो दृढं कुर्यात् नास्ति बाले सहायता।।"[3]

मूर्ख व्यक्ति सज्जनों को सदा पीड़ित करते रहते हैं यदि वे जीवन भर विद्वानों के साथ रहें तो भी उन्हें धर्म का बोध उसी प्रकार नहीं हो सकता जिस प्रकार मीठे में रहने

---

[1] धम्मपद – अत्तवग्ग-श्लोक 2
[2] धम्मपद – पापवग्ग – श्लोक 1
[3] धम्मपद – बालवग्ग-श्लोक 2

वाले चम्मच को मीठे का स्वाद नहीं मिलता। इस प्रकार मूर्ख व्यक्ति अपना शत्रु स्वयं होकर पाप कर्म करता रहता है तथा सज्जनों को सर्वदा कष्ट ही पहुँचाता है। अतः मनुष्य को वही कार्य करना चाहिये जिसको करने के पश्चात् पश्चात्ताप न करना पड़े। भर्तृहरि ने भी यही कहा है कि किसी भी अवस्था में मनुष्य को मूर्खों के साथ सम्पर्क नहीं रखना चाहिये। भले ही सभी साधनों एवं सुविधाओं से युक्त इन्द्र के भवनों के समान प्रासादों में रहने को मिले तो भी वह अच्छा नही, क्योंकि मूर्ख व्यक्ति वहाँ भी अपनी मूर्खता से कष्ट ही देता रहेगा। इसके विपरीत पर्वतों में और घने जंगलों में अकेले रहना श्रेष्ठ है जहाँ मूर्खों से सम्पर्क न रखना पड़े। अतः कहा है–

"वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सहः।
न मूर्ख जन सम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि।"[1]

शाश्वत सत्य उपदेश दिया गया है कि मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह जीवन पर्यन्त अपने से बड़ों को सम्मान दे और उनकी निरन्तर सेवा करता रहे। ऐसा करते रहने पर उसकी आयु, वर्ण, सुख और बल की वृद्धि होती है। यथा–

"अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धापचायिनः।
चत्वारो धर्मा बर्धन्ते आयुर्वर्णः सुख बलम्।।"[2]

मनु ने भी यही उपदेश दिया है–

"अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि संप्रवर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्।।"[3]

अपने सुख के लिये कभी भी किसी को कष्ट नहीं देना चाहिये और न ही उसे प्रताड़ित करना चाहिये। क्योंकि अपने सुख के लिये जो किसी को प्रताड़ित करता है या कष्ट पहुँचाता है तो वह मरकर भी सुख को नहीं प्राप्त करता। जैसा कहा है–

"सुखकामानि भूतानि यो दण्डेन विहिनस्ति।
आत्मनः सुखमन्विष्यन् प्रेत्य स न लभते सुखम्।।"[4]

मनु ने भी यही नीति व्यक्त करते हुये कहा है–

"योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते।।"[5]

---

1 नीतिशतक -श्लोक 15
2 धम्मपद - सहस्सवग्ग-श्लोक 10
3 मनुस्मृति-2/121
4 धम्मपद - दण्डवग्ग-श्लोक 3
5 मनुस्मृति - 5/45

महाकवि अश्वघोष ने 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य में बहुत ही उपदेशात्मक नीति को व्यक्त करते हुये कहा है कि साधारण मनुष्य का यह स्वभाव है कि तृष्णा के प्रति उसका लगाव अवश्य होता है और ऐसा तृष्णावान व्यक्ति धन सम्पत्ति को ही परम सुख का साधन मानता है। इसी प्रकार जो मूर्ख और अल्पज्ञ व्यक्ति होते हैं उनको सांसारिक काम सुखों में ही आनन्द मिलता है किन्तु जो सज्जन व्यक्ति होते हैं वे ज्ञान द्वारा भोग वासनाओं को अपने वश में करके शन्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुये परम कल्याण को प्राप्त करने की कामना करते हैं–

"रमते तृषितो धनश्रिया रमते कामसुखेन बालिशः।
रमते प्रशमेन सज्जनः परिभोगान्परिभूय विद्यया।।"[1]

भर्तृहरि ने मनुष्यों के लिये यही उपदेशात्मक नीति कही है कि लालच बहुत बड़ा रोग है इसे त्याग देना चाहिये। सहनशीलता, सत्यता और विद्वद जनों की सेवा ग्रहण करनी चाहिये तथा सभी के प्रति समदृष्टि रखने और दुःखी व्यक्तियों पर दया करने से ही महानता की प्राप्ति होती है। जैसा कहा है–

"तृष्णां छिन्धि भज क्षमां जहि मदं पाये रतिं मा कृथाः"
सत्यं ब्रूह्यनुयाहि साधुपदवीं सेवस्य विद्वज्जनम्।
मान्यान्मानय विद्विषोऽप्यनुनय प्रख्यापय प्रश्रयं
कीर्तिपालय, दुःखिते कुरू दयामेतत्सतां चेष्टितम्।।"[2]

तृष्णा बड़ी बलवान होती है ज्यों–ज्यों मनुष्य की आयु बढ़ती है अर्थात् वृद्ध होता जाता है त्यों–त्यों तृष्णा युवा होती जाती है और तृष्णा से ही भोग की प्रवृत्ति में वृद्धि होती है। जबकि भोगों से कभी तृप्ति नहीं होती। जिस प्रकार जलती हुई आग में आहुति देने से अग्नि कभी तृप्त नहीं होती अपितु और अधिक प्रज्ज्वलित हो जाती है ठीक उसी प्रकार जैसे–जैसे काम सुखों में प्रवृत्ति बढ़ती जाती है वैसे–वैसे विषय भोगों की इच्छा और बलवती होती जाती है। जैसा कहा है–

"न कामभोगा हि भवन्ति तृप्तये हवींषि दीप्तस्य विभावसोरिव।
यथा यथा कामसुखेषु वर्तते तथा तथेच्छा विषयेषु वर्धते"[3]

उक्त नीति मनुष्यों को सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने हेतु व्यक्त की गई है अर्थात् मनुष्य को अत्यधिक भोगों से विरत रहना चाहिये, क्योंकि भोग ही रोग का कारण

---

1 सौन्दरनन्द 8/25
2 नीतिशतक – श्लोक 79
3 सौन्दरनन्द – 9/43

होता है जिसके कारण शरीर निर्बल हो जाता है और निर्बल मनुष्य कुछ भी करने में समर्थ नही होता। चाणक्य ने ही यही उपदेश दिया है कि जब तक शरीर निरोग है, मृत्यु दूर है, तब तक आत्म कल्याण का उपाय कर लेना चाहिये, क्योंकि मृत्यु के आ जाने पर कोई कुछ नहीं कर सकता–

"यावत्स्वस्थो ह्ययं देहो यावन्मृत्युश्च दूरतः।
तवदात्महितं कुर्यात् प्राणान्ते किं करिष्यति।।"[1]

इस प्रकार सभी नीतिकारों ने तृष्णा को अनर्थ का मूल कहा है तथा शान्ति और सन्तोष को श्रेष्ठ माना है। क्योंकि शान्ति के समान कोई पय नहीं, सन्तोष से बड़ा कोई सुख नहीं, दया से बढ़कर कोई धर्म नहीं और तृष्णा से बढ़कर कोई रोग नहीं। जैसा चाणक्य ने स्पष्ट शब्दों में उपदेशित किया है–

"शान्तितुल्यं तपो नास्ति न सन्तोषात्परं सुखम्।
न तृष्णायाः परो व्याधिर्न च धर्मो दयापरः ।।"[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत साहित्य की मुक्तक परम्परा में नीति को सर्वत्र ध्यान में रखा गया है। स्तोत्र मुक्तकों में धर्म, दर्शन आदि के व्याज से जो उपदेश दिये गये हैं, उनमें नीति का पुट किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान है। इसी प्रकार अन्य नीति परक मुक्तकों में उपदेश के रूप में जो शिक्षायें दी गई हैं वे भी मनुष्य के जीवन के लिए नितान्त आवश्यक हैं। जिनका पालन करने से मनुष्य को जीवन में कभी अशान्ति का अनुभव नहीं करना पड़ता और उनका जीवन निर्विघ्न व्यतीत होता है आपत्तियों का निवारण उपदेशात्मक नीति वाक्यों के ग्रहण करने से स्वतः हो जाता है, यही इन उपदेशात्मक नीति वचनों का वैशिष्ट्य है।

---

1 चाणक्यनीति – 4/4
2 चाणक्यनीति – 8/13

(IV)
सामाजिक नीतियाँ

मनुष्य का अस्तित्व संसार के समस्त प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, क्योंकि मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है। जो अपने को संगठित रखने का प्रयास करता है और इस प्रयास में उसे सफलता भी मिली है। इसीलिये मनुष्यों के संगठन को समाज कहते हैं। यद्यपि पशु भी अपने समूह में ही रहते हैं परन्तु उनका कोई संगठन नहीं होता इसीलिये उनके समूह को समज कहा जाता है। जैसा कि दोनों में भेद स्पष्ट करते हुये अमरकोश में कोशकार ने कहा है–

"पशूनां समजः अन्येषां समाजः"[1]

अर्थात् पशु भिन्न संघ को समाज[2] और पशुओं के संघ को समज कहते हैं। इस परिभाषा के अनुसार मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो समाज से पृथक अपने अस्तित्व को बनाये रखने में समर्थ नहीं हो सकता अथवा हम यह कह सकते हैं कि समाज से पृथक मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं। इस प्रकार समाज व्यक्तियों के योग से बनता है परन्तु वह व्यक्तियों का योगमात्र नहीं होता अपितु उसमें गुणात्मक परिवर्तन होते रहते हैं और इस परिवर्तन के फलस्वरूप व्यक्ति निरन्तर एक दूसरे से प्रभावित होते रहते हैं। इस प्रकार परस्पर क्रिया द्वारा प्रभावी व्यक्तियों का एक विस्तृत संगठन ही समाज कहलाता है क्योंकि संगठन के बिना वह अपने अस्तित्व को स्थिर रखने में समर्थ नहीं हो सकता, उसे पारस्परिक सहयोग की निरन्तर आवश्यकता पड़ती रहती है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य एक दूसरे का पूरक होता है। अतः समाज को सुश्रंखलित और एक सूत्र में पिरोये रखने का प्रयास प्राचीन काल से ही सामाजिक चिन्तकों ने किया है और इन चिन्तकों एवं विचारकों का हमेशा यही ध्येय रहा है कि समाज के लोग को एक सूत्र में पिरोये रखने के लिये तथा सामाजिक जीवन के प्रति उनके व्यवहारों का क्या स्वरूप होना चाहिये इसके लिये यदि कोई विशिष्ट नियम नहीं तो कम से कम सरल एवं सहज उपायों का होना नितान्त आवश्यक है। जिन्हें अपनाकर मनुष्य अपने सामाजिक जीवन को सुख–शान्ति एवं समृद्धिपूर्ण बना सके। शास्त्रों में विधि बनाकर अर्थात् निषेध करके मनुष्यों के लिये नियम निर्धारित किये गये हैं परन्तु नीति काव्यों में बड़े ही सरल शब्दों में मनुष्यों के सामाजिक जीवन को सुचारू रूप से चलाने के लिये उपाय बताये गये हैं।

अमरकोश– 2/5/42

और ये उपाय कठोर न होकर और किसी को उद्वेलित करने वाले भी नही हैं। यदि सहज ढ़ँग से इनका पालन किया जाय तो मनुष्य समाज में कभी असफल नहीं हो सकता। नीति काव्यकारों ने अपनी अनुभूतियों के आधार पर व्यक्ति तथा समाज के लिये अनेकों नीतिपरक वचनों का प्रणयन किया है, जो व्यक्ति तथा समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं और इन्हीं का विस्तृत व्याख्यान सरल एवं मनोग्राह्य रूप में नीतिपरक काव्यों में हुआ है। इन काव्यों में मनुष्य को सामाजिक व्यवहारों के प्रति सचेत एवं सचेष्ट करते हुये नीति वचन कहे गये हैं। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इस कारण उसका सम्बन्ध समाज में माता-पिता, शिक्षक, विद्यार्थी, शासक इत्यादि सभी से रहता है। अतः इस पारस्परिक सम्बन्ध का निर्वाह किस प्रकार किया जाय इसे नीति काव्यों में सामाजिक उपदेशों के द्वारा स्पष्टतया व्यक्त किया गया है। नीति का सम्बन्ध मनुष्य के व्यवहारिक पक्ष से ही नहीं अपितु आंतरिक पक्ष से भी होता है। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह समाज में ऐसी व्यवस्था उत्पन्न करे जिससे सभी लोग शान्ति एवं सुखपूर्वक सहयोग की भावना से जीवन यापन कर सकें और धर्मपूर्वक आचरण करते हुये अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन एक दूसरे के सुख दुःख में सहभागी होकर करे सकें। यही वेदों का भी मत है जिसे-

"सहनाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्य करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।।"

के माध्यम से व्यक्त किया गया है तथा इन्ही विचारों को-

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भाग्भावेत्।।"

के द्वारा भी स्पष्ट किया गया है।

प्राचीन काल की ये विचारधारायें परवर्ती काल में भी स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होती रहीं। चूँकि साहित्य समाज का दर्पण होता है उसमें स्पष्ट रूप से समाज का प्रतिबिम्बन होता है। अतः यही प्रतिबिम्ब, हमें नीति काव्यों में स्पष्ट रूप से झलकता है। उपदेशात्मक नीति काव्यों में समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये यही उपदेश दिया गया है कि मनुष्य पूर्ण स्वतन्त्र नहीं, मन और आत्मा ही सर्वोच्च है। अतः आत्मज्ञान के लिये मन को अपने अधीन रखना चाहिए, इसके लिये ही नीति काव्यों का सृजन किया गया। जिनमें प्रतिपादित सिद्धान्तों का दैविक जीवन में और सामाजिक सम्बन्धों में पालन करने से ही सुख और शान्ति की प्राप्ति सम्भव है। जीवन सम्बन्धी इन्हीं नियमों का सरल रूप में व्याख्यान नीति काव्यों में मिलता है। समाज को नियन्त्रित एवं मर्यादित रखने में नीति

ही समर्थ हो सकती है, क्योंकि नीति में इतनी सामर्थ्य और शक्ति है कि उसके सामने अनीति स्थिर ही नहीं रह सकती। यही कारण है कि सामाजिक हित से सम्बन्धित नीतियों को ध्यान में रखकर ही शास्त्रों, काव्यों, रूपकों तथा स्वतन्त्र नीति काव्यों में उदाहरण दिये गये हैं। जैसे अर्थ जीवन के लिये आवश्यक है जिसका संचय करना कोई अपराध नहीं परन्तु सम्पत्ति का संचय करनें के प्रयत्नों से यदि किसी को नैतिक रूप से हानि हो तो उसका धन संच करना नैतिक अपराध की श्रेणी में गिना जायेगा। अतः नीति यही कहती है कि व्यक्ति का उद्देश्य वैयक्तिक लाभ न होकर समाज सेवा होना चाहिये। 'मालतीमाधव' में भवभूति नें इसी पक्ष को व्यक्त करते हुये कहा है कि दर्शन का ज्ञान इसलिये अच्छा माना जाता है कि उससे सत्य का निश्चय होता है अतः सम्पत्ति की इच्छा भी इसलिये की जानी चाहिये कि उससे सामाजिक कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को पूर्ण करने में सहायता मिलती है न कि व्यक्तिगत लाभ के उद्देश्य से उसका संचय करना चाहिये, जैसा कहा है–

"ते श्रोत्रियास्तत्वविनिश्चयाय भूरि श्रुतं शाश्वतमाद्रियन्ते।
इष्टाय पूर्ताय च कर्मणेऽर्थान्दारानपत्याय तपोर्थमायुः।।"[1]

कालिदास ने भी रघुवंश में आदर्शात्मक नीति को व्यक्त करते हुये कहा है कि सम्पत्ति का संचय दान करने के लिये और मितभाषण सत्य के लिये तथा यश के लिये विजय की अभिलाषा करनी चाहिये। जैसा कहा है–

"त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मिभाषिणाम्।
यशशे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्।।"[2]

अभिप्राय यह है कि धन का संचय भोग विलास के लिये अर्थात् केवल अपने सुख साधनों के लिये नहीं करना चाहिये इसे सामाजिक दृष्टि से नैतिक अपराध माना गया है, क्योंकि धन की दान, भोग और नाश यही तीन गतियाँ होती है। उत्तम यह है कि धन को दान के रूप में सुपात्रों में वितरित किया जाय और उसका उपभोग सत्कार्यो में किया जाय, क्योंकि इन दोनों के अतिरिक्त संग्रहीत धन का केवल विनाश ही होता है वह धन किसी के काम नही आता जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है–

"दानं भोगोनाशस्तिस्त्रे गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।।"[3]

उक्त नीति सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुये प्रत्येक व्यक्ति पर लागू होती है। नीति वक्ता का अभिप्राय यही है कि यदि धन का संचय किसी व्यक्ति के द्वारा किया

---

[1] मालती माधव– 1/5
[2]. रघुवश– 1/7
[3] नीतिशतक– श्लोक 44

गया है तो वह धनी व्यक्ति दीन दुःखियों और भूखादि से पीड़ित व्यक्तियों के लिये उसका उपयोग करे जिससे समाज का कोई व्यक्ति दुःखी न रह सके, यही सद्धर्म है। क्योंकि नीतिकारों तथा सामाजिक नियम निर्माताओं ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि धर्म और अधर्म अपने को स्वयं नहीं कहते केवल विवकेशील निर्णय के आधार पर उनमें अन्तर स्पष्ट किया जाता है आँख बन्द करके किसी परम्परा को स्वीकार कर लेना धर्म नहीं, जो विवेक की कसौटी पर खरा उतरे वही धर्म है इसके अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं। जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है–

"आर्ष धर्मोपदेशं च वेदशास्त्रविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतरः।।"[1]

भर्तृहरि ने समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये यही नीति कही है कि मनुष्य को कितना ही कष्ट क्यों न उठाना पड़े परन्तु उसे न्यायमार्ग से कभी विचलित नहीं होना चाहिये चाहें लोग उसकी निन्दा करें अथवा प्रशंसा करें, सम्पत्ति मिले या न मिले, मृत्यु अभी हो अथवा चिरकाल के पश्चात् हो, इस धारण को मन में धारण करके न्याय के पथ पर सदा अग्रसर रहना चाहिये, क्योंकि जो नीति मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है उसका समाज में कोई सम्मान नहीं रहता। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह उक्त नीतियों का पालन अपने जीवन को सफल बनानें के लिये तथा समाज में अपने सम्मान को बनाये रखनें के लिये हमेशा करता रहे। इसी को स्पष्ट करते हुये कहा है–

"निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।"[2]

चाणक्य ने भी सामाजिक कर्तव्यों को ध्यान में रखते हुये यही कहा है कि अपने सामाजिक कर्तव्यों का परित्याग करके पूजा और अर्चना में ही समय को व्यतीत करना समाज के हित में नहीं। मनुष्य को यह समझना चाहिये कि देवता भाव में ही रहते हैं काष्ठ, पाषाण या मिट्टी की मूर्तियों में नहीं। अतः नीति का अभिप्राय यह है कि व्यर्थ में समय और धन का अपव्यय न करते हुये काष्ठ और पत्थर की मूर्तियों में भगवान को ढूँढने की अपेक्षा दीन–दुःखियों में ढूँढना चाहिये, वही साक्षात् भगवान की मूर्ति हैं, उनकी सेवा करना ही भगवान की आराधना करने के समान है। जैसा कहा है–

---

1 मनुस्मृति – 12/6
2 नीतिशतक – श्लोक 85

"न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृन्मये।
भावे हि विद्यते देवस्तस्माद् भावो हि कारणम्।।"[1]

भगवान ने मनुष्य को इस लोक में कर्म करने के लिये ही उत्पन्न किया है, इसीलिये कर्म की महत्ता को सर्वत्र प्रतिपादित किया गया है। वेद भी यही कहता है–

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः'

गीता में भी कर्म के महत्व को प्रतिपादित किया गया है। इसीलिये 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' कहकर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि कर्म करने पर ही मनुष्य का अधिकार होता है उससे जनित फल पर नहीं। इसीलिये गीता में निष्काम भाव से कर्म करने की शिक्षा दी गई है। गीता में यही नीति बतलाते हुये श्रीकृष्ण भगवान ने अर्जुन से कहा कि जिस कर्म को करने का जो अधिकारी है उसे उस नियत कर्म का पालन करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिये क्योंकि, कर्मो को न करने अर्थात् उनसे पलायन करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है। जैसा कहा है–

"नियतं कुरू कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।"[2]

मेरी दृष्टि में इसका अभिप्राय यही है कि शास्त्रों में मनुष्यों के लिये जो कर्तव्य नियत किये गये हैं उनका पालन करना समाज के हित में है, उनका पालन न करने पर समाज का अहित ही होगा। हम अपने शरीर में ही देखते हैं कि प्रत्येक अंग का कर्त्तव्य नियत है–आँख का काम देखना, कान का काम सुनना, पैर का काम चलना इत्यादि, ये सभी कार्य नियत हैं। यदि अंग अपने कर्तव्यों का पालन करना त्याग दें तो शरीर यात्रा असम्भव हो जायेगी, ठीक यही नियम समाज के लिये भी लागू होता है। इसके लिये जीवन में संयम भी नितांत आवश्यक है और संयम के लिये त्याग आवश्यक है, क्योंकि त्याग के बिना लोभ का संवरण सम्भव नहीं। विशेष रूप से धन के प्रति अत्यधिक लोभ नहीं करना चाहिये, क्योंकि धन किसी का नहीं होता, लक्ष्मी तो चंचल है। अतः अपने तथा दूसरों के भी धन के प्रति कभी लोभ नहीं करना चाहिये, क्योंकि धन सभी के उपयोग के लिये होता है किसी एक व्यक्ति विशेष के लिये नहीं, मनुष्य उसका व्यवस्थापक है, उसे उसको परोपकार में व्यय करना चाहिये, उससे जो बच जाय उसका

---

1 चाणक्यनीति– 8/12
2 श्रीमद्भगवद्गीता– 3/8

कहा गया है–

"ईशावास्यमिदं सर्व यत् किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन व्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद धनम्।।"[1]

भारवि ने भी लक्ष्मी की चंचलता को व्यक्त करते हुये इसी नीति का समर्थन करते हुये कहा है–

"अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थास्नु यशश्चिचीषतः।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम्।।"[2]

मनुष्य की इच्छायें बड़ी बलवती होती हैं एक के अनन्तर दूसरी और दूसरी के अनन्तर तीसरी इसी प्रकार इच्छाओं का निरन्तर क्रम चलता रहता है। अतः महाभारत में मनुष्य की इच्छाओं के सम्बन्ध में नीति प्रतिपादित की गई है कि मनुष्य को अपनी इच्छाओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिये, क्योंकि इच्छायें उपभोग से शान्त नहीं होती अपितु उनमें निरन्तर वृद्धि ही होती जाती है जिस प्रकार घी डालने से अग्नि और अधिक प्रज्ज्वलित होती जाती है उसी प्रकार इच्छाओं की पूर्ति करते रहनें से वे और भी उद्दीप्त होती जाती हैं। अतः इच्छाओं का दमन करना मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कहा है–

"नाध्यगच्छत् तदा तृप्तिं कामानां स महायशाः।
अवेत्य मनसा राजन्निमाः गाथां तदा जगौ।।"[3]

मनुष्य की इच्छाओं की बलवानता को प्रदर्शित करते हुये चाणक्य ने भी नीतिवचन कहे हैं। जैसे यदि किसी के पास सौ रूपये होते हैं तो वह हजार की इच्छा करता है, हजार वाला लाख की तथा लाख वाला राज्य की कामना करता है और राजा स्वर्ग की कामना करने लगता है। इस प्रकार इच्छायें उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि अपनी इन्द्रियों को वश में करके देश काल और अपनी शक्ति के अनुसार कार्यों को सम्पन्न करें। जैसा कि चाणक्य नीति में कहा गया है–

"इन्द्रियाणि च संयम्य बकवत् पण्डितो नरः।
देशकालबलं ज्ञात्वा सर्वकार्याणि साधयेत्।।"[4]

---

1. ईशावास्योपनिषद– मत्र 1
2. किरातार्जुनीयम्– 1/19
3. महाभारत– आदिपर्व– 75/49
4. चाणक्यनीति– 6/16

सामाजिक नीति यह भी है कि व्यक्ति को धर्म, अर्थ और काम इन सबका समान रूप से सेवन करना चाहिये। विशेष रूप से किसी एक के प्रति लगाव रखना उचित नहीं, क्योंकि जो इनमें से किसी एक में विशेष रूप से आसक्त रहता है वह जघन्य है। फिर भी इनमें अर्थ का विशेष महत्व है। जैसा कि महाभारत में कहा गया है कि पतित और निर्धन दोनों समान होते हैं। निर्धनता को पातक माना गया है और संचित धन उसी प्रकार मनुष्य को शुभ कार्यों में प्रवृत्त कर देता है जिस प्रकार पर्वतीय नदियाँ जल के बर्फ रूप में संचित रहने के कारण सदैव प्रवाहित होती रहती हैं। धन से ही धर्म, काम और स्वर्ग की सिद्धि होती है। मनुष्य जीवन का निर्वाह भी बिना धन के नहीं होता। जैसा कहा है-

"अर्थाद् धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप।
प्राणयात्रापि लोकस्य विना ह्यर्थेन सिद्धयति।।"[1]

इस प्रकार धन से धर्म का पालन, कामनाओं की पूर्ति, स्वर्ग की प्राप्ति, हर्ष की वृद्धि आदि सभी कार्य सफल होते हैं परन्तु फिर भी धन का संचय करना सामाजिक अपराध है केवल अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप ही धन का संचय करना चाहिये। धन के संचय से यदि व्यक्ति या समाज का अहित होता है तो वह संचय अपराध की श्रेणी में आता है। अतः जितने धन से त्यागपूर्वक मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति हो जाय उतने ही धन पर उसे अपना अधिकार समझना चाहिये। उससे अधिक की यदि वह कामना करता है या संचय करता है तो वह समाज का अहित करता है और ऐसा व्यक्ति दण्ड के योग्य होता है। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि समाज हित में धन के संचय की प्रवृत्ति का परित्याग करके अपनी आवश्यकतानुसार धन को ही संग्रहीत करे उससे अधिक नहीं। इसी नीति को श्रीमद्भागवत में कहा गया है-

"यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वम् हि देहिनाम्।
अधिकं योभिमन्येत् सा स्तेनो दण्डमर्हति।।"[2]

सामाजिक दृष्टि से आचार्य क्षेमेन्द्र ने अत्यन्त विचारपूर्वक नीतियों का प्रणयन किया है उनका 'दर्पलनम्' सामाजिक नीतियों की महत्वपूर्ण रचना है। उन्होनें सामाजिक दृष्टि से कुल, वित्त सुत, रूप, शौर्य तथा तप को मनुष्य के मद का कारण माना है। यदि इन सब पर नियन्त्रण कर लिया जाय तो मनुष्य एवं समाज का कल्याण हो सकता

---

1 महाभारत- शान्तिपर्व- 8/17
2 श्रीमद्भागवत- 7/14/8

है। किसी भी व्यक्ति को इन सभी के प्राप्त होनें पर कभी गर्व नहीं करना चाहिये। जैसा कि उन्होनें स्वयं को एक नीतिकार की श्रेणी में रखकर निम्नोक्त नीतियों को प्रतिपादित किया है–

"क्षेमेन्द्रः सुहृदां प्रीत्या दर्पदोषचिकित्सकः।
स्वास्थ्याय कुरूते यत्नं मधुरैः सूक्तिभेषजैः।।"[1]
"कुलं वित्तं श्रुतं रूपं शौर्य दानं तपस्तथा।
प्राधान्येन मनुष्याणां सप्तैते मदहेतवः।।"[2]
"अहंकारभिभूतानां भूतानामिव देहिनाम्।
हिताय दर्पदलनं क्रियते मोहशान्तये।।"[3]

समाज में रहने वाले किसी भी व्यक्ति को अपने कुल पर कभी अभिमान नहीं करना चाहिये क्योंकि कुल में कभी कोई पूर्व पुरुष विद्वान हो जाता है और उसी कुल में कोई मूर्ख भी उत्पन्न हो सकता है। अतः कुल का महत्व तभी तक है जब तक पूर्वजों के उत्तम गुणों से उसका समन्वय बना रहे। अर्थात् जब तक कुल में क्रम से उत्तम पुरूषों की वृद्धि होती रहती है तभी तक कुल की श्रेष्ठता बनी रहती है और जब परवर्ती पीढी में कोई कुल विघातक उत्पन्न हो जाता है तो वहीं से कुल का महत्व घटने लगता है। अत. कुल का अभिमान व्यर्थ है–

"लोके कुलं कुलं तावद्यावत्पूर्वसमन्वयः।
गुणप्रभावे विच्छिन्ने समाप्तं सकलं कुलम्।।"[4]

कुल की श्रेष्ठता से मनुष्य की श्रेष्ठता का कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य की श्रेष्ठता तो उसके गुणों के आधार पर मानी जाती है। गुणहीन मनुष्यों से सम्पूर्ण कुल समाप्त हो जाता है। अतः कुल का अभिमान कभी नहीं करना चाहिये वरन् गुणों को अर्जित करनें का प्रयास निरन्तर करते रहना चाहिये, क्योंकि गुणी व्यक्ति ही कुल की शोभा को बढ़ाने वाले होते हैं। केवल श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होने मात्र से कोई श्रेष्ठ नहीं हो जाता। वस्तुतः गुणों का अर्जन करना ही कुलीनता है और मनुष्य का शील ही निर्मल कुल है। जैसा कहा है–

"स्वयं कुलकृतस्तस्माद्विचार्य त्यज्यतां मदः।
गुणाधीनं कुलं ज्ञात्वा गुणेष्वाधीयतां मतिः।।"[5]

---
1 दर्पदलनम्– 1/3,
2 दर्पदलनम्– 1/4,
3 दर्पदलनम्– 1/5
4 दर्पदलनम्– 1/10
5 दर्पदलनम्– 1/14

इसी प्रकार धन का भी गर्व उचित नहीं, क्योकि इससे सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक समता का अभाव हो जाता है। धन के कारण सभी सम्बन्ध स्वार्थपूर्ण हो जाते है। इस प्रकार स्वार्थ का मूल कारण धन ही होता है। पुत्र, पत्नी, मित्र आदि का सम्बन्ध धन से ही माना गया है और धन के समाप्त हो जाने पर ये सभी लोग साथ छोड़ देते है। अतः धन का अभिमान करना मनुष्य के लिये घातक होता है। जैसा कहा है–

"पुत्रदारादिसंबन्धः पुंसां धननिबन्धनः।
क्षीणात्पुत्राः पलायन्ते दारा गच्छन्ति चान्यतः।।"[1]

भर्तृहरि ने भी इसी नीति का समर्थन करते हुये कहा है कि यद्यपि धन में वह ऊष्मा होती है, जिसे धनी व्यक्ति भी नहीं जान पाता तथा इससे समाज में मनुष्य की प्रतिष्ठा में भी अभिवृद्धि होती है परन्तु भाग्यवश जब धनोष्मा नहीं रहती तब क्षण भर में ही सब कुछ परिवर्तित हो जाता है और वही धनी व्यक्ति दूसरा ही प्रतीत होने लगता है। अतः धन का अपना महत्व भी है और यह क्षण भंगुर भी है इसलिये धन का अभिमान सर्वथा अनुचित है। जैसा कहा है–

"तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम,
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदैव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः क्षणेन,
सोऽप्यन्य एव भवतीति विचित्रमेतत्"[2]

'मृच्छकटिक' में भी इसी का समर्थन करते हुये नाटक का पात्र चारुदत्त कहता है कि धन नाश होने की चिन्ता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि धन तो भाग्यानुसार आता और जाता रहता है किन्तु दुःख इसी बात का होता है कि धनहीन हो जाने पर मित्रगण एवं अपने स्वजन भी विमुख हो जाते हैं। यहाँ पर धन के महत्व को भी प्रतिपादित किया गया है और यह भी नीति व्यक्त की गई है कि उसके प्रति कोई विकार भी नहीं लाना चाहिये, क्योंकि धन तो भाग्य के अनुसार ही प्राप्त होता है और उसी अनुसार समाप्त भी हो जाता है। अतः उसके प्रति अत्यधिक लिप्सा उचित नहीं–

"सत्यं न मे विभवनाशकृताऽस्ति चिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।
एतत्तु मां दहति, नष्टधनाश्रयस्य
यत् सौहृदादपि जनाः शिथिलीभवन्ति।।"[3]

उक्त उद्धरणों से यही सिद्ध होता है कि धन किसी का नहीं होता। अतएव धन का

---

[1] दर्पदलनम् – 2/29
[2] नीतिशतक– श्लोक 41
[3]. मृच्छकटिकम्'– 1/13

संचय धर्माचरण के लिये होना चाहिये। जो धर्माचरणविहीन लोग धन का संचय करते हैं वह धन मल संचय करने के समान होता है। धन के होने पर मनुष्य को गर्व नहीं अपितु नम्रता का प्रदर्शन करना चाहिये, क्योंकि विनम्रता ही मनुष्य को उच्चकोटि की श्रेणी में लाती है। जैसा कि 'दर्पदलनम्' में क्षेमेन्द्र ने धन सम्बन्धी नीतियों का कथन करके स्पष्ट किया है-

"धनेन दर्पः को नाम यत्क्षणेन विनश्यति।
रक्ष्यमाणं व्ययेनैव भक्ष्यमाणमुपप्लवैः।।"[1]
"विचार्यमाणस्तत्त्वेन दैवाधीनतया नृणाम्।
न कस्यांचिदवस्थायां धनलोभः प्रशस्यते।।"[2]
"कलौ काले खले मित्रे पुत्रे दुर्व्यसनान्विते।
तस्करेषु प्रवृद्धेषु लुब्धे राज्ञि धनेन किम्।।"[3]

समाज में हम देखते हैं कि कभी-कभी निर्धन सुखी और धनवान दुःखी दिखायी पड़ते हैं। अतः यही प्रतीत होता है कि सुख दुःख दैवाधीन हैं इनकी प्राप्ति में धन का कोई महत्व नहीं होता, क्योंकि जीवन की सभी अवस्थाओं में धन सहायक नहीं होता, जैसे वृद्धावस्था में सत्कर्म ही साथ देते हैं, धन नहीं। जब कि लोग वृद्धावस्था के लिये ही धन संचय करते देखे जाते हैं जो कि नितान्त अनुचित प्रतीत होता है। अतः इस सम्बन्ध में दर्पदलनम् के इन श्लोकों में मनुष्य जीवन का सारभूत तत्व दर्शनीय है-

"नार्थं श्रृणोति न पुनः स्थितिमीहते वा
स्पर्शं न वेत्ति न रसं न तथाधिवासम्।
वृद्धः प्रयाति पवनेन यदा जडत्वं
भोगैर्धनेन च तदा वद किं करोति।।"[4]
"रोगार्दितः स्पृशति नैव दृशापि भोज्यं
तीव्रव्यथः स्पृहयते मरणाय जन्तुः।
सर्वौषधेषु विफलेषु यदा विरौति
धान्यैर्धनेन च तदा वद किं करोति ।।"[5]
"तस्मात्प्रभूतपिभवोद्भवविभ्रमेण
भूताभिभूत इव मा भव सभिमानः।
एताः श्रियः प्रबललोभघनान्धकार
विद्युल्लतापरिचिताः सहसैव यान्ति।।"[6]

---

[1] दर्पदलनम्- 2/37
[2] दर्पदलनम्- 2/38
[3] दर्पदलनम्- 2/39
[4] दर्पदलनम्- 2/62
[5] दर्पदलनम्- 2/63
[6] दर्पदलनम्- 2/67

इस प्रकार धन का घमण्ड किसी भी सामाजिक व्यक्ति के लिये उचित नहीं, क्योकि धन पर किसी का भी एकाधिकार नहीं होता जो ऐसा करता है वह उसके नाश का ही निमित्त बनता है। अतः मनुष्य को धन उपभोग तथा दान के लिये ही एकत्रित करना चाहिये। जैसा कि क्षेमेन्द्र ने कहा है–

"तस्मान्न दर्पः पुरूषेण कार्यः प्रवर्धमानेन धनोदयेन।
अदानभोगोपहतं हि वित्तं पुंसां परत्रेह च दुर्निमित्तम्।।"[1]

इस प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र नें धन के अतिरक्त रूप, शौर्य आदि से सम्बन्धित नीतियाँ भी समाज हित में कही हैं कि भगवत्कृपा से प्राप्त धन, शौर्य, रूप, विद्या, तप आदि पर कभी गर्व नहीं करना चाहिये, क्योंकि इन सभी पर गर्व करनें से समाज का ही अहित नही अपितु व्यक्ति को व्यक्तिगत रूप से भी हानि उठानी पड़ती है। अतः सामाजिकों को समाज हित में तथा स्वयं के हित में त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करना ही उत्तम नीति है।

सामाजिक हित के लिये कहा गया है कि हित चाहने वाले समाज के लिये यह आवश्यक है कि मद्य पीने वाले वैध को, स्वाध्यायहीन ब्राह्मण को, मूर्ख परिव्राजक को तथा कुमंत्रियों से घिरे हुये राजा को त्याग देना चाहिये, क्योंकि इनसे समाज का हित सम्भव नहीं अपितु यदि समाज में इनका अस्तित्व रहेगा तो उस समाज का पतन ही होगा। जैसा कि काव्य संग्रह के 'पंचरत्नम्' में कहा गया है–

"वैद्यं पानरतं नटं कुपठितं स्वाध्यायहीनं द्विजं
युद्धे का पुरूषं हयं गतरयं मूर्ख परिव्राजकम्।
राजानञ्च कुमंत्रिभिः परिवृतं देशञ्च सोपद्रवं
भार्या यौवनगर्व्वितां पररतां मुञ्चन्तुशीघ्रं बुधाः।।"[2]

समाज का प्रत्येक व्यक्ति सुशिक्षित, सुयोग्य और ज्ञान सम्पन्न हो इस उद्देश्य से नीतिकारों ने मूर्ख व्यक्ति की निन्दा करते हुये समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इस ओर आकर्षित किया है कि वे सभी को शिक्षित बनावें, क्योंकि अशिक्षित और मूर्खो से समाज का कोई हित नहीं होता। शास्त्रों में भी कहा गया है कि मूर्ख और अशिक्षित व्यक्ति को किसी भी प्रकार कुछ भी समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि शास्त्रों में प्रत्येक रोग की औषधि और अन्य विघ्नों को दूर करनें के उपाय बताये गये हैं और अन्त में निराश होकर नीतिकार को यह कहना पड़ा कि मूर्ख व्यक्ति के लिये कोई औषधि नही होती। अतः कहा जा सकता है कि कोई भी असाध्य रोग औषधि से उपचारित किया जा सकता

---

1 दर्पदलनम्– 2/113

2 पंचरत्नम्– श्लोक 3

है परन्तु मूर्ख की मूर्खता से किसी भी प्रकार किसी भी औषधि से निजात नहीं पायी जा सकती। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है–

> "शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो,
> नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गौगर्दभौ।
> व्याधिभेषिज संग्रहैश्चविविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषं
> सर्वस्यौषाधमस्ति शास्त्र विहितं मूर्खस्य नास्त्यौषाधम्।।"[1]

इसके साथ ही भर्तृहरि ने यह भी कहा है कि लोगों को स्वयं सुशिक्षित होने के लिये तथा अनुशासित एवं सद्गुणी बनने के लिये सज्जनों के साथ रहनें की अभिलाषा अपने हृदय में रखनी चाहिये, क्योंकि सुशिक्षित, अनुशगसित और सद्गुणी व्यक्ति ही प्रशंसनीय, प्रणम्य तथा सम्मान के योग्य होता है। प्रत्येक मनुष्य को दूसरों के सद्गुणों में प्रीति, वृद्ध लोगों के प्रति विनम्रता और सम्मान, विद्या में व्यसन अर्थात् स्वाध्याय, लोकापवाद से भय और अपनी इन्द्रियों को वश में रखने की शक्ति होनी चाहिये। इन सब गुणों से युक्त व्यक्ति ही समाज का कल्याण करनें में समर्थ होते हैं। जैसा कहा है–

> "वाञ्छा सज्जन सङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
> विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम्।
> भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खलै
> रेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः।।"[2]

समाज को सुसभ्य एवं सुसंस्कृत बनाने के लिये उपर्युक्त नीति आधार भित्ति का कार्य करती है। यदि उक्त गुणों का पालन व्यक्ति करता रहे तो समाज में किसी प्रकार का कोई विद्वेष परस्पर उत्पन्न नहीं होगा।

यद्यपि समाज का प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी स्वार्थ से अभिभूत रहा करता है। परन्तु फिर भी जो केवल स्वार्थ के ही वशीभूत होकर कोई कार्य करता है उससे मनुष्यों को सचेत करते हुये कहा गया है कि स्वार्थी व्यक्ति किसी का प्रिय नहीं होता वह दूसरों के साथ केवल अपने कार्य की सिद्धि के लिये ही जुड़ा रहता है। उसका स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर वह स्वार्थी मनुष्य दूसरों को उसी प्रकार त्याग देता है जैसे फलरहित वृक्ष को पक्षी, सूखे सरोवर को सारस, पर्युषित फूल को भँवरे, दग्ध वन को मृग और सम्पत्तिहीन राजा को मन्त्री त्याग देते हैं। अतः स्वार्थी व्यक्ति से मित्रता हो जाने पर सदैव उससे सतर्क रहना चाहिये, क्योंकि स्वार्थी व्याक्तियों का स्वार्थ ही सर्वोपरि होता है उसके लिये

---

1 नीतिशतक– श्लोक 12
2 नीतिशतक– श्लोक 63

अन्य कोई उससे अधिक प्रिय नहीं होता। जैसा काव्यसंग्रह के 'सप्तरत्नम्' में कहा गया है-

"वृक्षं क्षीणफलं त्यजन्ति विहगाः शुष्कं सरः सारसाः
पुष्पं पर्य्युषितं त्यजन्ति मधुपा दग्धं वनान्तं मृगाः।
निर्द्रव्यं पुरुषं त्यजन्ति गणिका भ्रष्टश्रियं मन्त्रिणः
सर्वे कार्यवशाज्जनोभिरमते कस्यास्ति को वल्लभः।।"[1]

पंचतन्त्र में भी इसी नीति का समर्थन करते हुये कहा गया है-

"फलहीनं नृपं भृत्याः कुलीनमपि चोन्नतम्।
संत्यज्यान्यत्राच्छन्ति शुष्कं वृक्षमिवाण्डजा।।"[2]

स्वार्थपरता की भावना सम्बन्धी नीति को व्यक्त करते हुये माघ ने भी उपर्युक्त नीति को समर्थित करते हुये कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति में स्वार्थ की भावना निहित रहती है। यह संसार का एक शाश्वत सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति कोई न कोई स्वार्थ हृदय में रखकर ही कार्य करता है जिससे सचेत रहने की आवश्यकता होती है। जैसा माघ ने 'शिशुपालवध' में स्पष्ट किया है-

"यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपस्विनः।
वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थ समीहते।।"[3]

उपर्युक्त नीतियों के माध्यम से नीतिकारों ने मनुष्यों को सचेत किया है कि यद्यपि सभी व्यक्ति किसी न किसी स्वार्थवश परस्पर एक दूसरे के साथ सन्निद्ध रहते हैं तथापि मनुष्य का यह कर्तव्य है कि पूर्ण रूपेण स्वार्थी व्यक्तियों से सदैव सतर्क रहे।

इस संसार में कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं होगा जो दुःख की कामना करे अपितु सभी मनुष्य सुख की कामना करते हैं। इस नीति को ध्यान में रखते हुये नीतिकारों ने सुख प्राप्ति के छः साधन बताये हैं, यथा-धन का आगम निरन्तर होता रहे, रोगमुक्त रहे, सुन्दर और सुशील पत्नी हो वह भी मितभाषिणी हो, पुत्र अनुशासित हों, और विद्या से युक्त हों, ये सभी सुख के साधन माने गये हैं। जैसा काव्य संग्रह के 'अष्टरत्नम्' में कहा गया है-

---

1 सप्तरत्नम्- श्लोक 4
2 पचतन्त्र- मित्रभेद- श्लोक 163
3 शिशुपालवध- 2/65

"अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड्जीवलोकेषु सुखानि तात।।"[1]

नीतिपरक मुक्तक काव्यों में जहाँ विधि का निर्देश किया गया है वहीं निषेध को भी ध्यान में रखा गया है। जहाँ नीति कार्यो को करने को प्रेरणा देती है वही निषिद्ध कर्मो को न करने के लिये भी आगाह करती है। जैसा कहा है कि लगातार तृणों को तोड़ना, पृथ्वी पर नखों से लिखना, दाँत और वस्त्र की मलिनता, प्रातः एवं सायंकाल में शयन, अपने अंगो का वादन ये सभी कृत्य मनुष्य को नहीं करना चाहिये। क्योंकि इस प्रकार के कृत्य करने वाला चाहें लक्ष्मीपति केशव ही क्यों न हो लक्ष्मी उसका परित्याग कर देती है। अतः निषिद्ध कर्मो की ओर प्रवृत्त होनें पर मनुष्य अपना अहित ही करता है, जो कि उचित नहीं। इसलिये शास्त्र विहित कर्मो की ओर ही प्रवृत्त होना चाहिये जो कि मंगल के कारक होते हैं। जैसा 'अष्टरत्नम्' में कहा गया है-,

"नित्यं छेदस्तृणानां क्षितिनखलिखनं पादयोरल्पपंजा
दन्तानामल्पशौचं वसनमलिनता रूक्षतामूर्द्धजानाम्।
द्वे सन्ध्ये चापि निद्राविवसनशयनं ग्रासहासातिरेकः
स्वांगेपीठेचवाद्यं हरतिधनपतेः केशवस्यापिलक्ष्मीः।।"[2]

वानरी अष्टक में भी सुख के छः साधनों का उल्लेख करते हुये कहा गया है कि संसार में मनुष्य को सुख प्राप्ति के निम्नलिखित छः साधन बताये गयें हैं यथा-आरोग्यता, अनृणता, अविप्रवास, निश्चितवृप्ति, सज्जनों का संग तथा भयरहित निवास, ये सभी यदि व्यक्ति को उपलब्ध हैं तो वह सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो सकता है। जैसा कहा है-

"आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः
सम्प्रत्यया वृत्तिरभीतिवासः।
सद्भिर्मनुष्यैः सह संप्रयोगः
षड् जीवलोकेषु सुखानि राजन्।।"[3]

जिस प्रकार सुख के छः साधन माने गये हैं उसी प्रकार दुःख के भी छः कारक माने गये हैं, जैसे- मूर्ख द्विजाति, सन्यासी गृहस्थ, गृही दरिद्र, तपस्वी धनवान, वेश्या

---

1 अष्टरत्नम्- श्लोक 1
2 अष्टरत्नम्- श्लोक 3
3 वानरी अष्टक- श्लोक 3

रूपरहित और कुकर्मी नृपति, ये सभी दुःख के कारक हैं। अतः मनुष्य को दुःख के इन कारको से रादैव स्वयं को बचाना चाहिये, क्योंकि इनमें से किसी एक की भी उपस्थिति मनुष्य को कष्ट पहुँचानें के लिये काफी है। जैसा स्पष्ट करते हुये 'वानरी अष्टक' में कहा है-

"मूर्खो द्विजातिः स्थविरो गृहस्थो
गृही दरिद्रो धनवांस्तपस्वी।
वेश्या कुरूपा नृपति कुधर्मो
लोके षडेतानि विडम्बितानि।।"[1]

साथ ही यह भी निषेध किया गया है कि मनुष्य को ईर्ष्या, घृणा, असन्तोष, क्रोध, नित्य शंकालुता और परभाग्योपजीवी नहीं होना चाहिये। इस प्रकार का व्यक्ति सदैव सुख से वंचित रहकर दुःख का ही भागी होता है। क्योंकि ये सभी मनुष्य में असन्तोष को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं और मनुष्य मानसिक रूप से सदैव अप्रसन्न रहता है। अत. वह सदैव दुःखी ही रहता है। जैसा कि 'वानराष्टक' में कहा गया है-

"ईर्षी घृणीत्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङि्कतः।
परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः।।"[2]

सामाजिक दृष्टि से विष्णु शर्मा रचित 'पंचतन्त्र' रत्नाकर के समान विविध नीति रूपी रत्नों का आगार है। जिसमें सामाजिक, राजनैतिक तथा व्यक्तिगत दृष्टि से अनुभूत नीतियों का वर्णन बड़ी सहजता के साथ किया गया है। जिसका ज्ञान प्राप्त करने वाला मनुष्य विपत्ति सागर में फँसकर भी बड़ी आसानी से उसे पार कर सकता है। आचार्य विष्णु शर्मा ने स्वयं कहा है कि जो इस नीति शास्त्र का नित्य अध्ययन अथवा श्रवण करता है वह इन्द्र से भी कभी पराजित नहीं हो सकता। विष्णु शर्मा के इस कथन से ही इस ग्रन्थ की उपयोगिता को समझा जा सकता है। जैसा कहा है-

"अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं श्रृणोति च।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन।।"[3]

आचार्य विष्णु शर्मा ने पाँच तन्त्रों यथा-मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीयम्, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षित कारक में पंचतन्त्र नामक ग्रन्थ की रचना समाज के हित के लिये की और स्वयं ही स्पष्ट रूप से कहा-

"एतत् पञ्चतन्त्रकं नाम नीतिशास्त्रं बालावबोधनार्थं भूतले प्रवृत्तम्।।"

---

[1] वानरी अष्टक- श्लोक 5
[2] वानराष्टक- श्लोक 1
[3] पंचतन्त्र- कथामुखम्- श्लोक 10

मित्रभेद में नीति को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि अन्य प्राप्य वस्तुओं की अपेक्षा धन, समाज, राष्ट्र तथा व्यक्ति के लिये नितान्त आवश्यक है। अतः धन प्राप्त करके मनुष्य अपने जीवन में शूरता, विद्वता, ऐश्वर्यादि गुणों से भी युक्त होकर यदि क्षणमात्र भी इस पृथ्वी पर जीवन व्यतीत करता है तो वही उस व्यक्ति का वास्तविक जीवन कहा जायेगा, क्योंकि वैसे तो कौआ भी बलि भक्षण करते हुये बहुत दिनों तक जीवन व्यतीत करता है। जैसा कहा है–

"यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
र्विज्ञानशौर्यविभावार्यगुणैः समेतम्।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते।।"[1]

धन ऐसी मादक वस्तु है जिसको प्राप्त करके मनुष्य अहंकारी हो जाता है और अहंकार के साथ ही साथ वह विषयोभोग की ओर प्रवृत्त हो जाता है और विषयी पुरूष को विपत्तियाँ घेर लेती हैं। अतः ऐसे व्यक्तियों का कोई प्रियजन नहीं होता। मनुष्य को यह बात सदैव ध्यान रखनी चाहिये कि काल के गाल में सभी समा जाते हैं। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि उक्त नीति पर विचार करे और तदनुकूल आचरण करते हुये अपने जीवन को सफल बनानें का प्रयास करे अन्यथा वह विपत्तियों से घिरकर स्वयं एक दिन नष्ट हो जायेगा। जैसा कि विष्णु शर्मा ने कहा है–

"कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः को नाम राज्ञां प्रियः।
कः कालस्य न गोचरान्तरगतः कोऽर्थी गतो गौरवं
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान्।।"[2]

मानव जीवन से सम्बन्धित समाज के समस्त पक्षों पर विचार करते हुये पंचतन्त्र में नीति स्पष्ट की गई है कि दुर्मन्त्रणा से शासक, विषयों में अनुरक्त सन्यासी, अधिक लालन-पालन से पुत्र, अध्ययन से विरत ब्राह्मण, कुपुत्र से कुल, दुष्टोंके संसर्ग से सदाचार, स्नेहशून्यता से मित्रता, अनीति से समृद्धि, प्रमाद से धन तथा उचित देखभाल न करने से कृषि नष्ट हो जाती है। अतः मनुष्य को इन बातों से बचना चाहिये तभी वह समाज में सफल हो सकता है। जैसा कहा है–

---

[1] पचतन्त्र मित्रभेद– श्लोक 24
[2] पचतन्त्र मित्रभेद– श्लोक 157

"दुर्मन्त्रान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात्सुतो लालना-
द्विप्रोऽनध्ययनात्कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात्।
मैत्री चाप्रणयात्समृद्धिरनयात्स्नेहः प्रवासाश्रयात्-
स्त्री गर्वादनवेक्षणादपि कृषिस्त्यागात्पमादाद्धनम्।।"[1]

अभिप्राय यह है कि यदि समाज में उक्त दुर्गुण बढ़ने लगते हैं तो वे अशान्ति को निमन्त्रण देते हैं। अतः ऐसी परिस्थिति के उत्पन्न होने पर समाज अथवा राष्ट्र के सभी व्यक्तियों का यह कर्तव्य हो जाता है कि धैर्यपूर्वक उक्त दुर्गुणों को दूर करने के लिये तत्पर हों जाये। किन्हीं भी परिस्थितियों में धैर्य का परित्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि धैर्य से प्रतिकूल भाग्य भी अनुकूल हो जाता है। जैसे कि समुद्र में जहाज के डूबने पर भी व्यवसायी अपने व्यापार से विरत नहीं होते अपितु पुनः पुनः धैर्यपूर्वक साहस के साथ कष्टों की परवाह न करते हुये व्यापार में संलग्न रहते हैं। इसी उद्देश्य को प्रकट करते हुये कहा गया है-

"त्याज्यं न धैर्य विधुरेपि दैवे धैर्यात्कदाचित्स्थितिमाप्नुयात्सः।
याते समुद्रेऽपि हि पोतभङ्गेसांयात्रिको वाञ्छति कर्म एव।।"[2]

धैर्य मनुष्य का ऐसा आन्तरिक गुण है जो उसकी कार्यसिद्धि में परम सहयोगी होता है। अतः समाज के प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य बनता है कि विपरीत परिस्थितियों में भी दोषों को शनैः शनैः दूर करते हुये तथा मन की उद्विग्नता को शान्त करते हुये धैर्यपूर्वक विवेकनुसार कर्तव्यों का पालन करते हुये समाज तथा देश का कल्याण करने के लिये प्रवृत्त होना चाहिये। ऐसा करने से सफलता आवश्यक मिलती है। जैसा कि पंचतन्त्र में कहा गया है-

"पराङ्गमुखेऽपि दैवेऽत्र कृत्यं कार्य विपश्चिता।
आत्मदोषविनाशाय स्वचित्तस्तम्भनाय च।।"[3]

सुख एवं शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने के लिये और स्वाभिमान तथा सम्मान को बनाये रखने के लिंये यह आवश्यक नीति कही गई है। कि मनुष्य को लघु व्यक्तियों के साथ कोई सम्पर्क नही रखना चाहिये, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों से सम्पर्क रखनें पर निश्चित रूप से लघुता आ जाती है। जैसे तुम्बीफल के सम्पर्क में आने पर सार वान लोहा भी जल में तैरने लगता है और उसकी स्वयं की गुरुता क्षीण हो जाती है। अतः

---

1 पंचतन्त्र- मित्रभेद- श्लोक 180
2 पंचतन्त्र- मित्रभेद- श्लोक 216
3 पंजतन्त्र- मित्रभेद- श्लोक 391

मनुष्य को सदैव सारवान व्यक्ति के साथ ही सम्पर्क रखना चाहिये। जिससे उसके स्वयं के गुण बरकरार रहें अन्यथा लघु व्यक्ति के साथ रहनें पर वह भी लघुता को प्राप्त हो जायेगा–

"लघुना सङ्गतो लोको लघुतामेति निश्चितम्।
पश्य तुम्बीफलालम्बी लौहोऽपि प्लवते जले।।"[1]

लघु (निम्न कोटि का) अर्थात् दुष्ट व्यक्ति अपनी दुष्टता को कभी नहीं छोड़ता। उसका सम्पूर्ण शरीर दुष्टता रूपी विष से भरा रहता है। अतएव कहा गया है कि सर्प के दाँत में विष होता है, मक्षिकाओं के मस्तक में तथा बिच्छुओं की पूँछ में विष होता है। इस प्रकार भयंकर जीवो के भी विशेष–विशेष अंगों में ही विष होता है, सभी अंगों में नहीं। परन्तु इसके विपरीत दुर्जनों के सम्पूर्ण शरीर में ही विष भरा रहता है। अतः सुख और शान्ति चाहने वाले व्यक्तियों को दुष्टों के सम्पर्क से सदैव बचना चाहिये। जैसा कि उद्भट सागर में कहा गया है–

"भुजङ्गानां विषं दन्ते मक्षिकाणाञ्च मस्तके।
वृश्चिकानां तथा पुच्छे सर्व्वाङ्गेषु दुरात्मनाम्।।"[2]

भर्तृहरि ने भी यही कहा है कि विद्यादि से अलंकृत होने पर भी दुष्ट व्यक्ति सर्वथा त्याज्य है–

"दुर्जनः परिहरतव्यो विद्ययाऽलंकृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः।।"[3]

इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से जिन नीतियों का प्रतिपादन नीति परक काव्यों एवं मुक्तकों में किया गया है, वे अत्यन्त व्यवहारिक हैं। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिये वह समाज का एक अंग माना जाता है। मनुष्यों के समूह से ही समाज का निर्माण होता है और समाज के अन्दर मनुष्य के कुछ कर्तव्य होते हैं, जिनके पालन के लिये मनुष्य को किस प्रकार का आचरण करना चाहिये, इन सब का विवेचन नीति काव्यों में बहुलता के साथ किया गया है। इस सम्बन्ध में नीति काव्यों में सिर्फ मनुष्य के कर्तव्यों का ही बोध नहीं कराया गया है बल्कि उन आचार व्यवहारों पर भी विचार किया गया है जो मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी होने के नाते नहीं करना चाहिये अर्थात् एक सामाजिक प्राणी की हैसियत से मनुष्य के लिये निषेध कर्तव्यों का भी बोध नीति काव्यों में मिलता है। इस दृष्टि से सामाजिक नीतियों का प्रयोग नीति काव्यों में नीतिकारों की सूक्ष्म विवेचिका दृष्टि को भी प्रदर्शित करता है।

---

1. उद्भटसागर– 1/97
2. उद्भटसागर– 1/106
3. नीतिशतक– श्लोक 54

(V)
राजनीतिक नीतियाँ

राजनीति शब्द के साथ नीति शब्द स्वतः सम्बद्ध है, यह सम्बद्धता इस बात की द्योतक है कि राज्य नीति के बिना अधूरा है। नीति का अभिप्राय न्याय भी है, इस अर्थ के आधार पर जब राज्य का पालन किया जाता है तो वह राष्ट्र सदैव उन्नतिशील तथा अनुशासित रहता है। राजनीति शब्द स्वतः अपने इस अर्थ को प्रकट करता है। राजनीति शब्द को हम कुछ इस तरह से भी व्याख्यायित कर सकते हैं–

"राज्ञः नीतिः राजनीतिः। राज्ञा नीतिः राजनीतिः। राज्ञे नीतिः राजनीतिः"

यह व्याख्या शासक और शासित दोनों पर सटीक बैठती है। इसका अभिप्राय यह है कि– 'राजा के द्वारा प्रजा के लिये निर्धारित नीति, राजा के लिये प्रजा के द्वारा निर्धारित नीति, और राजा की नीति इन सभी में नीति शब्द जुड़ा है, जिसका अभिप्राय है कि शासक को एवं प्रजा को सन्मार्ग की ओर ले जाने वाले नियम राजनीति के अन्तर्गत आते हैं। अतः नीतिविहीन राज्य, समाज तथा व्यक्ति सभी व्यर्थ हैं।

महाभारत में भी राजनीति के सम्बन्ध में यही कहा गया है कि जिन–जिन उपायों द्वारा यह जगत और जगत में निवास करने वाले प्राणी सन्मार्ग से विचलित न हों उन सबका प्रतिपादन नीति शास्त्रों का विवेच्य है। सम्पूर्ण जगत के उपकार तथा त्रिवर्ग की स्थापना के लिये राजनीति सम्बन्धी सारभूत विचार नीति काव्यों में प्रकट किये गये हैं। ये विचार अथवा नीतियाँ सम्पूर्ण प्राणियों की रक्षा करनें में समर्थ है। जैसा कहा है–

"यर्यैरुपायैर्लोकस्तु न चलेदार्यवर्त्मनः।
तत् सर्वे राजाशार्दूलनीतिशास्त्रेऽभिवर्णितम्।।"[1]

एवं

"उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च।
नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता।।"[2]

राजनीतिक नीति काव्यों में विशेष रूप से उन्ही नीतियों को बताया गया है जिनसे राष्ट्र तथा प्रजा का कल्याण हो। शासक के लिये यही नीति कही गई है कि वह उन्हीं कार्यो को प्रमुखता दे जो प्रजा के हित में हो। सर्वप्रथम उसे प्रजा का शोषण नहीं करना

---

[1] महाभारत– शान्तिपर्व– 59/74

[2] महाभारत– शान्तिपर्व– 59/76

चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से प्रजा में असन्तोष व्याप्त हो जाता है, जो राजा तथा राज्य दोनों के लिये घातक साबित होता है। प्रजा का अधिक दोहन करने से देश निर्धन हो जाता है। यदि शासक को धन की आवश्यकता पड़े तो प्रजा से विनम्रतापूर्वक ऋण के रूप में इस शर्त के साथ धन ग्रहण करे कि आपत्ति दूर जाने पर पुनः वह धन वापस लौटा दिया जायेगा, तभी शासक तथा प्रजा के बीच सामंजस्य स्थापित हो सकेगा, और यही नीति भी है। जिस प्रकार भ्रमर धीरे-धीरे फूलों का रस लेता है और दूध दुहने वाला व्यक्ति गाय तथा उसके बछड़े को कष्ट न देते हुये दूध को दुह लेता है उसी प्रकार प्रजा को भी कष्ट न देते हुये प्रजा के कल्याण के लिये ही शासक को उनसे ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि कोष के बिना शासन का एवं राज्य का संचालन करना असम्भव है। महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश में यही कहा है कि प्रजा के कल्याण के लिये ही राजा को कर ग्रहण करना चाहिये और उससे प्राप्त धनराशि को प्रजा की भलाई के लिये ही व्यय कर देना चाहिये। जैसे सूर्य पृथ्वी से जल को अवशोषित करके पुनः जगत के कल्याण के लिये ही वर्षा के रूप में पृथ्वी को लौटा देता है ठीक यही कर्तव्य राजा का भी होता हे। इस प्रकार की राजनीति सम्बन्धी नीतियों का विवेचन नीति काव्यों में बहुतायत से किया गया है। जिनका विवेचन हम इस अध्याय में संक्षिप्त रूप से करने का प्रयास कर रहे हैं।

प्रजा के कल्याण के लिये जो भी कार्य किये जायें उनकी घोषणा पहले नहीं करनी चाहिये। योग्य शासक के लिये यह आवश्यक है कि प्रजा के हित के लिये निश्चित किये गये कार्यो को वाणी के द्वारा कभी प्रकट नहीं करना चाहिये अपितु मननपूर्वक उसकी रक्षा करते हुये चुपचाप शान्तिपूर्वक निश्चित कार्य को सम्पन्न करने का प्रयास करना चाहिये। इसी में शासन तथा प्रजा का हित सुरक्षित रहता है इसका कारण यह भी है कि पूर्व घोषणा कर देनें पर यदि किसी विशेष परिस्थितिवश कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता है तो उससे शासक की ही निन्दा होती है। अतः राजा को इससे बचने के लिये उक्त नीति का पालन करना चाहिये। जैसा कि चाणक्य नें कहा है-

"मनसा चिन्तितं कार्य वाचा नैव प्रकाशयेत्।
मन्त्रेण रक्षयेद गूढं कार्ये चाऽपि नियोजयेत्।।"[1]

चाणक्य ने राजनैतिक दृष्टि से राज्य को समृद्ध तथा सुरक्षित बनाये रखने के लिये विविध प्रकार की नीतियों का उल्लेख किया है। जैसे राज्य की सुदृढता के लिये राजा का

---

1 चाणक्यनीति- 2/7

यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक परिस्थिति पर चिन्तन और मनन सदैव करता रहे। समय की गति की परख शासक के लिये नितान्त आवश्यक है। मित्र और शत्रु में भेद करने की सामर्थ्य शासक में होनी चाहिये। सम्पूर्ण प्रदेश का पूर्णज्ञान, आय व्यय का विवरण एवं उनके स्रोत जानने के साथ ही साथ आत्मचिन्तन तथा अपनी शक्ति का आकलन राजा को सदैव करते रहना चाहिये। इस प्रकार उक्त रीति से चिन्तन करने वाला शासक अधिक समय तक शासन करने में समर्थ होता है और उसकी प्रजा संतुष्ट और सुखी रहती है तथा देश बाधारहित रहता है। जैसा कहा गया है-

"कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययाऽऽगमौ।
कश्चाऽहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः।।"[1]

शासक का यह भी कर्तव्य है कि वह जिस किसी भी व्यक्ति को शासन के कार्य में नियुक्त करे तथा अपनी निकटता में रखे अर्थात् सहायता के लिये जिन्हें नियुक्त करे उनका अच्छी प्रकार से परीक्षण अवश्य करे। जैसे स्वर्णकार सोने की परीक्षा घिसने, काटने, तपाने, कूटने के साथ करता है उसी प्रकार त्याग, शील गुण और आचरण इन चारो प्रकार से व्यक्ति का परीक्षण करके सहयोगी बनानें पर कभी धोखा नहीं उठाना पड़ता। यह नीति न केवल शासक के लिये अपितु समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये पालन करने के योग्य है। क्योंकि इसमें वर्णित गुणों के आधार पर जो भी मित्र बनाया जाता है उससे कभी धोखा नहीं उठाना पड़ता क्योंकि जो काम सोंच विचार कर उसके गुणों के आधार पर किया जाता है वह सदैव उचित फलदायी होता है चाहें वह राजा के द्वारा नियुक्त व्यक्ति के सम्बन्ध में हो, चाहें मित्र बनानें के सम्बन्ध में। जैसा कहा है-

"यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरूषः परीक्ष्यते
त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा।।"[2]

चाणक्य ने शासन की दृष्टि से 'कौटिल्य अर्थशास्त्र' नामक अपने ग्रन्थ में सटीक राजनीति सम्बन्धी अपनी नीतियों का वर्णन करते हुये युद्ध की अपेक्षा बुद्धि बल को विशेष महत्व दिया है और शासन के विविध पक्षों का आलोडन किया है। चाणक्य का मत है कि अपनी कमजोरी को किसी के आगे प्रकट नहीं करना चाहिये। चाणक्य ने अपने

---

1 चाणक्यनीति- 4/18
2 चाणक्यनीति- 5/2

अर्थशास्त्र में जिन राजनीति सम्बन्धी नीतियों को प्रकट किया है, उनका पालन करनें पर राजा ही नहीं अपितु सामान्य व्यक्ति भी नीतिज्ञ होने में समर्थ हो सकता है।

संस्कृत साहित्य में नीति काव्यों की परम्परा मुक्तकों के रूप में अधिक प्रसिद्ध है परन्तु इसके साथ ही महाकाव्यों तथा रूपकों आदि में भी राजनीति सम्बन्धी नीतियों का विवेचन व्यापक रूप से किया गया है। श्रीमद्‌भगवत में कहा गया है कि जो राजा प्रजा को धर्म मार्ग की शिक्षा न देकर केवल उससे कर वसूल करनें में लगा रहता हैं वह केवल प्रजा के पाप का ही भागी होता है और अपने ऐश्वर्य से हाथ धो बैठ्ता है-

"य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः।।"[1]

श्रीमद्‌भागवत में ही राजा की अकर्मण्यता के बारे में शाश्वत नीति कही गई है कि जिस राजा के राज्य में दुष्टों के उपद्रव से सारी प्रजा त्रस्त रहती है उस मतवाले राजा की कीर्ति, आयु, ऐश्वर्य और परलोक सभी कुछ नष्ट हो जाता है। अतः अच्छे राजा यह कर्तव्य है कि वह दुष्टों से अपनी प्रजा की रक्षा करे अन्यथा वह अपना सब कुछ नष्ट कर देता है। जैसा कहा गया है-

"यस्य राष्ट्रे प्रजाः सर्वास्त्रस्यन्ते साहव्यसाधुभिः।
तस्य मत्तस्य नश्यन्ति कीर्तिरायुर्भगो गतिः।।"[2]

प्रजा की रक्षा के सम्बन्ध में राजा की यह नीति होनी चाहिये कि जिस प्रकार भौंरा फूलों की रक्षा करता हुआ ही उनके मधु को ग्रहण करता है उसी प्रकार राजा भी प्रजा को कष्ट दिये बिना ही उससे धन (कर) ग्रहण करे। इस नीति से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा का सर्वप्रथम यही कार्य है कि वह प्रजा को कष्ट दिये बिना ही जो कार्य करता है वही श्रेष्ठ माना जाता है चाहें वह कार्य प्रजा से कर लेना ही क्यों न हो। जैसा महाभारत में कहा गया है-

"यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्याविहिंसया।।"[3]

यह सत्य है कि राज्य के लिये अर्थ-संग्रह की आवश्यकता होती है। इसी उद्‌देश्य से प्रजा के द्वारा राजा के राजस्व ग्रहण की व्यवस्था होती है। परन्तु प्रजा कही कर के भार से पीड़ित ज हो, इस पर भी विशेष ध्यान देकर राजा को कर की मात्रा निर्धारित

---

1 श्रीमद्‌भागवत- 4/21/24
2 श्रीमद्‌भागवत- 1/17/10
3 महाभारत- उद्योग पर्व- 34/17

करनी चाहिये। इस सम्बन्ध में राजा के लिये यह नीति व्यक्त की गई है कि राजा को कर ग्रहण करनें में 'मालाकारवृत्ति' का ही आश्रय लेना चाहिये अर्थात् जिस प्रकार से माली वृक्षों को पीड़ित किये बिना एवं उनको नष्ट किये बिना पुष्प चयन करता है, राजा को भी ठीक उसी प्रकार प्रजा को पीड़ित किये बिना ही कर ग्रहण करना चाहिये। इसके विपरीत 'अङ्गारकवृत्ति' का पालन करना राजा के लिये उचित नहीं अर्थात् जिस प्रकार कोयला बनाने वाला कोयला तैयार करने के लिये वृक्ष को काटकर और उसे जलाकर उससे कोयला निर्माण करता है राजा को इस प्रकार प्रजा को कष्ट पहुँचाकर कर संग्रह करना ठीक नहीं। जैसा कहा है-

"पुष्पं पुष्पं विचिन्वीयान्मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारण्ये न चाङ्गारककारकः।।"

न्याय के सम्बन्ध में राजा के लिये यह नीति कही गई है कि राजा द्वारा निर्णय करते समय इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए कि किसी निर्दोष व्यक्ति को दण्डित न किया जाय और दोषी को सजा दी जाय। यदि दोष प्रमाणित हो जाय तो राजा को अपने पुत्र को भी दण्डित करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिये क्योंकि यही सर्वोत्तम राजनीति की व्यवस्था का द्योतक है। जैसा कि रामायण में कहा गया है-

"पुत्रोऽपि च प्राप्तदोषे धर्मतो दण्डपाणिनः।।"[1]

नीति परक काव्यों की परम्परा में राजनीतिक नीतियों की दृष्टि से महाकवि भारवि का 'किरातार्जुनीयम्' और महाकवि माघ का 'शिशुपालवधम्' सर्वाधिक प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। दोनों महाकाव्य राजनीतिक चतुरता के साथ ही प्रारम्भ होते हैं। जिनमे राजनीतिगत चार्तुय स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। 'किरातार्जुनीयम्' में कहा गया है कि राष्ट्र की उन्नति और प्रजा का हित उसी अवस्था में सम्भव है जब मन्त्री या सचिव अपने स्वामी को उपयुक्त नीति मार्ग पर चलनें के लिये प्रेरित करें और स्वामी भी अपने सचिव की हितपूर्ण बात को ध्यानपूर्वक सुनकर उस पर आचरण करे, क्योकि राजा और अमात्य दोनों के परस्पर अनुकूल रहने पर ही समस्त समृद्धियाँ राज्य को प्राप्त होती हैं। जो राजा या मंत्री उक्त नीति के विरूद्ध कार्य करते हैं वे प्रजा तथा राष्ट्र दोनों का अहित करते हैं और राष्ट्र पतन के गति में चला जाता है। जैसा कि भारवि नें कहा है-

"स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संश्रृणुते स किंप्रभुः।
सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसंपदः।।"[2]

---

1 रामायण- 1/7/8
2 किरातार्जुनीयम्- 1/5

भारवि ने यह भी नीति व्यक्त की है कि वही राष्ट्र उन्नति करनें में समर्थ होता है जिसका शासक दयावान, उदार, प्रजा के विघ्नों एवं कष्टों को दूर करनें वाला और उसकी उन्नति में सहायक होता है उसी शासक के शासन करते रहने पर द्रवित हुई पृथ्वी समस्त सम्पदाओं को उसी प्रकार स्वयं प्रदान कर देती है जैसे गाय अपने बछड़े को देखकर स्वयं दुग्ध प्रवाहित करने लगती है। अतः शासक का सदाचारी होना परम आवश्यक है क्योंकि अत्याचारी शासक प्रजा को सुख पहुँचाने की अपेक्षा उनके कष्टों में और वृद्धि कर देता है। इसके विपरीत सदाचारी शासक को समस्त सम्पत्तियाँ प्रकृति अर्थात् दैवयोग से स्वयं प्राप्त हो जाती हैं। जैसा कहा है–

"उदारकीर्त्तेरूदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरूपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी।।"[1]

महाकवि भारवि नें न केवल राजनैतिक दृष्टि से अपितु व्यवहारिक पक्ष को भी ध्यान में रखकर विचार किया है और कहा है कि शासक को अथवा अन्य मनुष्यों को 'क्षणे रूष्टः क्षणे तुष्टः' की धारा में नहीं प्रवाहित होना चाहिये, क्योंकि ऐसे शासक और ऐसे व्यक्ति का कहीं सम्मान नहीं होता। सम्मान उसी का होता है जिसका क्रोध अबन्ध्य होता है और ऐसा व्यक्ति ही विपत्तियों को दूर करनें में समर्थ हो सकता है। फलस्वरूप ऐसे व्यक्ति के वश में सभी लोग स्वयं हो जाते हैं और जो क्रोध से शून्य होता है वह न तो शत्रुओं मे भय उत्पन्न कर सकता है और न अपने लोगों में सम्मान को ही प्राप्त कर सकता है। अतः शासक को समयानुसार क्रोध और संयम को अंगीकार करके कार्य करना चाहिये तभी वह सफलतापूर्वक शासन करने में समर्थ हो सकता है। जैसा कहा है–

"अबन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः।।"[2]

क्रोध को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं– प्रथम सुधारत्मक क्रोध, द्वितीय प्रतीकारत्मक क्रोध। प्रथम में क्रोध के साथ विवेक भी रहता है परन्तु दूसरे में विवेक का अभाव रहता है। जैसे यदि आत्मीय जनों पर क्रोध किया जाता है और क्रोधवश ताड़ना भी दी जाती है तो वहाँ पर विवेकपूर्ण क्रोध सुधारात्मक होता है और ऐसी दशा में हम उसके अहित की नहीं अपितु हित की कामना करते हैं। परन्तु इसके विपरीत प्रतीकारात्मक क्रोध में दूसरे को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से विवेक शून्य स्थिति में कार्य

1 किरातार्जुनीयम् 1/18
2. किरातार्जुनीयम्– 1/33

किया जाता है। अतः समयानुसार शासक के लिये राजनैतिक दृष्टि से दोनों प्रकार के क्रोध आवश्यक हैं और यही उचित राजनीतिक नीति है।

परिस्थितिवश यदि शत्रु से सन्धि करनी पड़े तो कर लेना हितकर है परन्तु अपनी उन्नति तथा विजयाभिलाषा को नहीं भूलना चाहिये। फलतः अवसर की प्रतीक्षा करते हुये सन्धि का निर्वाह करते रहना चाहिये परन्तु उचित समय आनें पर विजयाभिलाषी शासक को सन्धि की अवहेलना करके अपनें कार्य को सफल बना लेना चाहिये और शत्रु पक्ष पर दोषारोपण करते हुये सन्धि को भंग कर देना चाहिये, यही कूटनीतिक राजनीति है। क्योंकि राजनीति में कूटनीति का बहुत महत्व होता है। बिना इस प्रकार का आचरण किये कोई भी शासक शत्रुओं पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता और न ही अपने साम्राज्य का विस्तार ही कर सकता है। जैसा कि भारवि नें कहा है–

"न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि।।"[1]

भारवि ने शासन सम्बन्धी नीतियों का विश्लेषण बड़ी ही सूक्ष्मता के साथ किया है और कहा है कि अपनी उन्नति और विजय के लिये शासक को अपने शत्रुओं के क्रिया–कलापों पर सूक्ष्म दृष्टि रखना चाहिये। यदि वह यह देखे कि वर्तमान काल में उसका शत्रु शक्तिशाली है परन्तु उसका भविष्य क्षयोन्मुख है तो उस शत्रु की उपेक्षा कर देनी चाहिए। दूसरी ओर यदि शासक स्वयं भी शक्ति सम्पन्न हो तथा उसका शत्रु शक्ति सम्पन्नता की ओर उन्मुख हो तो ऐसे शत्रु की कभी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि क्षयोन्मुख शक्तिशाली शत्रु की अपेक्षा शक्ति सम्पन्नता की ओर उन्मुख शत्रु अधिक घातक होता है। जैसा कहा है–

"द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरूरस्वन्ततरः सुमर्षणः।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः।।"[2]

अभिप्राय यह है कि यदि शत्रु का उत्कर्ष वर्तमान में बढ़ रहा हो और भविष्य में शनैः शनैः क्षीण होने वाला हो तो उसकी उपेक्षा करनें में ही लाभ है और यदि इसके विपरीत स्थिति हो तो उपेक्षा नहीं करनी चाहिये अन्यथा हानि उठानी पड़ सकती है। महाकवि माघ ने भी इसी नीति का समर्थन करते हुये कहा है कि हित की कामना करने वाले राजा को उन्नति को प्राप्त करते हुए शत्रु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि बढ़ते रोग के समान शत्रु की उन्नति भी भविष्य में हानिकारक हो जाती है। यह नीति

---

1. किरातार्जुनीयम्– 1/45
2. किरातार्जुनीयम्– 2/8

राजनीति एवं व्यवहार दोनो की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, क्योकि बढ़ते हुये रोग की उपेक्षा करने पर वह एक दिन असाध्य हो जायेगा और प्राण भी ले सकता है उसी प्रकार उत्तरोत्तर उन्नति को प्राप्त करते शत्रु की उपेक्षा करने पर वह शत्रु भी एक दिन हानि ही पहुँचायेगा। अत. शासक को ऐसे शत्रु की उपेक्षा कदापि नहीं करनी चाहिये। जैसा कहा है-

"उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।
समौ हि शिष्टराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च।।"[1]

मल्लिनाथ नें भी इसी मत का समर्थन करते हुये माघ रचित शिशुपालवध के उक्त श्लोक की टीका में कहा है-

"अल्पीयसौऽप्यरेर्वृद्धिर्महानर्थाय रोगवत्। अतस्तस्यानुपेक्ष्यत्वादुभयानुसृतिः कुतः।।"

यदि इस प्रकार के नीति वचनों का पालन कोई शासक नहीं करता है तो लोकापवाद के भय से श्री (लक्ष्मी) उस राजा का यथाशीघ्र परित्याग कर देती है। अतः शत्रुओं की उपेक्षा करना शासक के लिये कदापि उचित नहीं। कामन्दक नीतिसार में भी यही कहा गया है। कि जैसे स्त्री नपुंसक व्यक्ति का परित्याग कर देती है उसी प्रकार शत्रु की उपेक्षा करने वाले आलसी शासक का लक्ष्मी परित्याग कर देती है-

'स्त्रीभिः षण्ढ इव श्रीभिरलसः परिभूयते'

अपनी उक्त नीति के समर्थन में प्रकृति को ध्यान में रखते हुये कहा है कि चन्द्रमा क्षीण होर्नें पर भी अपनी वृद्धि के लिये उद्योग करने के कारण ही पूज्यनीय होता है। इसी प्रकार क्षीण शक्ति होने पर भी यदि उत्साह सम्पन्न व्यक्ति होता है तो उसे अपने कार्यो में अवश्य सिद्धि मिलती है और लोग उसका सदैव सम्मान करते है। जैसा कहा है-

"क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधते धाम शिवं समृद्धये।
प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम्।।"[2]

इसी परिप्रेक्ष्य में मल्लिनाथ ने उक्त नीति के समर्थन में कामन्दक को भी उद्धृत किया है-

'जयं हि सततोत्साही दुर्बलोऽपि समश्नुते'

---

1 शिशुपालवधम्- 2/10

2. किरातार्जुनीयम्- 2/11

वस्तुतः मनस्वी तथा उच्च पद की प्राप्ति की इच्छा रखने वाले राजा का आत्मपौरूष ही विपत्त्यों का प्रतिकार करने में समर्थ होता है। यह नीति केवल राजा के लिये ही नहीं अपितु सामाजिक प्राणियों के लिये भी प्रासंगिक है। जो व्यक्ति विघ्नों एवं विपत्तियों का पुनः-पुनः हनन करते हुये पुरूषार्थ करता है लक्ष्मी और सफलता उसी का वरण करती है। क्योंकि विपत्तियाँ पुरूषार्थहीन व्यक्ति पर पुनः-पुनः आक्रमण करती रहती है और लक्ष्मी उस व्यक्ति का तिरस्कार करके अन्यत्र निवास के लिये चली जाती है। इसी अभिप्राय को पंचतंत्र में व्यक्त करते हुए कहा गया है कि पुरूषार्थहीन व्यक्ति की जब तक एक विपत्ति का समाधान नहीं हो पाता तब तक दूसरी विपत्ति उपस्थित हो जाती है। इस प्रकार मनुष्य की पुरूषार्थहीनता को जानकर विपत्तियाँ एक के बाद एक उसे घेरे रहती हैं-

"एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहम् पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति।।"[1]

इसी नीति को समर्थित करते हुये आगे भी कहा है कि जैसे किसी स्थान पर चोट लग जाने पर प्रायः उसी स्थान पर पुनः-पुनः चोट लगा करती है, धन के नष्ट हो जाने पर जठराग्नि (पेट की अग्नि) और प्रबल हो जाती है और विपत्तियाँ आने के समय शत्रु पक्ष की शत्रुता (बैर) अपना प्रभाव दिखाने लगती है। इस प्रकार यह नीति कही गई है कि जब विपत्तियाँ आती हैं तो चारो से आती हैं। अतः मनुष्य को सदैव उद्योगशील एवं सावधान रहने की आवश्यकता होती है। जैसा कि पंचतन्त्र में कहा गया है-

"क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णं धनक्षये दीप्यति जाठराग्निः।
आपत्सु वैराणि समुत्लसन्ति छिद्रेष्वनार्था बहुली भवन्ति।।"[2]

इस प्रकार विपत्ति से युक्त परन्तु पुरूषार्थहीन शासक का भविष्य अन्धकारमय होता है और उसका क्षय निश्चित होता है तथा उसकी गरिमा भी निश्चित रूप से नष्ट हो जाती है। अतएव नीति यही कहती है कि किसी भी विषम परिस्थिति में पुरूषार्थ का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि पौरूषहीन शासक राजलक्ष्मी को कभी नहीं प्राप्त कर सकता और अगर भाग्यवश प्राप्त भी कर लेता है तो उसे अधिक दिनों तक सुरक्षित नहीं रख सकता। जैसा कि भारवि नें कहा है-

"विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः।।"[3]

---

[1] पंचतन्त्र- मित्र सम्प्राप्ति- श्लोक 183
[2] पंचतन्त्र- लब्धप्रणाश- श्लोक 72
[3] किरातार्जुनीयम्- 2/14

अत्यन्त शक्तिशाली शत्रु के उपस्थित होने पर भी धैर्यपूर्वक पुरूषार्थ करते रहना चाहिये। जो इस नीति का पालन करता है वह कभी पराजय को नहीं प्राप्त करता और न ही जीवन में कभी असफल होता है। और जो पुरूषार्थहीन, तेजरहित तथा तिरस्कृत होते हैं ऐसे पुरूषों का जीवन तृण के समान सारहीन हो जाता है। अतः शासक का यह कर्तव्य है कि वह अपने पुरूषार्थ के बल पर ही शक्तिशाली शत्रु को जीतने का प्रयास करे तो सम्भव है कि वह सफलता को प्राप्त करके राजलक्ष्मी का चिरकाल तक उपभोग कर सके। जैसा कि पंचतन्त्र के मित्रभेद में कहा गया है-

"अत्युत्कटे च रौद्र च शत्रौ प्राप्ते न हीयते।
धैर्य यस्य महीनाथो न स याति पराभवम्।।"[1]

वस्तुतः शासक के सम्बन्ध में यही नीति है कि अपने देश, समाज एवं प्रजा की उन्नति के लिये पुरूषार्थ एवं स्वाभिमान का आश्रय ले। जिनमें इस प्रकार की भावना होती है वे शत्रुओं के उत्कर्ष को कभी सहन नही कर पाते। जिस प्रकार मेघों की गर्जना को सुनकर सिंह अपनी गर्जना से उसका प्रत्युत्तर दे देता है उसी प्रकार प्रतापी शासक का यह स्वाभव ही होता है कि वह शत्रु की उन्नति को कभी सहन नहीं कर सकता। शत्रुओं का भंजन करना ही श्रेष्ठ शासकों का पुरूषार्थ होता है। इस प्रकार राजनीति सम्बन्धी नीतियों को भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यक्त करते हुये भारवि ने राजनीति का मूलमंत्र बतलाते हुये कहा है कि किन्ही भी परिस्थितियों में शासक को बिना अच्छी प्रकार से विचार किये हुये कोई कार्य नहीं करना चाहिये। क्योंकि बिना सोंच विचार कर किये हुये कार्य का फल पश्चात्ताप ही होता है और अविवेक आपत्तियों का घर होता है। इस प्रकार जो शासक पूर्वापर विचार करनें के अनन्तर कार्य करता है ऐसे शासक के निकट उसके गुणों से प्रभावित होकर समस्त सम्पत्तियाँ स्वयं चली आती हैं। जैसा कहा है-

"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।।"[2]

भारवि की यह नीति शासक, समाज तथा व्यक्ति सभी के लिये हितकारी है, क्योंकि बिना विवेक का प्रयोग किये हुये कार्य करने वालों को फलसिद्धि 'काकतालीय न्याय' से यदा कदा ही हो जाया करती है, सदैव नहीं। परन्तु जो विचारशील, विवकेशील और पूर्वापर फल पर विचार करते हुये कार्य करते हैं ऐसे व्यक्तियों की फलसिद्धि निश्चित

---

1 पंचतन्त्र- मित्रभेद- श्लोक 112

2 किरातार्जुनीयम्- 2/30

होती है। उसमें किसी प्रकार का कोई संशय नहीं रहता। इस कारण विषम से विषम परिस्थितियों में भी विवेक के आधार पर ही सोंच समझकर कार्य करना चाहिये, पूर्ण सफलता के लिये यही नीति सर्वोत्कृष्ट है। विवेक का अभिप्राय यही है कि उन्नति की चाह रखने वाला चाहे वह राजा हो या सामान्य व्यक्ति, सभी का यह कर्तव्य है कि रोष से उत्पन्न हुये अन्धकार को विवेक बुद्धि से दूर करे। जैसे सूर्य तेजस्वी होते हुये भी रात्रि के अन्धकार को नष्ट किये बिना उदय को प्राप्त नहीं करता उसी प्रकार शासक या व्यक्ति को विवेक बुद्धि द्वारा अज्ञान को नष्ट करके सही वस्तु स्थिति की जानकारी प्राप्त करनें के बाद ही कोई कार्य करना चाहिये क्योंकि अज्ञान सबसे बड़ा शत्रु है वह अन्धकार के समान है एवं मनुष्य की विवेक बुद्धि को आवृत्त कर लेता है। अतः सफलता के लिये अज्ञानावृत्त बुद्धि को ज्ञान ज्योति से प्रकाशित करे और यह ज्ञान विवेक से उत्पन्न होता है। इशोपनिषद में भी यही नीति व्यक्त की गयी है कि जो अज्ञानी होते हैं और विवकेपूर्ण कार्य नहीं करते वे अज्ञान के आवर्त में सदैव भ्रमित होकर अपना नुकसान करते हैं–

'अन्धनतमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते'

भतृहरि ने भी यही कहा है–

"विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।।"[1]

भर्तृहरि ने इसे और भी स्पष्ट करते हुये आगे कहा है कि कार्य करने के पूर्व उसके शुभ और अशुभ परिणाम के विषय में भी अच्छी प्रकार से विचार कर लेना चाहिये, क्योंकि सहसा किये गये कार्यो का परिणाम विपरीत भी हो सकता है, जो जीवनपर्यन्त हृदय में चुभे हुये काँटे के समान सदैव कष्ट पहुँचाता रहता है। अभिप्राय यह है कि जो शासक या व्यक्ति कार्य के परिणामों के बारे में अपनी विवेक बुद्धि से पहले विचार नहीं करता वह बाद में कार्य के बिगड़ जाने पर सदैव अपनी जल्दबाजी के लिये पश्चात्ताप करता रहता है। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है–

"गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यजातम्
परिणतिखधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभस कृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः।।"[2]

---

[1]. नीतिशतक– श्लोक 11

[2] नीतिशतक श्लोक– 100

अतः जो शासक शक्तिशाली होते हुये भी क्रोध से उत्पन्न हुये अन्धकार को रोकने में समर्थ न होकर सहसा कार्य करने में प्रवृत्त हो जाता है। वह कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा के समान अपनी सम्पूर्ण शक्ति अर्थात् प्रभु शक्ति, मन्त्र शक्ति और उत्साह शक्ति को नष्ट कर देता है। जैसा कि भारवि ने कहा है-

"बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रूणाद्धि यः।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकला हन्ति स शक्तिसम्पदः।।"[1]

इस प्रकार कोपान्ध पुरूष का उत्कृष्ट पौरूष भी विफल हो जाता है परन्तु इसके विपरीत जो शासक समय के साथ मृदुता और कठोरता को विवेकपूर्ण धारण करता है वह सूर्य के समान लोक पर अपना अधिकार कर लेता है।

महाकवि माघ ने भी शिशुपालवध में राजनीति सम्बन्धी सूक्ष्म बिन्दुओं पर अपने विचार व्यक्त किये हैं जिनका प्रभाव परवर्ती नीति काव्यकारों के काव्यों में स्पष्ट परिलक्षित होता है। शासन सम्बन्धी नीति के मूल तत्व को व्यक्त करते हुये माघ ने कहा है कि अपना अभ्युदय तथा शत्रु की हानि यही मूल नीति राजनीति का मूलमंत्र है। इस नीति को ध्यान में रखकर और इसका पालन करते हुये ही शासक को शासन करना चाहिये। क्योंकि मनस्वी शासक शत्रुओं का समूल विनाश करके ही उन्नति को प्राप्त करते हैं-

"आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते।।"[2]

शत्रुओं का समूल विनाश किये बिना कोई भी प्रतापी शासक उन्नति को नहीं प्राप्त कर सकता जिस प्रकार सूर्य अन्धकार रूपी शत्रु को जब तक समूल नष्ट नहीं कर देता तब तक उदित नहीं होता और अन्धकार को नष्ट करने के पश्चात् उतरोत्तर वृद्धि (उन्नति) को प्राप्त करता है। जैसा कहा है-

"समूलघातमहनन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः।
प्रध्वंसितान्धतमसस्तत्रोदाहरणं रविः।।"[3]

शत्रुओं को समूल नष्ट किये बिना चाहे वे आन्तरिक हों अथवा वाह्य, शासक को उसी प्रकार कभी उन्नति नहीं प्राप्त हो सकती जिस प्रकार धूलि को पङ्क (कीचड़) बनाये बिना जल की स्थिति नहीं हो सकती। इसलिये शत्रुओं का समूल विनाश ही शासक या राजा के लिये आत्मोन्नति का मार्ग है। जैसा कहा है-

---

1. किरातार्जुनीयम्- 2/37
2. शिशुपालवधम्- 2/30
3. शिशुपालवधम्- 2/33

"विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा।
अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते।।"[1]

अतः जब तक एक भी शत्रु विद्यमान रहता है तब तक सुख और शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। वह एक अकेला शत्रु ही कष्ट पहुँचाता रहता है। जिस प्रकार अकेला राहु समस्त देवताओं के समक्ष चन्द्रमा को कष्ट पहुँचाता रहता है। जैसा की माघ ने कहा है। कि शासक को जब तक उसका एक भी शत्रु रहे चैन से नहीं बैठना चाहिये, क्योकि वह अकेला ही हानि पहुँचाने के लिये काफी है। जैसा कहा है-

"ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुतः सुखम्।
पुरः क्लिश्नाति सोमं हि सैंहिकेयोऽसुरद्रुहाम्।।"[2]

'शिशुपालवध' में महाकवि माघ ने राजनीति से सम्बन्धित सूक्ष्म तत्वों पर विचार करते हुये राजनीति के सदगुण, तीन शक्तियों और तीन उन्नति के प्रकारों का गम्भीरता से विवेचन किया है। राजनीति शास्त्र की भाषा में सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा समाश्रय, ये राजनीति के छः गुण माने गये हैं तथा प्रभु शक्ति, मंत्र शक्ति, उत्साह शक्ति ये तीन प्रकार की शक्तियाँ मानी गई हैं और इन तीन प्रकार की शक्तियों से उत्पन्न होने वाली सिद्धियाँ भी वृद्धि, क्षय तथा स्थान के भेद से तीन प्रकार की कही गई हैं। इनके ज्ञान से राजनीति में सफलता निश्चित रूप से मिलती है। इस विवेचन में महाकवि माघ ने राजनीति के लिये अङ्ग पंचक को छोड़कर अर्थात् सहाय, साधुनोपाय, देशकालविभाग, विपत्ति प्रतीकार तथा सिद्धि को छोड़कर अन्य कोई मंत्र नहीं है। इनका प्रयोग करने से राजनीति में कुशलता प्राप्त होती है। इसी प्रकार सन्धि आदि के विषय में भी माघ के राजनैतिक विचार अति सूक्ष्म हैं। अतः माघ का मत है कि जो मनुष्य या शासक अपनी उन्नति के लिये प्रयत्नशील नहीं होता वह पैरों से उड़ायी गई धूलि से भी हीन है। क्योंकि पैरो से उड़ाये जाने वाली धूलि भी मनुष्य के सिर पर गिरकर उसे धूलि धूसरित कर देती है, अतः वह श्रेष्ठ है। जैसा कहा है-

"पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः।।"[3]

इसी प्रकार साम, दाम, दण्ड, भेद आदि के विषय में भी महाकवि माघ ने राजनीतिक विचार व्यक्त किये हैं और राजनीति से सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों के

---

1 शिशुपालवधम्- 2/34
2 शिशुपालवधम्- 2/35
3 शिशुपालवधम्- 2/46

विश्लेषण के द्वारा नीतिपरक राजनीति की व्याख्या की है जिसका दिग्दर्शन शिशुपालवध में होता है। राजनीति के सम्बन्ध में आचार्य विष्णु शर्मा का पंचतन्त्र भी कएक अनुपम ग्रन्थ है। जिसमें व्यवहारिक राजीति का विशद विवेचन बड़ी सूक्ष्मता एवं सरलता के साथ किया गया है। जिसके अध्ययन से अल्पज्ञ भी राजनीति में कुशलता प्राप्त कर सकता है। जहाँ सर्वप्रथम यही नीति व्यक्त की गई है कि समय को परखकर ही शासक को अपना कार्य करना चाहिये और तदनुकूल उचित वक्तव्य देना चाहिये। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो निरादर तथा अपमान का पात्र बनता है तथा अपने कार्यो की सिद्धि करनें में भी असफल रहता है। जैसा कहा गया है-

"अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन।
लभते बह्ववज्ञानमपमानं च पुष्कलम्।।"[1]

राजनीति में गुप्तचरों का प्रयोग बड़ी सावधानी से और विश्वसनीयता की परख करनें के बाद ही करना चाहिये, क्योंकि राजा के नेत्र गुप्तचर ही हुआ करते हैं। अतः उचित स्थान पर तदनुकूल योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति करनें पर ही राज्य तथा शासक का कल्याण सम्भव है। राजनीति का यह भी मूलमंत्र है कि यदि राजा को कोई अल्प कार्य भी करना हो तो वह भी उसे सभी के सम्मुख प्रकट नहीं करना चाहिये, क्योंकि छः कानों में पहुची हुई मन्त्रणा के प्रकट हो जानें की सम्भावना बनी रहती है परन्तु चार कानों में गई मंत्रणा स्थिर रहा करती है। अतः कोई भी गुप्त वार्ता राजा और सचिव के मध्य ही रहनी चाहिये। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि राजा किसी एक ही मन्त्री पर सम्पूर्ण राजकार्यो का भार न सौंपे, किसी एक को ही प्रामाणिक अधिकारी न बनावे। क्योंकि ऐसा करने पर मन्त्री अहंकार से ग्रस्त हो सकता है और अन्त में शासक को ही समाप्त करके शासन सूत्र को स्वयं प्राप्त करने की अभिलाषा रखने की नीति का अनुसरण कर सकता है। अतः शासक को इन सभी बातों पर गौर करने के पश्चात् ही कोई कदम उठाना चाहिये। जैसा कि पंचतन्त्र में कहा गया है-

"एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा
तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदाद्दास्येन निर्विद्यते।
निर्विण्णस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः प्राणेष्वमिद्रुह्यते।।"[2]

जो शासक उक्त नीतियों का पालन न करते हुये अपनी प्रजा की रक्षा नहीं

---

1 पंचतन्त्र- मित्रभेद- श्लोक 67
2 पंचतन्त्र- मित्रभेद- श्लोक 263

करता है और उन पर पुत्रवत स्नेह नहीं दिखाता उस शासक का सम्मान नहीं होता। अतः राजा का कर्तव्य है कि अपने सेवकों और अपनी प्रजा की अपने प्राणों के समान रक्षा करे और अपने शरीर के समान ही उनका पोषण करे अन्यथा वह राजा सद्गति को नहीं प्राप्त कर सकता। जैसा काकोलूकीयम् में कहा गया है-

"प्राणवद्रक्षयेद् भृत्यान्स्वकायमिव पोषयेत्।
सदैकदिवसस्यार्थे यत्र स्याद्रिपुसङ्गमः।।"[1]

राजा के अतिरिक्त प्रजा का अन्य कोई सहायक नहीं होता। वही उसका पालक, पोषक और पितृवत् होता है। जैसा कि कालिदास ने रघुवंश में कहा है-

"प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।।"[2]

उद्भट सागर में भी कहा गया है कि जिनका कोई सहायक नहीं होता राजा उनका सहायक होता है। वह नेत्रहीनों का नेत्र होता है और न्यायमार्ग पर चलनें वालों का माता-पिता होता है। इस प्रकार राजा ही अपनी प्रजा का पालन पोषण करनें में समर्थ होता है ऐसा सभी नीतिकारों ने माना है। जैसा कि उद्भटसागर मे स्पष्ट किया है-

"राजा बन्धुरबन्धूनां राजा चक्षुरचक्षुषाम्।
राजा पिता च माता च सर्व्वेषां न्यायवर्तिताम्।।"[3]

अतएवं सवप्रथम राजा की शरण लेनी चाहिये तत्पश्चात भार्या और धन की चिन्ता करनी चाहिये। क्योंकि राजा अर्थात् रक्षक के न रहने पर इस लोक में भार्या और धन का कोई महत्व नहीं रह जाता। भार्या और धन की सुरक्षा तभी तक सम्भव है जब तक उनकी रक्षा करने वाला राजा सुरक्षित रहता है। अतः प्रजा की सुरक्षा में राजा का हित तथा राजा की सुरक्षा में प्रजा का हित निहित रहता है। जैसा कहा है-

"राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्य्या ततो धनम्।
राजन्यसति लोकऽस्मिन कुतो भार्य्या कुतो धनम्।।"[4]

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में भी राजा और प्रजा के सम्बन्ध को पिता एवं पुत्र के समान बतलाते हुये कहा गया है-

"येन-येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्।।"[5]

---

1 पंचतन्त्र-काकोलूकीयम्- श्लोक- 124
2 रघुवंश-1/24
3 उद्भट सागर- 1/35
4 उद्भट सागर- 1/36
5 अभिज्ञान शाकुन्तलम् - 6/23

अभिप्राय यह है कि कोई मृत व्यक्ति पापी हो तो राजा उसका बन्धु नहीं माना जायेगा और ही उस व्यक्ति के पापात्मक कार्यो में वह (शासक) सहयोगी ही होगा। क्योंकि राजा तो सुकृत्य करने वालों का बन्धु होता है, पाप कर्म करने वालों को वह स्वयं दण्ड देने का अधिकारी होता है। यदि उसके प्रजाजनों में से किसी स्त्री का स्नेही पति मृत्यु को प्राप्त हो जाय तो राजा उस विधवा स्त्री का पति नहीं बनेगा परन्तु उसका रक्षक अवश्य होगा। इस प्रकार कालिदास ने राजा और प्रजा के सम्बन्ध को एक उच्च आदर्श प्रदान करते हुये नीति का कथन किया है।

भर्तृहरि ने राजा को भूमिपति के रूप में प्रस्तुत करते हुये यह नीति व्यक्त की है कि यदि राजा वसुधा रूपी गाय को दुहना चाहता है तो अपनी प्रजा का पालन-पोषण गाय के बछड़े के समान करे, क्यों कि जब प्रजा सुखी और समृद्ध रहती है तो पृथ्वी कल्पतरू बनकर राजा को स्वयं मनवांछित फलों को प्रदान कर देती है। जैसा कहा है-

"राजन्! दुधुक्षसि यदि क्षिति धेनुमेतां
तेनाद्य वत्समि लोकमिमं पुषाण।
तर्स्मिश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे
नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः।।"[1]

यहाँ पर उक्त नीति का अभिप्राय यह है कि पृथ्वी का दोहन अर्थात् उसकी उपज के रूप में धन-धान्य की प्राप्ति करना शासक के लिये अभीप्सित है। और यह तभी सम्भव है जब प्रजा समस्त बाधाओं से रहित होकर निर्भय रहे।

भर्तृहरि ने राजनीति के सम्बन्ध में यह भी कहा है कि किसी भी राजा का राज्य केवल सत्य या केवल असत्य पर निर्भर नहीं रहना चाहिये। शासन के लिये मध्यम मार्ग को अपनाना आवश्यक होता है इसके लिये दण्ड और उदारता, कठोरता और कोमलता दोनो का आश्रय लेना पड़ता है। किसके साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय, कौन दण्ड का पात्र है और कौन उदारता का इसका ध्यान राजा को अवश्य रखना चाहिये। क्योंकि राजा की नीति अनेक रूपों वाली होती है इसकी अस्थिरता में ही स्थिरता का रहस्य छिपा रहता है। इसी भाव को व्यक्त करते हुये कहा गया है-

"सत्यऽनृता च पुरूषाः प्रियवादिनी च
हिंस्रा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या।
नित्यव्यया प्रचुरनित्यधनागमा च,
वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेक रूपा।।"[2]

---

1 नीतिशतक- श्लोक 47
2 नीतिशतक- श्लोक 48

साथ ही भर्तृहरि ने यह नीति भी व्यक्त की है कि शासन कार्य में अनेक लोग संलग्न रहते हैं और अनेक कठिनाइयाँ आती हैं, इसके लिये आज्ञा अर्थात् नियम का पालन नितान्त आवश्यक है। नियम तथा न्यायानुसार कार्य करने वाले शासक को ही यश की प्राप्ति होती है। प्रजापालक में शोषण की नहीं अपितु रक्षा तथा सेवा की भावना होनी चाहिये। धन का अपव्यय न करते हुये उसे प्रजा की भलाई के लिये सत्कार्यों में लगाना चाहिये। प्रजाजनों की शिक्षा आदि की व्यवस्था करना भी राजा का कर्तव्य होता है। राजकोष में एकत्रित धन राजा की व्यक्तिगत सम्पत्ति न होकर प्रजा का ही धन होता है, इसको ध्यान में रखते हुये ही राजा को उसका उपभोग अथवा प्रजाजनों के लिये उसका उपयोग करना चाहिये। जैसा कहा है-

"आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्रह्मणानां दानं भोगो मित्र संरक्षणं च।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण।।"[1]

इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि शासक अपने विश्वास पात्र सेवकों को धनादि देकर उनका सम्मान करता रहे। इस प्रकार धन, वचन, आदि से सम्मानित होने वाले सेवक परिस्थितिवश स्वामी के विपन्न हो जाने पर भी उसका साथ कभी नहीं छोड़ते और उसका हित करने में ही सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर पंचतन्त्र के मित्रसम्प्राप्ति में यह नीति कही गई है-

"यः संमानं सदा धत्ते भृत्यानां क्षितिपोऽधिकम्।
वित्ताभावेऽपि तं दृष्ट्वा ते त्यजन्ति न कर्हिचित्।।"[2]

इसके विपरीत जो शासक दुःखावस्था में अपने सेवकों का सहयोग नहीं करता और न ही उनके दुःख की निवृत्ति का उपाय ही करता है, वह शासक नरक का भागी होता है। ऐसे राजा के विपन्न होने पर उसके सेवक उसका परित्याग कर देते हैं। परन्तु जो राजा अपने सेवको पर सदैव दयादृष्टि बनाये रखता है वह राजा तीनों लोकों की रक्षा करने में समर्थ होता है। अतएव कहा गया है-

"कारूण्यं सविभागश्च यस्य भृत्येषु सर्वदा।
सभवेत्स महीपालस्त्रैलोक्यस्यापि रक्षणे।।"[3]

पंचतन्त्र में यह भी नीति व्यक्त की गई है कि शासक को कभी आलस्ययुक्त नहीं होना चाहिये उसे प्रत्येक कार्य को करनें में पूर्ण सावधानी एवं सतर्कता रखनी चाहिये।

---

[1] नीतिशतक - श्लोक 49
[2] पंचतन्त्र - मित्रसम्प्राप्ति - श्लोक 23
[3] पंचतन्त्र - मित्रसम्प्राप्ति - श्लोक 26

समय पर कार्य को पूर्ण करना भी शासक का प्रमुख कर्तव्य है। आलस्य में पड़कर वृद्धि को प्राप्त हुये भी यदि वह शत्रु की उपेक्षा करता है तो पराजय को प्राप्त होता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति यदि रोग की उपेक्षा करता है तो वह रोग मनुष्य पर विजय प्राप्त करके उसे नष्ट कर देता है, उसी प्रकार राजा को भी अपने शत्रु की उपेक्षा न करके पराजित करने का प्रयास करना चाहिये, अन्यथा रोग के समान वह शत्रु राजा को समाप्त करने के लिये उद्धत हो जायेगा। अतएव पंचतन्त्र के काकोलूकीयम् के निम्न श्लोकों में उक्त नीति का प्रणयन किया गया है–

> "य उपेक्षेत शत्रुं स्वं प्रसरन्तं यदृच्छया।
> रोगं चाऽलस्यसंयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते।।"[1]
> "जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिञ्च प्रशमं नयेत्।
> महाबलोऽपि तेनैव वृद्धिं प्राप्य स हन्यते।।"[2]

उक्त नीति का अभिप्राय यह है कि यदि राजा स्वयं प्रमादी होगा तो उसके कर्मचारी भी प्रमाद करने लगेंगे और ऐसी अवस्था में उसके कर्मचारी शत्रु पक्ष से मिलकर उसे समाप्त करने की योजना भी बना सकते हैं। अतः शासक को आलस्य रहित होकर सावधानी से अपनी तथा राज्य की उन्नति के लिये सदैव सचेष्ट रहना चाहिए।

नीति काव्यों में व्यक्त राजनीति सम्बन्धी इस प्रकार की नीतियों का उद्देश्य यही लगता है कि नीतिकारों ने राष्ट्र की उन्नति को सदैव अपने काव्यों का विवेच्य बनाये रखा, क्योंकि नीति विहीन राज्य की कल्पना नितान्त असम्भव है। इसीलिये नीतिकारों ने शासक के लिये प्रजा के लिये तथा समाज के हर वर्ग के लिये उन नीतियों का प्रतिपादन बहुलता के साथ किया है जिनसे राजा का, प्रजा का एवं अन्य सभी वर्ग के लोगों का हित साधन हो एवं वे राष्ट्र की उन्नति के लिये कार्य कर सकें। राजनीतिक नीतियाँ इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण प्रतीत होती हैं कि यदि राज्य समृद्धशाली होगा तो प्रजा एवं राजा स्वयं ही सुख शान्ति को प्राप्त करेंगे अन्यथा समाज में सर्वत्र उच्छृन्खलता व्याप्त हो जायेगी। और उच्छृन्खल समाज उन्नति नहीं अपितु अवनति के मार्ग पर ही अग्रसर होगा। नीतिकारों ने इन्हीं सब बातों पर गौर करते हुये जो भी नीतियाँ राजनीति की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं उन सबका प्रतिपादन अपने नीतिकाव्यों में यथावसर करनें का सफल प्रयास किया है और उन्हीं नीति वाक्यों को चुनकर रखनें की कोशिश की है जो राजनीति सम्बन्धी नीतियों के परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं।

---

[1] पंचतन्त्र- काकोलूकीयम् – श्लोक 2
[2]. पंचतन्त्र- काकोलूकीयम् – श्लोक 3

(VI)
मनोवैज्ञानिक नीतियाँ

मनोविज्ञान से हमारा तात्पर्य यह है कि किसी भी प्राणी के हाव-भाव को देखकर उसके अदृश्य क्रिया-कलापों का ज्ञान प्राप्त कर लेना अर्थात् मन से सम्बन्धित जिस विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति की जाती है वही मनोविज्ञान है-**'मनसः विज्ञानं मनोविज्ञानं'**। मन ही मनुष्य के क्रिया-कलापों का मूल कारण होता है, अतएव **'संकल्प विकल्पात्मकं मनः'** यह मन की परिभाषा की गई है। इसी परिभाषा के आधार पर यह निश्चित किया गया है कि बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में मन की क्या स्थिति होती है इसको जान लेना ही मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। मन में ही इच्छा की उत्पत्ति होती है और तदनुसार मनुष्य में प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है तथा हानोपादानोपेक्षा की बृद्धि का उदय होता है। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुये नीतिकारों ने परिस्थिति एवं परिप्रेक्ष्य के आधार पर नीतियों को व्यक्त किया है। जैसे नीतिकार ने कहा है कि विद्या से अलंकृत होने पर भी दुष्ट व्यक्ति का परित्याग कर देना चाहिये-

''दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलंकृतोऽपि सन्।।''[1]

यह कथन मनोविज्ञान की ओर ही संकेत करता है क्योंकि किसी भी व्यक्ति को देखकर उसकी सज्जनता या दुर्जनता का पता नहीं लगाया जा सकता जब तक कि उसके क्रिया-कलापों को देखकर उसका अध्ययन न किया जाय। यह अध्ययन ही सज्जन और दुर्जन में पार्थक्य करता है। इस अध्ययन में मनुष्य की मनः प्रवृत्तियों का सूक्ष्म विश्लेषण निहित रहता है और यह विश्लेषण ही नीति काव्यकारों का मुख्य विषय बन जाता है। जैसे हम किसी क्रोधित या प्रसन्नचित्त व्यक्ति को जब देखते हैं तो उसके हाव भावों से उसके क्रोध अथवा प्रसन्नता का ज्ञान हो जाता है। हमारे इस कथन की पुष्टि 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' के इस कथन से भी हो जाती है जहाँ आखेट की प्रशंसा करता हुआ सेनापति कहता है-

''सत्वानामपि लक्ष्यते विकृतिमच्चितं भयक्रोधयोः।।[2]

अर्थात जन्तुओं का भी भय तथा क्रोध की अवस्था का ज्ञान उन्हें देखकर हो जाता है, यही मनोविज्ञान है। जिसका सम्बन्ध लोगों के हाव-भाव अथवा आचरण से है। प्राणी जिस प्रकार का आचरण करते हैं एवं हाव-भाव व्यक्त करते हैं तदनुकूल ज्ञान प्राप्त

---

1. नीतिशतक-श्लोक 54
2 अभिज्ञान शाकुन्तलम्-2/5

कर लेना ही मनोविज्ञान है। आचरण का सम्बन्ध समाज के सभी व्यक्तियों से रहता है। इसी को ध्यान में रखकर नीतिकारों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। इस सरणि में जब हम विचार करते हैं तो यही प्रतीत होता है कि प्रत्येक प्राणी में सुख-दुःख की भावनायें निहित रहती है। इन दोनों में मनुष्य सुख की ही अधिक इच्छा करता है, दुःख की नहीं। सुख में वह प्रसन्न होता है और दुःख में मलीन। इन्हीं भावों को देखकर नीतिकारों ने नीतियों का प्रणयन किया है और यही उनके अध्ययन का आधार है। इस प्रकार नीति और मनोविज्ञान दोनों का सम्बन्ध महत्वपूर्ण माना जा सकता है। क्योंकि मनुष्यों के मन में अनेक प्रकार के संकल्प, आवेग, संवेग तथा इच्छायें उत्पन्न हुआ करती हैं जिनका विश्लेषण करते हुये परिस्थिति के आधार पर नीति काव्यकारों ने नीतियाँ कही हैं, जिससे अन्य लोगों को भी उन परिस्थितियों का ज्ञान हो सके। इस प्रकार मानव मन की अनुभूतियों का ज्ञान व अध्ययन नीति वचनों को सार्थक बना देता है। इस विज्ञान के अन्तर्गत न केवल मनुष्य आते हैं अपितु पशु-पक्षियों का भी समावेश हो जाता है और इन सबको आधार मानकर जन सामान्य के लिये नीतियों का प्रणयन किया गया है। जैसे श्वान (कुत्ता) अपने मन की इच्छाओं को अपने स्वामी के सामने किस प्रकार प्रकट करता है, इसका मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हुये भर्तृहरि ने नीतिशतक में कहा है-

"लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौनिपत्य वदनोदर दर्शनं च।
श्वा पिण्डदस्य कुरूते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते।।"[1]

यहाँ पर भर्तृहरि ने श्वान तथा गज की चेष्टाओं के आधार पर उनकी इच्छाओं का चित्रण किया है कि दो भिन्न-भिन्न प्राणियों की मनः स्थिति कैसी होती है। एक ओर श्वान अपनी मानसिक इच्छाओं को एवं अपने प्रेम को अपने स्वामी के चरणों पर लोट्कर तथा पूँछ हिलाकर प्रदर्शित करता है वहीं दूसरी ओर गम्भीर प्रकृति वाला हाथी शान्त भाव से अपने स्वामी को देखता है और स्वामी के द्वारा दुलार प्रदर्शित करने पर वह भोजन ग्रहण करता है। यह मनोविज्ञान दोनों के क्रिया-कलापों से प्रकट हो जाता है। इसे हम व्यवहारिक जीवन में भी देखते हैं कि जब किसी का स्वार्थ होता है तो व्यक्ति अनेक प्रकार से प्रशंसा करते हुये अपने स्वार्थ की पूर्ति का प्रयास करता है, यही मन्तव्य यहाँ पर प्रदर्शित किया गया है।

1. नीतिशतक-श्लोक 32

वनस्पतियों को भी आधार बनाकर नीति वचन कहे गये हैं। जैसे नीलकण्ठ दीक्षित ने वृक्ष को माध्यम बनाकर उसके नीचे बैठे हुये पथिकों की मनोदशा का चित्रण करते हुये कहा है कि हे वृक्ष तुम पथिकों को छाया और फल देकर उन्हें आनन्दित करते हो और स्वयं आनन्दित होते हो परन्तु वे पथिक तुम्हारे विषय में क्या विचार करते हैं इस पर तुम ध्यान नहीं देते हो। वे पथिक तुम्हें देखकर अपने-अपने मन में भिन्न-भिन्न प्रकार की भावनायें रखते हैं। थके हुये पथिक तुम्हारी छाया में एक साथ बैठकर आनन्दित होते हैं, परन्तु वे सभी इसके लिये तुम्हारी प्रशंसा नहीं करते, अपितु उनमें से कोई तो तुम्हारे इस निःस्वार्थ योगदान को देखकर अत्यन्त प्रसन्न होता है, तो कोई तुम्हें काटकर आधार यष्टि और कोई कपाट बनाने का मन में संकल्प करता है। इस प्रकार मानव मन की भावनायें किसी को देखकर किस प्रकार परिवर्तित होती रहती हैं इसका मनो वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुये कवि ने कहा है-

"छायावृक्षमुपाश्रयन्ति पथिषु श्रान्ता हि पान्थाः समं
तेष्वेकोऽस्य शुभं शुभेन मनसा हृष्यन्ननुध्यायति।
अन्यो हर्तुमपेक्षतेऽस्य विटपानाधारयष्टेः कृते
कश्चिन्निश्चिनुते कवाटफलकं कर्तुं तमेव क्षणात्।।"[1]

इस कथन के द्वारा यही नीति बतलायी गई है कि सबको प्रसन्न रखने वाले व्यक्ति को कभी अपनी निस्वार्थ भाव की सेवा पर ही गर्वित नहीं होना चाहिये अपितु इस बात पर भी सदैव विचार करते रहना चाहिये कि उसके सम्बन्ध में आश्रयी अपने मन में क्या-क्या विचार रखते हैं, तभी वह समाज में सफल हो सकता है।

किसी धन संचयी कृपण व्यक्ति की मानसिक अवस्था का वर्णन करते हुये क्षेमेन्द्र ने कहा है कि जब कोई व्यक्ति रोग से पीड़ित हो जाता है तो वह भोज्य पदार्थ को खाने की कौन कहे आंखों से देखने की भी इच्छा नहीं करता। इस प्रकार जब वह तीव्र व्यथा से व्यथित हो जाता है और निरोगता के लिये प्रयोग होने वाली सभी औषधियाँ विफल हो जाती हैं तब उस व्यक्ति की मनोदशा अतिविचित्र हो जाती है। वह कभी संचित धन की ओर देखता है और कभी जर्जर होते हुये मरणोन्मुख अपने शरीर को देखता है, उस समय उसकी बड़ी दयनीय हो जाती है तब वह अपने संचित धन के विषय में सोचता है कि कष्ट उठाकर संचित किया गया धन मेरे किसी काम नहीं आ रहा है। अतः धन संचित करके कृपण जिस भावी सुख की कल्पना में निमग्न रहा करता था वे सभी

1. अन्यापदेशशतकम्-श्लोक 1

कल्पनायें व्यर्थ ही प्रतीत होने लगती हैं। और वह धन की असारता पर विचार करने लगता है-

"रोगार्दितः स्पृशति नैव दृशापि भोज्यं
तीव्रव्यथः स्पृहयते मरणाय जन्तुः।
सर्वौषधेषु विफलेषु यदा विरौति
धान्यैर्धनेन च तदा वद किं करोति।।"[1]

महाकवि शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' प्रकरण में मनोवैज्ञानिक नीति का समावेश करते हुये जो सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है, वह अद्वितीय है। धन सम्पन्नता के बाद निर्धन होने पर जो स्थिति होती है उस अवस्था का सजीव नीतिपूर्ण चित्रण इस प्रकरण में देखने को मिलता है। प्रकरण का नायक चारुदत्त अपनी दानशीलता के कारण जब निर्धनता को प्राप्त हो जाता है तब उसकी मनोदशा का जो चित्रण किया गया है वह मनोवैज्ञानिक होने के साथ ही साथ समाज को नैतिक शिक्षा भी देता है। चारुदत्त कहता है कि यह निर्धनता, सुखों का अनुभव करने के पश्चात जब आती है तो वह मनुष्य शरीर धारण करते हुये भी मृतक के समान होता है, क्योंकि दुःखों का अनुभव करने के बाद जो सुख की स्थिति आती है वही आनन्ददायक होती है। जैसा कहा है-

"सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति।"[2]

निर्धन व्यक्ति की मानसिक अवस्था बड़ी ही दयनीय होती है। उसके मन में अनेक प्रकार के भाव उठते और तिरोहित होते रहते हैं, विवश होकर वह मरण को ही श्रेष्ठ समझने लगता है। अर्थात् वह अपनी मनोदशा के अनुसार दरिद्रता और मरण के मध्य में झूलता हुआ मरण को ही श्रेष्ठ समझता है। उसकी मानसिक स्थिति विक्षिप्त सी हो जाती है। वह सोचता है कि दरिद्र रहने की अपेक्षा मृत्यु ही इससे मुक्ति दिलाने में समर्थ है, क्योंकि मृत्यु में तो अल्प ही कष्ट होता है परन्तु दरिद्रता तो जीवन पर्यन्त तुषाग्नि के समान शनैः-शनैः जलाया करती है। अतएव कहा है-

"दरिद्रयान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्रयम्।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्रयमनन्तकं दुःखम्।।"[3]

---

1 दर्पदलनम्-2/63
2 मृच्छकटिक-1/10
3 मृच्छकटिक-1/11

निर्धनता की अवस्था में जो मानसिक स्थिति होती है, उस मानसिक स्थिति को केवल निर्धन व्यक्ति ही अनुभव कर सकता है और ऐसी स्थिति में किस प्रकार के भाव उसके अन्दर उठते हैं उसका मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हुये कहा गया है कि धन के नष्ट हो जाने पर अन्य कोई चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि धन तो भाग्यवश आता जाता रहता है, परन्तु इस अवस्था में सबसे बड़ा कष्ट यह होता है कि जो अपने लोग होते हैं और जिनसे अटूट सम्बन्ध होता है, वे भी सम्बन्धों को भूलकर निर्धन व्यक्ति से मुँह चुराने लगते हैं, यही विडम्बना है-

> "सत्यं न मे विभवनाशकृताऽस्ति चिन्ता
> भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति।
> एतत्तु मां दहति, नष्टधनाश्रयस्य
> यत् सौहृदादपि जनाः शिथिली भवन्ति।।"[1]

निर्धन व्यक्ति अपनी विपन्नावस्था पर विचार करते हुये सोचता है कि निर्धनता ऐसी वस्तु है कि जिससे सर्वप्रथम लज्जा प्रबल हो उठती है, लज्जा से तेज नष्ट हो जाता है और तेज नष्ट हो जाने पर सम्मान नष्ट हो जाता है तथा अपमान से ग्लानि और ग्लानि से शोक की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जब व्यक्ति शोकाकुल हो जाता है तो उसका विवेक नष्ट हो जाता है और विवेक नष्ट हो जाने पर पतन निश्चित रूप से हो जाता है। अतः इससे यह सुस्पष्ट है कि निर्धनता सभी आपत्तियों का मूल होती है। इसीलिये निर्धनता को मनुष्य के लिये एक अभिशाप माना गया है क्योंकि निर्धन मनुष्य का सब कुछ क्षण मात्र में ही विनष्ट हो जाता है। जैसा कहा है-

> "दारिद्रयाद्धियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
> निस्तेजाः परिभूयते, परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
> निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्धया परित्यज्यते।
> निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निर्धनता सर्वापदामास्पदम्।।"[2]

निर्धनता जीवन में कितनी भयानक और अपमानजनक होती है इसका मनोवैज्ञानिक चित्रण करते हुये यह नीति भी उद्घाटित की गई है कि निर्धनता से बचने के लिये उद्योगशील होकर धन प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये परन्तु विवेक को नहीं छोड़ना चाहिये। क्योंकि विवेक के नष्ट हो जाने पर ही मनुष्य के पतन का मार्ग स्वतः प्रशस्त हो जाता है।

---

1 मृच्छकटिक - 1/13
2 मृच्छकटिक -1/14

अभिज्ञान शाकुन्तलम में भी कालिदास ने मानसिक स्थिति का सजीव एवं मनोहारी वर्णन प्रस्तुत किया है। शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मन में आकर्षण उत्पन्न होता है और वह सोचता है कि क्या यह जीवन पर्यन्त तप ही करती रहेगी? क्या इसका विवाह किसी ऋषि के साथ होगा? यह ब्राह्मण कन्या है या कोई क्षत्रिय कन्या है? इस प्रकार की अनेक स्थितियों के उत्पन्न होने पर वह आन्तरिक भावना से प्रेरित होकर सोचता है कि यह कन्या निश्चित रूप से क्षत्रिय के ग्रहण करने योग्य है क्योंकि मेरा श्रेष्ठ मन इसकी ओर आकर्षित हुआ है। विषम परिस्थितियों में श्रेष्ठ लोगों के मन की प्रवृत्तियाँ ही प्रमाण हुआ करती हैं। जैसा कहा है-

''असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः।।''[1]

इस प्रकार नीतिकारों ने न केवल वाह्य पक्ष पर ध्यान दिया है बल्कि मनुष्य के अन्दर जो आन्तरिक अन्तर्द्वन्द चला करता है उनका भी अध्ययन करके इस प्रकार की मनोविज्ञान सम्बन्धी नीतियों का प्रणयन किया है। इसके अन्तर्गत मनुष्य के वाह्य हाव-भावों को देखकर उसके अन्तर्मन के माध्यम से भी नीतियाँ कही गई हैं और नीतिकारों द्वारा निज अनुभूत मनुष्य के अन्तरस्तल में उत्पन्न होने वाले विचारों के माध्यम से भी नीतियाँ कही गई हैं। इन नीतियों के माध्यम से यह ज्ञान प्राप्त होता है कि मनुष्य के आन्तरिक मनोभावों में किस प्रकार के विचार आते और जाते रहते हैं जो यह निर्धारित करते हैं कि मनुष्य सद्विचार कर रहा है या असद् विचार का निर्णय ले रहा है।

*** *** *** *** ***

1 अभिज्ञान शाकुन्तलम्-1/22

तृतीय अध्याय

नीतिपरक काव्यों के विविध माध्यम

भारतीय चिन्तकों ने अपनी उर्वरा बुद्धि का प्रयोग न केवल मानवों के गुणों के अध्ययन करने में किया अपितु विधि के बनाये हुए जितने जीव जन्तु इस धरातल पर विचरण करते हैं उन सभी के गुणों–अवगुणों, विशेषताओं आदि का सूक्ष्म अध्ययन किया। इस प्रकार जहाँ चेतन प्राणियों को ध्यान में रखा वहीं अचेतन वनस्पति, पर्वत, नदी आदि को भी अपनी नीति का माध्यम बनाया। यही माध्यम जब अनुभव की कसौटी पर खरे उतरे तो उन्हीं अनुभवों को मानवों के हित के लिए नीतियों के रूप में प्रस्तुत कर दिया।

जैसे प्राचीन परम्परा में विद्यार्थियों के लिये जो नियम निर्दिष्ट किये गये उन नियमों से हमारे उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है, जहाँ कहा गया है कि विद्यार्थियों में काक के समान चेष्टा होनी चाहिये और श्वान के समान निद्रा। जिसमें ये गुण होते हैं वह व्यक्ति गुणग्राहकता में सफल होता है। इसके लिये काक और श्वान, पक्षी और पशु के गुणों को ग्रहण किया गया। पौनः पुन्येन इनकी प्रवृत्तियों का अनुभव जब चिन्तकों ने किया तो उसे नीति के रूप में अंगीकार कर लिया। इस प्रकार नीतिपरक संस्कृत काव्य मुक्तकों पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो स्पष्ट रूप से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन नीतिकारों ने अपने नीतिपरक बचनों में न केवल शस्त्रीय विधानों को माध्यम बनाया है अपितु इसके अन्तर्गत पशुओं, पक्षियों, वनस्पतियों, पर्वतों, वृक्षों अर्थात् जड़ जंगम सभी को अपना माध्यम बनाने में संकोच नहीं किया। इन सबके गुणों को कहीं अन्योक्ति तो कहीं अन्यापदेश और कहीं दृष्टान्त के रूप में उद्धृत किया है, जिनका स्वरूप नीति परक संस्कृत मुक्त काव्यों में देखने को मिलता है। इसी आधार पर हम इस अध्याय में 'स्थालीपुलाक- न्याय' के अनुसार नीति काव्यों में प्रयुक्त विभिन्न माध्यमों को लेकर जो नीति परक वचन कहे गये हैं, उनका दिग्दर्शन कराने का प्रयास कर रहा हूँ।

इस क्रम में सर्वप्रथम चेतन तत्पश्चात् अचेतन माध्यमों का प्रसंगतः उल्लेख करेंगे। इन सभी माध्यमों से जिन नीतियों का प्रस्फुटन नीतिकारों ने किया है उनमें ननु–नच को कोई प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि इनके माध्यम से कहे गये नीति वाक्य अत्यन्त सटीक एवं सारगर्भित हैं–

(I)
पशुओं के माध्यम से कही गयी नीतियाँ

इस क्रम में हम सर्वप्रथम उन नीति वचनों की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहें हैं जो पशुओं को माध्यम बनाकर कहे गये हैं। इस प्रसंग में स्वाभिमानी एवं शाक्तिमान के रूप में सिंह को सभी काव्यकारों ने अपने काव्यों में किसी न किसी रूप में स्थान दिया है। भारवि ने किरातार्जुनीयम् में अनेक बार स्वाभिमानी पशु के रूप में सिंह को उद्धृत किया है, और यही सिंह के माध्यम से नीति व्यक्त की है कि किसी भी परिस्थिति में मनुष्य को अपने स्वाभिमान को नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि मनस्वी व्यक्तियों का एकमात्र धन स्वाभिमान ही होता है। जो स्वाभिमान के साथ अडिग रहते हैं उनका सभी सम्मान करते हैं। जैसे जब तक पुष्प वृक्ष में लगा रहता है तभी तक उसका सम्मान रहता है और देवताओं पर चढ़ाया जाता है परन्तु शाखा से गिर जाने के पश्चात उसका कोई महत्व नहीं रहता। इसी प्रकार सिंह भी एक स्वाभिमानी पशु है वह अनेकों उपवास कर सकता है परन्तु माँस का ही भक्षण करता है घास नहीं खाता। यह प्रवृत्ति जब पशु में विद्यमान है तो स्वाभिमान की रक्षा के लिये उसके इस गुण को ग्रहण करना ही सर्वोत्तम है। इससे यह व्यक्त किया गया है कि मनुष्य का यह कर्तव्य है कि अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिये लगन के साथ स्वाभिमान को भी बनाये रखे। इनकी रक्षा के लिये कितनी भी कठिनाइयाँ क्यों न उपस्थित हों उनको दूर करते हुये आगे बढते रहना चाहिये। जैसे सिंह शाक्तिमान भी है और स्वाभिमानी भी। अतः वह गज मस्तक को विर्दीण करके ही अपना भोजन प्राप्त करता है, उसे भूखा रहना सह्य है परन्तु भोजन के लिये स्वाभिमान से समझौता करना स्वीकार्य नहीं। जैसा कि भर्तृहरि ने कहा है-

"क्षुत्क्षामोऽपि जरा कृशोऽपि शिथिलप्राणोऽपि कष्टां दशां-
मापन्नोऽपि विपन्नदीधितरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि।
मत्तेभेन्द्र विभिन्नकुम्भपिशितग्रासै कबद्धस्पृहः
किं जीर्ण तृण मत्ति मानसहतामग्रेसरः केसरी।।"[1]

उद्भट सागर में भी सिंह के माध्यम से यही नीति कही गयी है कि स्वाभिमानी व्यक्ति कभी अपने स्वभाव से स्खलित नहीं होते। जैसे निरन्तर मद को प्रवाहित करने वाले हाथियों के माँस से क्षुदा निवृत्ति करने वाला सिंह गज के न प्राप्त होने पर भी कभी घास नहीं खाता-

[1] नीतिशतक - श्लोक 30

"सदाऽमन्दमदस्यन्दिमातङ्गपिशिताशनः।
अलब्धाभीष्टभक्ष्योऽपि तृणान्यत्ति न केशरी।।"[1]

इससे यह भी स्पष्ट होती है कि उन्नति चाहने वाले व्यक्ति को सदैव उत्तम पदार्थो तथा श्रेष्ठ कार्यो पर ही अपनी दृष्टि रखनी चाहिये, साधारण वस्तुओं पर नहीं। क्योंकि साधारण वस्तुओं पर दृष्टि रखने से स्वभाव में नीचता आ जाती हैं और इस प्रकार का स्वाभिमानी व्यक्ति जहाँ भी रहता है वहाँ सर्वोपरि स्थान पाता है और इस प्रकार के स्वाभिमानी, मनस्वी तथा तेजस्वी व्यक्ति के न रहने पर भयमुक्त होकर नीच प्राणी (निम्न कोटि के प्राणी) उच्छृंखल हो जाते हैं। जैसा कि उद्भट सागर मे कहा गया है कि हे सिंह तुम्हारे बिना वन की क्या दशा हो गई है कि कहीं मृग क्रीड़ा कर रहे हैं, हाथी गर्व से घूम रहे हैं और हाथियों के बच्चे निर्भय होकर क्रीड़ा करते हुये पर्वतों (चट्टानों) को उखाड़ रहे है–

"एणः क्रीडति शूकरश्च खनति द्वीपी च गर्वायते
क्रोष्टा क्रन्दति वल्गतीह शशको वेगाद् रूरूर्धावति।
निःशङ्कैः करिपोतकैर्गिरितटश्चोत्पाटयते लीलया
हंहो सिंह विना त्वयाऽद्य विपिने कीदृग् दशा वर्त्तते।।"[2]

भारवि ने भी यही कहा है कि स्वाभिमानी व्यक्ति से सभी भयभीत रहा करते हैं और जो स्वाभिमानरहित होता है उसका न तो समाज में आदर होता है और न उसके स्वजन ही उसका सम्मान करते हैं। यहाँ तक कि शत्रुओं में भी उसके प्रति कोई भय नहीं रहता। अतः स्वाभिमान के साथ जीवन व्यतीत करना ही श्रेयष्कर है, वैसे तो 'काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते'। मनुष्य को अपने स्वाभिमान के विपरीत श्वान के समान चाटुकारिता नहीं करनी चाहिये अपितु सिंह के समान अपने मान सम्मान का सदैव ध्यान रखना चाहिये। जैसा कि नीतिशतक में कहा है–

"स्वल्पस्नायुवसावशेषमलिनं निर्मांसमप्यस्थि गोः
श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तत् तस्य क्षुधाशान्तये।
सिंहो जम्बुकमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपम्
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्वानुरूपं फलम्।।"[3]

अभिप्राय यह है कि नीच व्यक्ति चाटुकारिता करके अल्प वस्तु पाकर उसी प्रकार संतुष्ट हो जाता है जिस प्रकार श्वान माँसरहित, गन्धयुक्त सूखी हड्डी को पाकर ही सन्तुष्ट हो जाता है जो कि उसके उदरपूर्ति के लिये भी समर्थ नहीं होती। इसके विपरीत स्वाभिमानी

---

[1] उद्भट सागर – 1/60
[2] उद्भट सागर – 2/112
[3] नीतिशतक – श्लोक 31

व्यक्ति निम्नता की ओर कभी ध्यान नहीं देता। जैसे गोद में आयी हुई लोमड़ी को सिंह नहीं मारता, वह तो केवल गज मस्तक को ही विदीर्ण कर अपनी क्षुधा को दूर करता हुआ जीवन व्यतीत करता है। स्वाभिमानी व्यक्ति के लिये भी यही नीति है कि वह श्वान के समान नहीं अपितु सिंह के समान जीवन यापन करें।

महान व्यक्ति अपने गौरव का ध्यान रखते हुये अपने समान लोगों के साथ ही मित्रता या शत्रुता रखते हैं। अपने से हीन व्यक्तियों से मित्रता न रखकर केवल उन दयाभाव ही रखते हैं। सूक्ति भी है–'महान महत्स्वेव करोति विक्रमम्'। अतः महान व्यक्ति इसी नीति का पालन करते हैं।

इसी परिप्रेक्ष्य में भामिनी विलास में कहा है कि महान व्यक्ति अपने समान व्यक्तियों के साथ ही अपने पराक्रम को प्रदर्शित करते हैं, असमान व्यक्तियों के साथ पराक्रम दिखाने में वह अपना अपमान समझते हैं। जैसे गजारि अर्थात् सिंह जठराग्नि की ज्वाला से पीड़ित होते हुये भी निर्भय होकर सम्मुख आये हुये मृग समूहों का वध नहीं करता, यह उसका स्वाभिमान है। जैसा कहा है–

"जठरज्वलनज्वलताऽप्यपगतशङ्कं समागताऽपि पुरः।
करिणामरिणा हरिणा हरिणाली हन्यतान्नु कथम्?।।"[1]

यहाँ कवि ने अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार के माध्यम से यह नीति व्यक्त की है कि तेजस्वी व्यक्ति की छत्रछाया में साधारण मनुष्य सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते हैं, दूसरों का भय उन्हें नहीं रहता, क्योंकि स्वाभिमानी व्यक्ति सदा निर्बलों की रक्षा में तत्पर रहता है। तभी उसका समाज में सम्मान होता है। यदि वह दयाभाव न रखें तो समाज में उसका विरोध होने लगेगा और वह अपने स्वाभिमान की रक्षा करने में भी समर्थ न हो सकेगा, क्योंकि जिस व्यक्ति ने अपने से महान लोगों के साथ विरोध करके अपने स्वाभिमान की रक्षा की है, वह स्वाभिमान के मूल्य को भली प्रकार समझता है। जैसे जिस सिंह ने गजपतियों के मस्तक विदीर्ण कर कुम्भस्थल से गिरते हुये मोतियों से पृथ्वी की पूजा की है वह सिंह निरीह मृगों के समक्ष अपनी सामर्थ्य को कैसे प्रदर्शित कर सकता है–

"येन भिन्नकरिकुम्भविस्खलन्
मौक्तिकावलिभिरञ्चिता मही
अद्य तेन हरिणान्तिके कथम्
कथ्यतान्नु हरिणा पराक्रमः।।"[2]

---

[1] भामिनी विलास – 1/49
[2] भामिनी विलास – 1/50

उक्त नीति के द्वारा यह शिक्षा मिलती है कि बलवान व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने पौरूष से गर्वित होकर निर्बल व्यक्तियों के समक्ष अपने पुरूषार्थ का प्रदर्शन न करे। इससे उसे यश की ही प्राप्ति होती है, क्योंकि शक्ति निर्बलों की रक्षा करने के लिये होती है उन्हें पीड़ित करने के लिये नहीं।

नीतिकारों ने भिन्न-भिन्न पशुओं के माध्यम से उनकी सहज अनुभूतियों का परीक्षण करते हुये तुलनात्मक दृष्टि से जीवनोपयोगी नीतियों को व्यक्त किया है। जैसे श्वान और हाथी के क्रिया-क्रलापों को देखकर कवि ने कहा है कि मनसवी और लोभी या चाटुकर व्यक्तियों में क्या अन्तर होता है? इसे श्वान और गज के माध्यम से व्यक्त करते हुये कहा है कि श्वान रोटी खिलाने वाले के सामने पूँछ हिलाता है, पैरो पर लोट जाता है, पृथ्वी पर लेटकर मुँह और पेट ऊपर कर लेता है, इस प्रकार अनेक प्रकार से चाटुकारिता करते हुये उदर पूर्ति के लिये प्रयत्न करता है परन्तु इसके विपरीत गज गम्भीरतापूर्वक सर्वप्रथम अपने अन्नदाता को देखता है और अन्नदाता द्वारा अत्यधिक प्रेम प्रदर्शित करने पर धीरे-धीरे भोजन ग्रहण करना प्रारम्भ करता है-

"लाङ्गूलचालनमधश्चरणावपातं
भूमौनिपत्य वदनोदरदर्शनं च।
श्वापिण्डदस्य कुरूते गजपुङ्गवस्तु
धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते।।"[1]

इस नीति के द्वारा यह व्यक्त किया गया है कि मनुष्य को अपनी स्वार्थपूर्ति के लिये अपने सम्मान के विपरीत चाटुकारिता करते हुये अपना स्वार्थ सिद्ध नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह दीन हीन और नीच पुरूषों का कार्य होता है। इसके विपरीत जो स्वाभिमानी और धैर्यवान होता है वह सम्मान पूर्वक दी गई वस्तु को ही ग्रहण करता है, चाटुकारिता से नहीं। क्योंकि चाटुकारिता में दीनता के साथ हीनता भी छिपी रहती है।

जो धीर गम्भीर होता है, वह स्वाभिमान को बनाये रखते हुये ही स्नेहवश दूसरों को कोई वस्तु प्रदान करता है। अतएव स्वाभिमानी धनी व्यक्ति के घर से कोई भी व्यक्ति अपमानित होकर वापस नहीं लौटता, क्योंकि वह धनी व्यक्ति स्वयं अनुभव रखता है कि निराश एवं अपमानित होकर लौटने पर कितना कष्ट होता है। अतः धन के गर्व में कभी गर्वित नहीं होना चाहिये। जैसा कि हाथी के माध्यम से उद्भट सागर में कहा गया है कि हे करिवर तुमने अपने मद से मतवाले होकर अपने कानों के प्रहार से जो दानार्थी मधुकरों को दूर कर दिया है तो इससे तुम्हारी ही हानि है, क्योंकि तुम्हारे द्वारा दूर कर दिये गये मधुकर खिले हुये (विकसित) कमल पुष्पों के पराग का पान करके आनन्दित हो

---

[1] नीतिशतक -श्लोक 32

रहे हैं और मधुकरों के कारण तुम्हारे मस्तक की जो शोभा थी वह वह नष्ट हो गई है। जैसा कि उद्भट सागर में कहा गया है -

"दानार्थिनो मधुकरा यदि कर्णघातै-
दूरीकृताः करिवरेण मदान्धबुद्धया।
तस्यैव गण्डयुगमण्डनहानिरेषा
भृङ्गाः पुनर्विकचपद्मवने चरन्ति।।"[1]

अभिप्राय यह है कि धनी व्यक्तियों की यही शोभा है कि वह दानर्थियों को एवं उचित पात्रों को धनादि देकर उनका सम्मान करें, क्योंकि अर्थी जनों की याचना पूर्ण करने पर धनी व्यक्ति का यश चतुर्दिक विस्तार को प्राप्त करता है। इसके विपरीत यदि कोई धनी याचकों को दुत्कार देता है तो इससे उस धनी व्यक्ति को ही अपयश मिलता है। धन की यही शोभा है कि अधिक होने पर उसका दान किया जाय, क्योंकि धन की तीन ही गतियाँ होती है- दान, भोग एवं नाश। इसमें दान ही सर्वोत्तम है और भोग का द्वितीय स्थान है, जो इन्हें नहीं करता उसका धन स्वयं नष्ट हो जाता है। अतः धनी व्यक्ति के लिये यही नीति है कि यदि धन आवश्यकता से अधिक हो तो उसे दान के कार्यो मे लगाकर यश अर्जित करना चाहिये। यही सज्जनों का कर्तव्य भी है। सामाजिक एवं व्यवहारिक दृष्टि से यही धन की उपयोगिता भी है। जैसा कि श्रीमद्भागवत में कहा गया है-

"यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकंयोभिमन्येत सः स्तेनोदण्डमर्हति।।"[2]

इसी अभिप्राय को व्यक्त करते हुये 'भामिनी विलास' में पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है-

"कलभ! तवान्तिकमागतमलिमेनम् या कदाऽप्यवज्ञासीः।
अपि दानसुन्दराणान्द्विपधुर्य्याणामयं शिरोधार्यः।।"[3]

उक्त उदाहरण में कवि ने कलम (हाथी का बच्चा) के माध्यम से नीच अहंकारी व्यक्ति की ओर तथा भ्रमर के माध्यम से किसी योग्य विद्वान की ओर संकेत किया है। इसके द्वारा यह नीति प्रतिपादित की है कि क्षुद्र मनुष्य गुणज्ञों का सम्मान नही करता, जब कि गुणज्ञ व्यक्तियों का आदर करना चाहिये। जो इस नीति का पालन करता है उस व्यक्ति का भी गुणज्ञ व्यक्ति के साथ सम्मान होता है।

इसी प्रकार गज की अक्षिनिमीलनपूर्वक की जाती हुई विलासिता को ध्यान में रखकर नीति कही गई है कि अपने प्रतिद्वन्दियों के रहते हुए विलासपूर्वक जीवन व्यतीत करना उचित नहीं। उसे सदैव ऐसे कार्य करने चाहिये जिससे प्रतिद्वन्दिता समाप्त हो सके। यहाँ

---

[1] उद्भट सागर - 2/116
[2] श्रीमद्भागवत 7/14/8
[3] भामिनी विलास- 1/26

राजनीति की दृष्टि से भी नीति व्यक्त की गई है कि किसी भी राजा को अपने शत्रुओं के रहते हुये विलासितापूर्वक अपने कार्यो की अवहेलना नहीं करनी चाहिये और शत्रु से सदा सर्तक रहना चाहिये। जैसा कहा गया है-

"लीलामुकुलितनयनङ्किं सुखशयनं समातनुषे?।
परिणामविषमहरिणा करिनायक! वर्द्धते वैरम्।।"[1]

अश्व के माध्यम से यह नीति उपदेशित की गई है कि मनुष्य को स्वयं अपनी शक्ति और ज्ञान का सदैव ध्यान रखते हुये कार्य करना चाहिये। साथ ही अपनी स्पर्द्धा निम्न व्यक्ति के साथ नहीं करनी चाहिये। ऐसा करने से विजय या पराजय मिलने पर उपहास ही होता है, यश की वृद्धि नहीं होती। यही नीति उद्भट सागर में अश्व के माध्यम से कही गई है कि हे तुरंग हरिण के शिशु के वेग को यदि तुम जीतना चाहते हो तो इसमें तुम्हारा कोई पौरूष नहीं, क्योंकि यदि दुर्भाग्यवश तुम इसमें असफल हो गये तो विश्व में प्रसिद्ध तुम्हारा यश क्षत हो जायेगा-

"अयि तुरङ्ग कुरङ्गशिशोर्जवं
जयसि चेदिह किं तव पौरूषम्।
यदि विधातृवशेन मनागपि
स्खलसि विश्वविसारियशः क्षतिः।।"[2]

अश्व का शीघ्रगामित्व शास्त्रों में प्रसिद्ध है जो अश्व शब्द की व्युत्पत्ति से ही सिद्ध होता है- 'अश्नोति व्याप्नोति इति अश्वः' अर्थात् जो अपनी गति से सर्वत्र व्याप्त हो जाये उसे अश्व कहते हैं। इसी कारण अश्व का पर्याय हरि माना गया है। नैषधकार श्रीहर्ष ने भी अश्व की शीघ्रगामिता का उल्लेख किया है। इससे यह नीति सिद्ध होती है कि जिसका यश विद्वता और शक्ति विश्व प्रसिद्ध है ऐसे व्यक्ति का कर्तव्य है कि ओछे (निम्न कोटि के) व्यक्तियों से न तो प्रीति रखें और न बैर, क्योंकि इन दोनों से उस व्यक्ति का यश ही क्षीण होता है।

महाकवि कालिदास ने 'कुमार सम्भव' में यह नीति व्यक्त की है कि गुण समूहों के रहते हुये यदि किसी में कोई एक दोष रहता है तो वह दोष गुण समूहों में तिरोहित हो जाता है। इसी भाव को लेकर उद्भट सागर में उष्ट्र (ऊँट) के माध्यम से यही नीति व्यक्त की गई है कि यदि मनुष्य मे कोई भी एक असाधारण गुण होता है तो वह गुण उस व्यक्ति के समस्त दोषों को आवृत्त कर लेता है। कवि की यह नीति कालिदास की नीति से विशिष्ट लगती है, क्योंकि कि उन्होनें गुण समूहों में एक दोष का तिरोभाव कहा है और

---

[1] भामिनी विलास- 1/63
[2] उद्भट सागर - 1/41

यहाँ एक ही असाधारण गुण में दोष समूहों का अन्तर्भाव व्यक्त किया गया है और माध्यम भी सटीक रखा गया है। जैसे उष्ट्र का शरीर विषम, ऊँच-नीचा और देखने में असुन्दर लगता है, ध्वनि भी कर्णकटु होती है इन दोषों के होते हुये भी उसमें जो शीघ्रगामिता का गुण है उसने सभी को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। जैसा कहा गया है-

"वपुर्विषमसंस्थानं कर्णज्वरकरो रवः।
करभस्याशुगत्यैव च्छादिता दोषसंहतिः।।"[1]

भाव यह है कि दोषों के रहते हुये भी गुणवान व्यक्ति का सर्वत्र सम्मान होता है। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह जीवन में गुणों के ऊपर विशेष ध्यान दे। इसके साथ ही उष्ट्र के माध्यम से यह नीति सभी के लिये उपयोगी है कि वह साधारण व्यक्तियों से भी स्नेह रखकर उनका सम्मान करे। अन्य गुणों के न रहते हुये भी यदि उसमें यह गुण रहता है तो उसका सम्मान होता है एवं लोगों की दृष्टि में वह प्रशंसनीय होता है। जैसे उष्ट्र में कोई विशेष गुण नहीं होता परन्तु उसमें एक साधारण गुण यह है कि जिनको कोई भी नहीं पूँछता ऐसे तुच्छ कण्टकों से युक्त वृक्षों से भी स्नेह करता है। जैसा कहा गया है-

"रूक्ष वपुर्न च विलोचनहारि रूपं
न श्रोत्रयोः सुखदभारटितं कदापि।
इत्थं न साधु तव किञ्चिदिदञ्च साधु
तुच्छे रतिः करभ कण्टकिनि द्रुमे यत्।।"[2]

मनुष्य को सदैव प्रिय और मधुर वाणी का प्रयोग करना चाहिये, क्योंकि मधुर वचनों से सुख की प्राप्ति होती है तथा लोगों को वश में करने का यह महामंत्र है। अतएव कभी भी कर्णकटु या कठोर वाणी का प्रयोग करना असम्मान को निमन्त्रित करना होता है। इसी नीति को उद्भट सागर मे गर्दभ के माध्यम से व्यक्त करते हुये कहा गया है कि मनुष्य कितना भी शक्तिशाली तथा देखने में रूपवान क्यों न हो यदि उसकी वाणी कटु है तो वह किसी का प्रिय नहीं होता। जैसा कहा है कि गर्दभ अपने स्वामी के लिये दूर-दूर तक नित्य प्रचुर भार को ढ़ोते हुये उसकी सेवा करता है परन्तु वह अपने कर्कश स्वर के कारण किसी के द्वारा मान्य नहीं होता। इसीलिये कठोर या कर्कश वाणी का प्रयोग उचित नहीं माना जाता-

"खरोऽपि प्रचुरं भारं नित्यं वहति दूरतः।
खरस्वरतया त्वेष नहि स्पृश्योऽवरैरपि।।"[3]

---

[1] उद्भट सागर - 1/42
[2] उद्भट सागर - 3/179
[3] उद्भट सागर - 1/48

चाणक्य ने किसी की शक्ति या रूप या वाणी आदि पर ध्यान न देते हुये उसके गुणों को ग्रहण करने की नीति को श्रेष्ठ माना है, क्योंकि रूपादि क्षणिक होते हैं और गुण ही जीवन में उपयोगी होते हैं। अतः जहाँ अन्य रीति से गुण ग्रहण किये जाते हैं वहीं यदि पशुओं में भी अच्छे गुण, जो कि उपयोगी हों, उन्हें ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं करना चाहिये। यही शिक्षा गर्दभ के माध्यम से देते हुये कहा है कि जेसे गर्दभ श्रान्त (थक जाने) हो जाने पर भी भार ढ़ोता रहता है, शीत और उष्ण की कभी चिन्ता नहीं करता और सन्तोषपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करता है। गर्दभ के इन तीन गुणों को मनुष्य यदि ग्रहण कर ले तो वह सभी अवस्थाओं मे अजेय रहेगा–

"सुश्रान्तोऽपि वहेद् भारं शीतोष्णं न च पश्यति।
सन्तुष्टश्चरते नित्यं त्रीणि शिक्षेच्च गर्दभात्।।"[1]

जिस प्रकार गर्दभ से तीन गुणों को ग्रहण करने की नीति की ओर चाणक्य ने संकेत किया है उसी प्रकार श्वान से भी छः गुणों को ग्रहण करने का उपदेश दिया है। जैसे अत्यधिक खानें की शक्ति रखना, न मिलने पर थोड़े में ही सन्तोष कर लेना, प्रगाढ़ निद्रा में सोना तथा अल्प आहट में जाग जाना, स्वामिभक्ति और वीरता ये छः गुण श्वान से सीख लेने पर मनुष्य अपने कार्यो की सिद्धि में अवश्य सफल होता है–

"बह्वाशी स्वल्पसन्तुष्टः सुनिद्रो लघुचेतनः।
स्वामिभक्तश्च शूरश्च षडेते श्वानतो गुणाः।।"[2]

इस संसार में मनुष्यों का यही कर्तव्य है कि निरन्तर अपने विहित कर्तव्यों का पालन करता रहे और कर्म करते हुये ही जीवन व्यतीत करने की इच्छा करे। कर्तव्य पालन के मार्ग में आने वाले मनोविकारों को दूर करते हुए धर्म का पालन करें। यदि वह ऐसा करने में असमर्थ होता है तो उसका जीवन श्वान पुच्छ के समान व्यर्थ है। जैसा कहा गया है–

"नाच्छादयति कौपीनं न दंशमशकापहम्।
शुनः पुच्छमिव व्यर्थपाण्डित्यं धर्मविवर्जितम्।।"[3]

इसी नीति के द्वारा यह व्यक्त किया गया है कि मनुष्य को कर्तव्यहीन नहीं होना चाहिये, क्योंकि उसका जीवन कर्तव्यों की पूर्ति के लिये है न कि श्वान पुच्छ के समान निरर्थक।

---

[1] चाणक्य नीति – 6/20
[2] चाणक्य नीति – 6/19
[3] पंचतन्त्र – काकोलूकीयम्– श्लोक 98

दुर्बल के सभी घातक हुआ करते हैं। जो तेजस्वी एवं शक्तिशाली होते हैं उनसे सभी भयभीत रहा करते हैं। जैसे जलती हुई अग्नि का कोई स्पर्श नही करता और भस्म को सभी पैरो तले रौंदते रहते हैं। इसी प्रकार निर्बल व्यक्ति सदैव पीड़ित होते रहते हैं। जैसे कि हम देखते है कि धार्मिक कार्यो में लोग हाथी, घोड़ा, शेर आदि की बलि नहीं देते केवल अजापुत्र(बकरे का बच्चा) की ही बलि दी जाती है। जैसा कहा गया हैं–

"व्याघ्रं नैव गजं नैव सिंह नैव च नैव च।
अजापुत्रं बलिं दद्याद् देवो दुर्बलघातकः।।"[1]

इसी प्रकार शशक के माध्यम से भी यही कहा गया है कि भाग्य का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता, दैव ही बलवान होता है। जैसे सिंह शावक से भयभीत शशक चन्द्रमा की शरण में चला गया है और वहाँ पर भी सिंहिका सुत अर्थात् राहु ने आश्रय सहित उसका भक्षण कर लिया। जैसा कहा गया है–

"सिहिकासुतसन्त्रस्तः शशः शीतांशुमाश्रितः।
जग्रास साश्रयं तत्र तमन्यः सिंहिकासुतः।।"[2]

जैसा कि हम देखते है कि मृग जंगल मे रहते हैं, घास चरते है, सरोवरों का जल पीते है और किसी प्रकार का परिग्रह अर्थात संचय नही करते फिर भी इसी प्रकार तपस्पियों के समान जीवन व्यतीत करने वाले मृग मार दिये जाते है। यह दैव की विडम्बना ही है–

"वसन्त्यरण्येषु तृणं चरन्ति
पिबन्ति तोयान्यपरिग्रहाणि।
तथापि वध्या हरिणा नराणां
को लोकमाराधयितुं समर्थः।।"[3]

इसी संदर्भ में इसी भाव को व्यक्त करते हुये नीलकण्ठ दीक्षित ने भी कहा है कि–

"खादन्ति क्षुधितास्तृणानि तृषिता गृह्णन्त्यत्यपो निर्झरे
सीदन्तो गिरिकंदरासु हरिणा येऽमी क्वचिच्छेरते।
व्याधव्याघ्रदवानलप्रभृतयस्तेष्वेव संनाहिन-
तद्वा तिष्ठतु घातयन्ति मुनयोऽप्येतान्कथं चर्मणि।।"[4]

उक्त पशुओं के माध्यम से दिये गये उदाहरण यद्यपि स्पष्टतः किसी नीति विशेष को प्रतिपादित नहीं करते तथापि इनमें नीति का स्फुरण अवश्य प्रतीत होता है। वह नीति यह स्फुटित होती है कि मनुष्य उक्त पशुओं से शिक्षा ले कि किन्हीं भी परिस्थितियों में दीन

---

[1] उद्भट सागर – 2/98
[2] उद्भट सागर – 2/109
[3] उद्भट सागर – 1/55
[4] काव्यमाला – अन्यापदेशशतक – श्लोक 89

हीन न बना रहे अपने स्वाभिमान, अपजे गौरव, अपनी शक्ति पर पूर्ण विश्वास रखे। ऐसा करने पर ही समाज में अपने को स्थापित करने में समर्थ हो सकता है अन्यथा जैसे निर्बल अजापुत्र की बलि दे दी जाती है, सात्विक रूप से विचरण करने वाले मृग का भी लोभ एवं स्वार्थवश वध कर दिया जाता है उसी प्रकार समाज के विद्रोही दुष्ट व्यक्ति सज्जन व्यक्तियों का दोहन करते रहते हैं। इस दोहन से बचने के लिये दीन हीनता का परित्याग करके पौरुष का आश्रय लेना चाहिये।

(II)
पक्षियों के माध्यम से कही गई नीतियाँ

संस्कृत नीति काव्यकारों ने जहाँ पशुओं को माध्यम बनाकर अन्योक्ति, अन्यापदेश तथा दृष्टान्त के रूप में नीतियों का प्रतिपादन किया है, जिसका कि हम इससे पूर्व में विवेचन कर चुके हैं। वहीं विविध पक्षियों से सम्बन्धित गुणों, किंवदन्तियों तथा उनके क्रिया–कलापों को आधार मानकर विभिन्न प्रकार से समाज के सभी वर्गों के लिये जिस नीति का प्रतिपादन किया है और अन्योक्ति आदि के रूप में जो नीति व्यक्त की है उसका विश्लेषण हम इस अध्याय में करने का प्रयास कर रहे हैं।

इस प्रयास में हम सर्वप्रथम चातक पक्षी के माध्यम से जिन नीतियों का प्रतिपादन नीति काव्यकारों ने किया है उसी पर विचार कर रहे हैं, क्योंकि चातक पक्षी प्रायः सभी कवियों का प्रिय स्वाभिमानी पक्षी रहा है। अतएव उसके स्वाभिमान के आधार पर यह नीति व्यक्त की गई है कि मनुष्य को किन्हीं भी परिस्थितियों में अपने स्वाभिमान का परित्याग नहीं करना चाहिये। जैसे चातक पक्षी संकटावस्था में भी प्राणों का मोह न करके अपने स्वाभिमान की रक्षा करता है। जैसा उद्भट सागर में कहा गया है–

''एक एव खगो मानी चिरं जीवतु चातकः।
पुरन्दरं प्रार्थयते म्रियते वा पिपासया।।''[1]

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को चातक के समान स्वाभिनान बनाये रखना चाहिये। उसे अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिये महान व्यक्तियों से ही याचना करनी चाहिये, क्योंकि यदि महान व्यक्तियों से की गई याचना निष्फल हो जाती है तो वह निष्फलता श्रेष्ठ है परन्तु अधम व्यक्ति से की गई प्रार्थना सफल भी हो जाए तो वह उत्तम नहीं। जैसा कि महाकवि कालिदास ने मेघदूत में कहा है–

'याञ्चा मोघोवरमधिगुणे नाऽधमे लब्ध कामा'

इसका स्पष्ट उदाहरण चातक ही है, क्योंकि वह अपनी तृषा शान्त करने के लिये इन्द्र से ही प्रार्थना करता है अन्य से नहीं, यही उसके वंश का गौरव है। अपने वंश का गौरव बनाए रखना ही नीति है। यदि वंश परम्परा से प्राप्त हुआ स्वाभिमान नष्ट हो जाता है तो सब कुछ समझो नष्ट हो जाता है। इसके साथ ही चातक के माध्यम से सभी संसारी प्राणियों के लिये यही नीति व्यक्त की गई है कि मनुष्य को अपने वंश, समाज तथा राष्ट्र के गौरव की रक्षा सभी प्रकार से करनी चाहिये। उसकी रक्षा करने में यदि प्राणों का बलिदान भी हो जाये तो भी श्रेष्ट है। इसी नीति को व्यक्त

---

[1] उद्भट सागर – 1/49

करते हुए कहा गया है कि अन्य उपायों से भी चातक अपने प्राणों की रक्षा कर सकता है परन्तु अपने वंश की महानता का परित्याग कठिन होता है। इसीलिए वह कष्ट सहकर भी अपने प्राणों की परवाह न करके अपने वंश गौरव की रक्षा में सतत प्रयत्नशील रहता है -

''शक्यते येन केनाऽपि जीवनेनैव जीवितुम।
किन्तु कौलब्रतोच्छेद प्रसङ्गः परदुःसहः।।''[1]

कितनी विचित्र बात है कि जिस गंगा के जल को पापहर और परम पवित्र माना जाता है उस गंगा के प्रवाह में गिरा हुआ मरणासन्न चातक उसके जल का पान नहीं करता। इस सम्बन्ध में जब किसी व्यक्ति ने कहा कि हे चातक निर्मल, पापहर, भगवान विष्णु के चरणों से पतित होने के कारण समस्त दोषों को दूर करने वाले गंगा जल का पान तुम क्यों नहीं करते अब तम्हारे जीवन की आशा ही कहाँ शेष रह गई है। यह सुनकर चातक ने कहा कि हे मित्र ऐसा न कहो, क्योंकि मैं अपने वंश के गौरव को कलंकित नहीं करना चाहता। अतः मुझे मृत्यु का कोई भय नहीं। मैं वंश गौरव की रक्षा के लिए अपने प्राणों का भी सहर्ष बलिदान कर सकता हूँ परन्तु अपयश को स्वीकार नहीं कर सकता, यह मेरा प्रण है और वंश परम्परा का नियम भी। जैसा कहा गया है-

"रे रे चातक पतितोऽसि मरुता गङ्गजले चेत् तदा
पेयं नीरमशेषपातकहरं काशा पुनर्जीवने।
मैवं ब्रूहि लघीयसी यमभयादुग्द्रीव तामुज्झता
गङ्गाम्भः पिबता मया निजकुले किं स्थाप्यते दुर्यशः।।"[2]

और भी इसी सम्बन्ध में 'पूर्वचातकाष्टक' में कहा गया है-

"वापी स्वल्पजलाशयो विषमयो नीचापगाहो ह्रदः
क्षुद्रात्क्षुद्रतरो महाजलनिधिर्गण्डूषमेकं मुनेः।
गङ्गद्याः सरितः पयोनिधिगताः सन्त्यज्य तस्मादिमान्
सन्मानी खलु चातको जलमुचामुच्चैः पयोवांछित।।"[3]

अभिप्राय यह है कि अपने स्वाभिमान, वंश, समाज तथा देश के गौरव को कभी कलंकित नहीं करना चाहिये। उसकी रक्षा के लिये यदि प्राणों का भी बलिदान देना पड़े तो भी प्रसन्नचित्त होकर प्राणोत्सर्ग कर देना चाहिये, क्योंकि वंशोन्नति, देशोन्नति करने

---

[1] उद्भटसागर - 1/97
[2] उद्भट सागर - 3/187
[3] काव्यसंग्रह - पूर्वचातकाष्टकम् - श्लोक 5

वाले का जन्म ही सार्थक होता है। अतः चातक के द्वारा इस नीति को मनुष्य को भी ग्रहण करना चाहिये। जैसा कि भृर्तहरि ने भी इसी नीति को व्यक्त करते हुये कहा है-

"परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंश समुन्नतिम्।।"[1]

चातक के माध्यम से यह भी कहा गया है कि मनुष्य का यह कर्तव्य है कि अपने वंश तथा देश के प्रति एकनिष्ठ रहे। इसके विरोध में कितना भी प्रलोभन क्यों न दिया जाय उस प्रलोभन में नहीं फँसना चाहिये, क्योंकि अपने घर का रूखा-सूखा भोजन भी अमृत के समान होता है और इसके विपरीत देश के विरूद्ध वृत्ति रखने पर चाहें जितना स्वादिष्ट भोजन मिले उसे नहीं ग्रहण करना चाहिये। सब कष्टों को सहकर भी देश के प्रति एकनिष्ठ रहना चाहिये। जैसा कहा गया है-

"पयोद हे वारि ददासि वा नवा
त्वदेकचित्तः पुनरेष चातकः।
वरं महत्या म्रियते पिपासया
तथापि नान्यस्य करोत्युपासनाम्।।"

भर्तृहरि ने भी चातक के माध्यम से यही कहा है कि हे चातक मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनो। आकाश में बहुत से मेघ छाये रहते हैं परन्तु वे सभी समान नहीं होते, कुछ तो वर्षा करके पृथ्वी को आर्द्र कर देतें है और कुछ व्यर्थ में ही गर्जना किया करते हैं। अतः जिस-जिस को देखो उसके समक्ष याचना न करो और न ही दीन वचन बोलो। इस अन्योक्ति के द्वारा यही नीति व्यक्त की गई है कि मनुष्य को अपने सम्मान को बनाये रखने के लिये सभी के सामने हाथ नहीं फैलाना चाहिये, क्योंकि इस पृथ्वी पर अनेक प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं उनमें से कुछ ही दीन दुःखियों एवं विपत्तिग्रस्त लोगों की सहायता करते हैं और शेष उनका उपहास ही करते हैं। अतः स्वाभिमान को ध्यान में रखते हुये सभी के समक्ष याचना नहीं करनी चाहिये। वरन् उसी के समक्ष हाथ फैलाना चाहिये जो देने में समर्थ हो एवं इच्छुक भी हो-

"रे रे चातक! सावधानमनसा मित्र ! क्षणं श्रूयंताम्
अम्भोद बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचित् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः।।"[2]

नीति काव्यकारों ने तुलनात्मक दृष्टि से भी नीति का प्रस्फुटन किया है परन्तु इस तुलना में तारतम्य पर विशेष ध्यान दिया है। जैसे नीति का प्रतिपादन करते हुये जहाँ

---

[1] नीतिशतक - श्लोक 33
[2] नीतिशतक - श्लोक 52

दो की तुलना की है, उनमें परस्पर सानिध्य को भी दृष्टि में रखा है। जैसे मेघ और चातक के माध्यम से जो नीति कही गई है उसमें मेघ को धनी और चातक को याचक निरूपित किया गया है। इस दृष्टि से कहा है कि धनवान जो स्वयं को दानी समझते हैं, उन्हें चाहिये कि वे बिना याचना किये हुये ही याचकों को दान दें इसी में उनकी उदारता है। यदि दीन वचन सुनकर याचकों की इच्छापूर्ति की गई तो इससे दाता का महत्व नहीं रह जाता। दान की महिमा तो तभी है जब याचक को माँगना भी न पड़े और दाता उसकी अवस्था देखकर ही यह समझ ले कि याची को किस वस्तु की आवश्यकता है और बिना माँगे ही उसे वह वस्तु प्रदान कर दे। यहाँ पर मेघ के द्वारा यह व्यक्त किया गया है कि जैसे जल से पूर्ण होने पर भी मेघ श्याम वर्ण के हो जाते हैं वैसे ही धन की प्रचुरता से धनी व्यक्तियों के हृदय भी मलिन हो जाते हैं। अतएव उन्हें किसी की याचना सुनायी नहीं पड़ती। अतः दाता के लिये यही नीति प्रतिपादित की गई है कि दानी पुरुष का यह कर्तव्य है कि वह याचना के पूर्व ही याचकों का हित पूर्ण कर दे। जैसा कहा गया है-

"त्वमेव चातकाधारोऽसीति केषां च गोचरः।
किमम्भोदवरास्माकं कार्पण्योक्तिं प्रतीक्षसे।।"[1]

जो सन्तोष को परम धन मानते हैं वे किसी लोभ में आकर्षित नहीं होते और न उन पर किसी की उन्नति या अवनति का कोई प्रभाव पड़ता है वे अपने में ही सन्तुष्ट रहते हैं। जैसे मेघ अपने को सुखा दे या घनघोर वर्षा करके अपनी तरंगो के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण को सिंचित कर दे, इन सबसे सन्तोष को परम धन मानने वाले चातक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जैसा कहा गया है-

"आत्मानमम्भोनिधिरेतु शोषं
ब्रह्माण्डमासिञ्चतु वा तरङ्गैः।
नास्ति क्षतिर्नोपचितिः कदापि
पयोदवृत्तेः खलु चातकस्य।।"[2]

इस कथन में ईशावास्योपनिषद की "मा गृधः कस्यास्विद धनं" की नीति स्पष्ट रूप से झलकती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अन्योक्ति का आश्रय लेकर चातक के माध्यम से जो कुछ भी कहा गया है उसमें अन्तोगत्वा नीति का पुट किसी न किसी रूप में स्पष्टतया अवभाषित होता है। नीति को किसी भी माध्यम से, किसी भी व्याज

---

[1] नीतिशतक – श्लोक 51
[2] काव्य संग्रह – उत्तरचातकाष्टकम् – श्लोक 5

से अभिव्यक्त किया जा सकता है, इसी अभिव्यंजना को अभिव्यक्त करने का प्रयास मैनें किया है।

संस्कृत कवियों में चातक पक्षी के अनन्तर कोयल पक्षी भी प्रिय रहा है। इसमें भी अनेक गुणों का अवलोकन कवियों ने किया है। उसके विलक्षण गुणों को नीति काव्यकारों ने अपनी नीति का विषय बनाया और उसके माध्यम से सटीक एवं सामाजिक हित की नीतियों का विवेचन प्रस्तुत किया ये नीतियाँ बहुत ही गम्भीर एवं सटीक हैं। हम देखते हैं कि जो जिसके संसर्ग में रहता है वही व्यक्ति उसके गुणों को अच्छी प्रकार समझ सकता है और उसके गुणों को आधार मानकर ही उस पर अनुरक्त होता है। रसाल वृक्ष 'यथा नाम तथा गुण' वाला होता है। इसकी क्या विशेषता है, यह उसके सम्पर्क में रहने वाला ही जानने में समर्थ हो सकता है और जो उसके गुणों को नहीं जानता है वह उसकी निन्दा ही करता रहता है। जैसा कि कोकिल के माध्यम से कहा गया है कि रसाल वृक्ष के शिखर पर सैकड़ों पक्षी आकर विश्राम करते हैं परन्तु आम्र मंजरी के रस का स्वाद तो केवल कोकिल ही जानते हैं। यथा-

"रसालशिखरासीनाः शतं सन्तु पतत्त्रिणः।
तन्मञ्जरीरसास्वादं जानन्त्येव कुहूमुखाः।।"[1]

यहाँ यह नीति व्यक्त की गई है कि केवल निकट रहने से ही गुणों की परख नहीं होती, जब तक कि उसके आचरण, व्यवहार एवं विचारों को अच्छी प्रकार से नहीं समझ लिया जाता। जब उक्त समस्त गुणों का ज्ञान हो जाता है तो तद्नुकूल आचरण करने का प्रयत्न लोग करने लगते हैं। रसास्वादन पद के द्वारा भावुकता और आनन्द की ओर संकेत किया गया है। नीति यह है कि अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों के सम्पर्क में रहते हुये उनके विचारों तथा व्यवहारों के साथ ही साथ आचरण को भी ग्रहण करना चाहिये।

कोकिल की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वह कृष्ण वर्ण का होता है तथा उसकी आँखें लाल वर्ण की होती हैं और वह स्वयं अपने बच्चों का पालन-पोषण भी नहीं करता इतने दुगुर्णो के होते हुये भी वह सबको प्रिय होता है। इसका एकमात्र कारण यही है कि उसकी वाणी बहुत ही मधुर है जो सभी को अपनी ओर सहसा आकर्षित कर लेती है। अतः इससे यही ध्वनित होता है कि मृदुभाषिता वह गुण है जो अन्य गुणों के न रहते हुये भी लोगों को अपनी ओर आकर्षित कर लेती है-

---

[1] उद्भट सागर - 1/46

"पिकः कृष्णो नित्यं परमरूणया पश्यति दृशा
परापत्यद्वेषी स्वसुतमपि नो पालयति यः।
तथाप्येषोऽमीषां सकलजगतां वल्लभतमो
न दोषा गण्यन्ते मधुरवचसां केनचिदपि।।"[1]

यह नीति इस ओर संकेत करती है कि मनुष्य चाहे जितना कुरूप हो और अन्य गुणों से रहित भी हो तो भी यदि वह मृदुभाषी है तो सभी उसका सम्मान करते हैं। क्योंकि मधुर वचन में ही सुख और सम्मान है इसमें इतनी शक्ति है कि वह पशुओं को भी अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ है।

भामिनी विलास में पण्डितराज जगन्नाथ ने कोयल के माध्यम से कहा है कि मनुष्य को जब तक कोई गुणवान व्यक्ति न मिले अर्थात उसके गुणों का आदर करने वाला कोई न हो तथा किसी गुणग्राही व्यक्ति से सम्मान की प्राप्ति न हो भाग्यवश इस प्रकार का गुणी व्यक्ति विपत्ति में पड़कर दुष्टों के संसर्ग में अन्यमनस्क होकर दिन व्यतीत कर रहा हो तो उसे समय की प्रतीक्षा करते हुये दिन व्यतीत करना चाहिये, क्योंकि सभी समय समान नहीं होते। इसे ही कोयल के माध्यम से कहा है कि हे कोयल जब तक भ्रमरों की पंक्तियों से सुशोभित (अलंकृत) आम्र वृक्ष मंजरियों से युक्त नहीं होता जब तक किसी प्रकार नीरस समय को व्यतीत करो-

"तावत् कोकिल! विरसान् यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्।
यावन्मिलदलिमालः कोऽपि रसालः समुल्लसति।।"[2]

यह नीति इसी ओर संकेत करती है कि मनुष्य को अच्छे समय की प्रतीक्षा करते हुये दिन व्यतीत करना चाहिये, क्योंकि समय निरन्तर परिवर्तनशील होता है, कभी अच्छा तो कभी बुरा समय अवश्य मनुष्य के जीवन में आता है। अतः मनुष्य को चाहिये कि कोकिल की तरह अच्छे समय की प्रतीक्षा करे और जीवन पथ को सुगम बनाता रहे।

जिस समाज अथवा स्थान पर गुणी विद्वान तथा सज्जनों का सम्मान करने वाला कोई न हो तो उस व्यक्ति के लिये यही नीति है कि वह उस स्थान का परित्याग करके या तो अन्यत्र चला जाय अथवा धैर्यपूर्वक अच्छे समय की प्रतीक्षा करे क्योंकि गुणी तथा विद्वान व्यक्तियों को मूर्खो के मध्य रहने पर उनका सम्मान नहीं होता। उनकी पहचान परस्पर सम्भाषण से होती है। अतः विद्वान व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह मूर्खो के मध्य अपनी विद्वता का प्रकाशन न करे। यदि वह ऐसा करता है तो मूर्ख दुष्ट व्यक्ति उसके शत्रु हो जायेंगे। इसी नीति को कोकिल के माध्यम से कहा है कि हे कोकिल तू

---

[1] उद्भटसागर - 2/93
[2] भामिनी विलास - 1/6

इस जंगल में अकेले कभी भी अपनी मधुर ध्वनि को न निकालना क्योंकि सजातीयता के विषय में शंकित होकर ये दुष्ट कौये तुझे अवश्य मार डालेंगे। जैसा कहा है-

"एकस्त्वङ्गहनेऽस्मिन् कोकिल! न कलङ्कदाचिदपि कुर्य्याः।
सजात्यशङ्कयाऽमी न त्वान्निघ्नन्तु निर्दयाः काकाः।।"[1]

अभिप्राय यह है कि जब तक विद्वान व्यक्ति कुछ सम्भाषण नहीं करेगा तब तक मूर्ख व्यक्ति उसको अपने समान मूर्ख समझकर उसका प्रतिवाद नहीं करेंगे। इसके विपरीत यदि विद्वान व्यक्ति अपनी विद्वता का प्रकाशन करने का प्रयास करेगा तो मूर्ख व्यक्ति उसके शत्रु बन जायेंगे। जैसे कोकिल जब तक नहीं बोलता तब तक आकार और वर्ण की समानता के कारण कौये उसे अपना सजातीय समझते रहते हैं, अतः उस पर प्रहार नहीं करते परन्तु मधुर ध्वनि सुनने के अनन्तर विजातीय समझकर उस पर प्रहार करने लगते हैं।

समाजिक हित के लिये यह नीति है कि सज्जन मनुष्य किसी भी परिस्थिति में अपने स्वभाव का परित्याग न करे। दुष्टों के संग में रहकर भी उसे दुष्टता स्वीकार नहीं करनी चाहिये यही उसकी विशेषता है और यही विशिष्ट लक्षण ही उसके मान सम्मान और गौरव का आधार बनता है। इसे ही कोकिल के माध्यम से कहा है कि कोकिल कौओं के साथ रहकर अपना बचपन व्यतीत करता है परन्तु समान वर्ण का होते हुये भी वह उनके गुणों को नहीं अपनाता। यही कारण है कि उसकी मधुर कुहू-कुहू की ध्वनि सबको हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। उसकी ध्वनि को सुनकर सभी उत्कण्ठित हो जाते हैं। यही उसके सहज गुण की विशेषता है। जैसा कहा है-

"साधुरेव न जहाति साधुतां,
दुर्ज्जनेन सह सम्मिलन्नपि।
जन्मतः प्रभृति काकसङ्गतः,
पश्य रौति मधुरं हि कोकिलः।।"[2]

जहाँ पर गुणग्राहक न हों वहाँ पर विद्वानों का मौन रहना ही श्रेयष्कर है। इसी नीति को व्यक्त करते हुये कहा गया है कि हे कोकिल वर्षा काल के आ जाने पर जो तुमने मौन का आलम्बन कर लिया है वह तुम्हारे लिये अति उत्तम है, क्योंकि जहाँ दादुर बोलेंगे वहाँ तुम्हारा मौन रहना ही सर्वश्रेष्ठ है। इस उक्ति से यह नीति व्यक्त की गई है कि विद्वता की बात विद्वानों के समक्ष ही करना चाहिये मूर्खों की मण्डली में नहीं, क्योंकि

---

[1] भामिनी विलास - 1/24
[2] उद्भट सागर - 2/260

मूर्खों के समूह में मूर्खों की ही बात सुनी जाती है। विद्वान की विद्वता की प्रतिष्ठा वहाँ नहीं रहती। जैसा कहा है–

"भद्रं भद्रं कृतं मौनं कोकिलै र्जलदागमे।
वक्तारो दर्दुरा यत्र तत्र मौनं हि शोभते।।"[1]

इसी नीति को शुक के माध्यम से भी कहा है कि मित्र कीर (शुक) जहाँ कटुभाषी विहंगों का समूह हो वहाँ तुम्हें अपनी वाणी पर संयम की कला अपनानी चाहिये तुम्हारे मोन रहने से गुण समूहों में कोई क्षति नहीं होगी इससे तुम्हारा मौन रहना ही सर्वश्रेष्ठ है–

"अमुष्मिन्नुद्याने विहगखल एष प्रतिकलं
विलोलः काकोलः क्वणति खलु यावत् कटुतरम्।
सखे तावत्कीर द्रढय ह्रदि वाचंयमकलां
न मौनेन न्यूनो भवति गुणभाजां गुणगणः।।"[2]

गुण ग्राहकों से विहीन समाज में गुणी व्यक्ति के लिये यही नीति है कि वह स्वयं के गुणों का प्रकाशन न करे और अपने को उनसे छिपाता रहे अन्यथा गुणहीन व्यक्तियों के तीरों से वह व्यथित होता रहेगा। इसी नीति को अन्योक्ति के व्याज से शुक के माध्यम से कहा है कि हे कीर यह गँवार भीलों की बस्ती है जिनके पास विषैले बाण हैं, इसलिये किसी वृक्ष की कोटर में स्वयं को छिपाकर समय व्यतीत करो। जैसा काह है–

"इयं पल्ली भिल्लै रनुचितसमारम्भरसिकैः
समान्तादाक्रान्ता विषमविषबाणप्रणयिभिः।
तरोरस्य स्कन्धे गमय समयं कीर निभृतं
न वाणी कल्याणी तदिह मुखमुद्रैव शरणम्।।"[3]

साहित्य में 'स्वभावोदुरतिक्रमः' यह उक्ति प्रसिद्ध है अर्थात् जिसका जैसा स्वभाव होता है उसमें परिवर्तन नहीं होता। जैसे नीम के वृक्ष को चाहे जितना गुड़ और घी से सींचा जाय वह मधुर नहीं हो सकता। कोयले को चाहे जितना धोया जाय वह श्वेत नहीं हो सकता। इसी को शुक के माध्यम से कहा गया है कि शुक को चाहे अंगूर खिलाया जाय, मधु खिलाया जाय, और हार्थों से उसका कितना भी दुलार किया जाय परन्तु वह अपने स्वभाववश जैसे ही बंधन मुक्त होगा उस घर का परित्याग करके उड़ जायेगा।

---

[1] सूक्तिगंगाधर – 3/769
[2] सूक्तिगंगाधर – 3/776
[3] सूक्तिगंगाधर – 3/777

"द्राक्षां प्रदेहि मधुवा वदने निधेहि देहे विधेहि किमु वा करलालनानि।
जातिस्वभावचपलः पुनरेष कीरस्तत्रैव यास्यति कृशोदरि मुक्तबन्धः।।"[1]

संस्कृत साहित्य में हंस को सर्वाधिक सम्मान देते हुये उसे वीणावादिनी सरस्वती का वाहन माना गया है और उसकी ध्वनि, उसकी चाल को विशेष रूप से कवियों ने वर्णित किया है। उसके श्वेत वर्ण को यश का प्रतीत माना गया है। अतएव उसके गुणों से आकृष्ट होकर नीतिकार कवियों ने भी उसे अपने नीति वचनों का माध्यम बनाया है और कहा है कि जिस प्रकार हंस में दूध और पानी को पृथक करने की जो सामर्थ्य है उसे कुपित होकर ब्रह्मा भी हरण नहीं कर सकते केवल उसके विलास के योग्य कमल सरोवर को ही समाप्त कर सकते हैं। उसी प्रकार विद्वानों में या विवेकी पुरूषों में जो विद्वता या विवेकशीलता का गुण होता है उसका हरण कोई कितना भी कुपित हो जाय, नहीं कर सकता। अभिमानी व्यक्ति केवल उसका अपमान भले ही कर दें परन्तु उसके यश तथा विद्वता का हरण किसी भी मूल्य पर नहीं कर सकते। इसी नीति को हंस और ब्रह्मा के माध्यम से कहा गया है इसमे हंस विद्वान का और ब्रह्मा राजा या अभिमानी व्यक्ति का प्रतीक व्यक्त किया गया है। जैसा कहा है-

"अम्भोजिनीवनविहार विलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता।
न त्वस्य दुग्धजलभेदविधौ प्रसिद्धाम्
वैदग्ध्यकीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः।।"[2]

उत्तम व्यक्ति की सेवा करने से मन में सन्तोष तथा आनन्द की प्राप्ति होती है, उनका संसर्ग ही मनुष्य को गौरव प्रदान करता है। इस प्रकार का व्यक्ति अपने को धन्य मानता है परन्तु दुर्भाग्यवश उत्तम व्यक्ति की सेवा के अतिरिक्त यदि वह अधम व्यक्ति की सेवा या संसर्ग में आ जाता है तो उसका मन ग्लानियुक्त हो जाता है, पूर्ववत उसे आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। इसी को हंस के माध्यम से कवि ने कहा है कि विष्णु के चरणों से निकली हुई सिन्धु में विहार करने वाले हंस का मन छोटे सरोवरों के नीर में नहीं रमता ऐसा माना जाता है। यहाँ कवि ने उक्त कथन में उत्प्रेक्षा को व्यक्त करते हुये यही नीति कही है कि जिसने अगाध निर्मल जल में विहार किया हो, वह हंस छोटे तालाबों के जल में रमण करने पर कष्ट का अनुभव करता है। इसी प्रकार किसी उत्तम व्यक्ति की सेवा में रहने वाले व्यक्ति को देखकर यह उत्प्रेक्षा फलित होती है। जिससे

---

[1] सूक्तिगंगाधर - 3/775
[2] नीति शतक - श्लोक 19

यही अभिप्राय निकलता है कि मनुष्य को उत्तम व्यक्ति की सेवा या संसर्ग में रहना चाहिये तभी वह प्रसन्न रह सकता है–

"कंसारिचरणोद्भूतसिन्धुकल्लोललालितम्।
मन्ये हंस मनो नीरे कुल्यानां रमते न ते।।"[1]

इसी नीति के साथ यह भी नीति व्यक्त की गई है कि मनुष्य को कहीं भी किसी भी अवस्था में रहना पड़े फिर भी अपने गुणों तथा स्वभाव में विकार नहीं आने देना चाहिये, क्योंकि स्वभाव और गुण ही मनुष्य को समुदाय से विशिष्ट बनाने का कार्य करने में समर्थ होते हैं। जैसे हंस चाहे गंगा के निर्मल, श्वेत, स्वच्छ जल में स्नान करे अथवा यमुना के नीले जल में विहार करे परन्तु उसकी शुभ्रता में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पड़ता, वह निर्विकार ही रहता है। जैसा कहा है–

"गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं
कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः।
राजहंस तव सैव शुभ्रता
चीयते न च न चापचीयते।।"[2]

नीति यह है कि विकार के कारण उपस्थित होने पर भी मन विकृत नहीं होना चाहिये। ऐसे ही व्यक्तियों को समाज में धीर व्यक्ति कहा जाता है। जैसा कि सूक्ति में कहा गया है–

"विकार हेतौ सतिविक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः"

हंस के साथ तुलनात्मक दृष्टि से भी कवियों ने नीति व्यक्त करते हुये कहा है कि उत्तम तथा अधम व्यक्ति का भेद उसके कर्मो से ही प्रतीत होता है, उसके स्वरूप से नहीं। जैसे सेमल का पुष्प देखने में बहुत सुन्दर प्रतीत होता है, इसी प्रकार किंशुक का पुष्प भी देखने में मनोहर लगता है किन्तु वह निर्गन्ध होने के कारण रूपशोभैक ही है, इसके विपरीत नारियल देखने में अच्छा नहीं लगता परन्तु वह भीतर से बहुत कोमल और मधुर होता है। इसीलिये किसी भी व्यक्ति की परख उसके गुणों के आधार पर की जानी चाहिये, रूपादि के आधार पर नहीं, यही सर्वोत्तम नीति है। इसी आधार पर विद्वान और मूर्ख में अन्तर स्पष्ट होता है। इसी प्रकार नीच तथा उत्तम व्यक्ति की पहचान भी उसके गुणों और कर्मो के आधार पर होती है, स्वरूप से उसका निर्धारण नहीं होता। जैसे बक (बगुला) और हंस दोनों समान आकृति और वर्ण (रंग) के होते हैं, सहसा उनमें भेद प्रतीत नहीं होता, केवल उनके गुणों और कर्म से ही भेद की प्रतीति होती है। जैसा कहा गया है–

---

[1] उद्भट सागर – 1/61
[2] उद्भट सागर – 3/202

"हंसः श्वेतो बकः श्वेतः को भेदो बकहंसयोः।
नीरक्षीरविभागे तु हंसो हंसो बको बकः।।"[1]

मनुष्य को अपनी सामर्थ्य को समझते हुये दूसरों का सम्मान करना चाहिये, यह एक उत्तम नीति है। इसी आधार पर 'कूप-मण्डूक' इस उक्ति को ध्यान में रखते हुये कवि ने कहा है कि जिसने बाहर की अर्थात् संसार की विशालता को नहीं देखा है या विशाल रत्नों से परिपूर्ण कोष को नहीं देखा है, वह मन्द बुद्धि व्यक्ति स्वल्प धन अथवा अपनी निश्चित सीमा को ही सब कुछ समझने लगता है ऐसा व्यक्ति दुनिया देखे हुये और विशाल ज्ञान रखने वाले व्यक्ति की निन्दा ही करता है। इसी उक्ति को हंस और मेढक के माध्यम से कवि ने प्रकट किया है कि कुँये के पास आये हुये राजहंस को देखकर मेढ़क उससे प्रश्न करता है कि हे राजहंस तुम जिस सरोवर से आये हो वह कैसा है, क्या वह मेरे स्थान से भी बड़ा है और जब राजहंस कहता है कि इससे तो बहुत बड़ा है तब मेढक उसका उपहास करते हुये कहता है कि तुम असत्य कह रहे हो इससे बड़ा तो हो ही नहीं सकता। इसी को व्यक्त करते हुये कवि ने कहा है-

"रे पक्षिन्नागतस्त्वं कुत इह सरसस्तत् कियद् भो विशालं
किं मद्धाम्नोऽपि वाढं नहि नहि सुमहत् पाप मा ब्रूहि मिथ्या।
इत्थं कूपोदरस्थः शपति तटगतं दुर्दुरो राजहंसं
नीचः स्वल्पेन गर्वी भवति सुविषं नापरो येन दृष्टः।"[2]

मनुष्य को कभी स्वार्थी नहीं होना चाहिये जिससे हित साधन हो उस व्यक्ति की किसी भी परिस्थिति में उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इसी को हंस के माध्यम से कहा है कि जहाँ जल होता है हंस वहीं बसते हैं और जब जल सूख जाता है तो वे उस स्थान का परित्याग करके अन्यत्र चले जाते हैं परन्तु मनुष्य को हंस के समान 'आया राम गया राम' वाला तथा स्वार्थी नहीं होना चाहिये, क्योंकि जब मनुष्य ही स्वार्थी हो जायेगा तो पारस्परिक सौहार्द्र ही नष्ट हो जायेगा, जो भारतीय संस्कृति का प्राण है। अतएव चाणक्य नीति में कहा गया है-

"यत्रोदकं तत्र वसन्ति हंसाः
तथैव शुष्कं परिवर्जयन्ति।
न हंसतुल्येन नरेण भाव्यं
पुनस्त्यजन्ते पुनराश्रयन्ते।।"[3]

मूर्खो के समूह में विद्वानों को नहीं रहना चाहिये क्योंकि मूर्खो के सम्पर्क में रहने से उसे भी मूर्ख समझ लिया जायेगा। जैसा चोरों के साथ रहने पर सज्जन पुरूष को भी

---

[1] उद्भट सागर - 1/62
[2] उद्भट सागर - 2/102
[3] चाणक्य नीति - 7/13

चोर समझ लिया जाता है और दुष्टों के साथ रहने पर साधु को भी लोग दुष्ट समझने लगते हैं। अतः इनसे विरत रहना ही श्रेयष्कर नीति है। जैसा कि हंस के माध्यम से सूक्तिगंगाधर में कहा गया है–

"रे राजहंस किमिति त्वमिहागतोऽसि योऽसौ बकः स इह हंस इति प्रतीतः।
तद् गम्यतामनुपदेन पुनः स्वभूमौ यावद् वदन्ति न बक खलु मूढ़लोकाः।।"[1]

अपनी कुलागत प्राप्त परम्परा का निर्वाह करना ही उत्तम नीति है। यदि मनुष्य स्वयं अपनी परम्परा का निर्वाह नहीं करता है तो अन्य कौन करेगा। यही नीति हंस के माध्यम से कही गई है कि हे हंस यदि तुम ही नीर क्षीर विवेक में आलस्य करोगे तो अन्य कोन अपने कुलव्रत की रक्षा करने में समर्थ होगा–

"नीरक्षीरविवेके हंसालस्यन्त्वमेव तनुषे चेत्।
विश्वस्मिन्नधुनाऽन्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः।।"[2]

यदि समाज में एक भी कोई श्रेष्ठ व्यक्ति होता है तो उससे सम्पूर्ण समाज की शोभा में वृद्धि हो जाती है और उस गुणी व्यक्ति के कारण उस समाज का यश चारों ओर फैल जाता है परन्तु इसके विपरीत यदि सैकड़ों मूर्ख समाज में हों तो उस समाज के यश की वृद्धि कभी नहीं हो सकती। हंस के माध्यम से यही नीति व्यक्त की गई है–

"एकेन राजहंसेन या शोभा सरसो भवेत्।
न सा बकसहस्रेण परितस्तीरवासिना।।"[3]

इसी अभिप्राय को चाणक्य ने भी व्यक्त किया है–

"वरमेको गुणी पुत्रो निर्गुणैश्च शतैरपि।
एकश्चन्द्रस्तयो हन्ति न च ताराः सहस्रशः।।"[4]

यह नीति इस ओर संकेत करती है कि प्रत्येक मनुष्य को गुण ग्रहण करने में संकोच नहीं करना चाहिये, गुण ही वह गुप्त धन है जो प्रत्येक परिस्थिति में साथ में रहता है और हित साधन में सदैव सहायक बनता है। गुण, विद्वता और सज्जनता ये सभी छिपाये नहीं छिपते, इनका प्रकाशन स्वतः हो जाता है, जो न केवल व्यक्ति के अपितु समाज और देश की प्रतिष्ठा बढ़ाने में भी समर्थ होते हैं।

भर्तृहरि ने नीतिशतक में कहा है कि विद्वानों की सभा में अल्पज्ञों का मौन ही उनका आभूषण है, क्योंकि यदि वे अपने मौन को त्यागकर कुछ कहेंगे तो अल्पज्ञ होने के कारण उनकी बात गम्भीर नहीं होगी, इससे उनका दोष ही प्रकट होगा, गुण नहीं। इसी

---

[1] सूक्तिगंगाधर – 3/762
[2] भामिनी विलास – 1/12
[3] सूक्तिगंगाधर – 3/161
[4] चाणक्य नीति – 4/6

को काक के माध्यम से उद्भट सागर में कहा गया है कि बेचारे काक की यह बड़ी मूर्खता है कि वह मयूर तथा राजहंसों के सामने इधर-उधर घूमकर अपनी गति का प्रदर्शन करता है और पुनः-पुनः नाचता हुआ स्वयं को नृत्य कला मर्मज्ञ प्रकट करता है, इससे उसकी मूर्खता ही प्रकट होती है। इस कथन के द्वारा यही कहा गया है कि गुणवान व्यक्तियों के समक्ष निर्गुण व्यक्तियों का संकोच रहित व्यवहार उनके दोष को ही प्रकट करता है-

> "अहो मोहो वराकस्य काकस्य यदसौ पुरः।
> सरीसर्त्ति नरीनर्त्ति शिखण्डिराजहंसयोः।।"[1]

यहाँ पर यह नीति व्यक्त की गई है कि अपने से अधिक गुणवान, विद्वान, धनवान व्यक्ति के सामने अपना गुणगान नहीं करना चाहिए। केवल नम्रतापूर्वक विद्वानों एवं गुणवानों आदि का सम्मान करना चाहिए, यही सर्वोत्तम नीति है। इससे स्वयं का गौरव ही बढ़ता है और दोष प्रकट नहीं होते। अतः विद्वानों के संग रहकर तदनुकूल आचरण, व्यवहार करते हुए भी यदि व्यक्ति अपने ज्ञान को समझते हुए मौन रहता है तो उसके दोष प्रकट नहीं होते और बोलने पर उसकी अज्ञता का प्रकाशन हो जाता है। जैसे समान वर्ण होने के कारण साथ रहते हुए भी कोकिल और कौए में अन्तर तब तक प्रकट नहीं होता जब तक कौआ बोलता नहीं है। जैसा कहा है-

> "तुल्यवर्णच्छदः कृष्णः कोकिलैः सह सङ्गतः।
> केन विज्ञायते काकः स्वयं यदि न भाषते।।[2]

'चाणक्य नीति' में यह नीति व्यक्त की गई कि मनुष्य को पाँच बातें काक से ग्रहण करनी चाहिए कि छिपकर मैथुन करना, धृष्टता (ढीठपन), समय-समय पर संग्रह करना, निरन्तर सावधान रहना और किसी पर विश्वास न करना। जैसा कहा गया है-

> "गूढमैथुनधर्म्मञ्च काले काले च संग्रहं।
> अप्रमादमनालस्यं चतुः शिक्षेत वायसात्।।"[3]

अयोग्य होने पर भी अपनी योग्यता को प्रकट करना, असुन्दर होने पर भी सुन्दरता को प्रकट करना तथा बलहीन होने पर भी बलवान प्रदर्शित करना, सज्जनों की यह नीति नहीं होती। ऐसा करने से प्रदर्शन करने वाले व्यक्ति का उपहास ही होता है। इसी को अन्योक्ति के व्याज से नीति प्रकट करते हुए कहा है कि हे काक न तुम्हारे पैर सुन्दर हैं

---

[1] उद्भट सागर - 1/43
[2] उद्भट सागर - 1/44
[3] काव्यसंग्रह - चाणक्यशतकम् - श्लोक 71

न तुम्हारी चंचु रुचिर हैं, गति भी तुम्हारी प्रशंसनीय नहीं है, वाणी श्रुति कटु है, फिर भी तुम अपने पाडित्य को प्रदर्शित कर रहे हो इससे तुम्हें स्वयं लज्जा नहीं आती–

"नो चारू चरणौ न चापि रूधिरा चञ्चुर्न रूच्यो रवो
नो लीलाललिता गतिर्न च शुचिः पक्षग्रहोऽयं तव।
श्रोतृश्रुत्यतिदुर्भगं रवमिह स्थाने वृथैवोद्गिरन्
मूर्ख ध्याङ्क्ष न लज्जसेऽप्यसदृशं पाण्डित्यमुन्नाटयन्।।"[1]

किसी मूर्ख व्यक्ति का सम्मान होते हुये देखकर कोई नीतिज्ञ विद्वान विचार करता है कि जो गुणवान है, शास्त्रज्ञ है तथा सज्जन है, ऐसे व्यक्ति का सम्मान न होकर मूर्ख व्यक्ति का सम्मान होना बड़े आश्चर्य की बात है। जैसा कवि ने कहा है कि क्या मयूर के समान इसका शरीर सुन्दर है या यह तोते के समान बोलने वाला है, क्या हंस के समान मन्द गति वाला है अथवा मैना के समान सुन्दर स्वरों से युक्त है अथवा पक्षियों के राजा कोकिल के समान कानों में अमृत के समान वाणी को बोलने वाला है, दुःख है कि ये कोई भी गुण काक में देखने को नहीं मिलते तो फिर इसके कौन से गुण हैं जिससे यह सुवर्ण के पिंजड़े में रखा गया है–

"किं केकीव शिखण्डमण्डिततनुः किं कीरवत् पाठकः
किं वा हंस इवातिमन्दसुगतिः सारीव किं सुस्वरः।
किं वा हन्त शकुन्तराजपिकवत् कर्णामृतं भाषते
काकः केन गुणेन काञ्चनमये संरक्षितः पिञ्जरे।।"[2]

यहाँ पर काक के व्याज से यह नीति व्यक्त की गई है कि कभी अयोग्य व्यक्ति को उच्च स्थान पर नहीं बैठाना चाहिये, इससे बैठने वाले अयोग्य व्यक्ति का नहीं अपितु उसको सम्मान देने वाले व्यक्तियों का ही अपमान होता है।

नीतिकारों ने 'परोपकाराय सतां विभूतयः' यह सूक्ति कही है। जिसका अभिप्राय यह है कि परोपकार का व्रत धारण करने वाले व्रती प्रत्येक परिस्थिति में परोपकार करते रहते हैं, यदि वह उन्नत स्थान पर रहते हैं तो भी परोपकार करते हैं और यदि उस स्थान से दूर हो जाते हैं तो भी वे परोपकार का पालन करते ही रहते हैं। जैसा कि 'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' सूक्ति से उक्त कथन की पुष्टि हो जाती है। इसी नीति को ध्यान में रखते हुये मयूर के व्याज से कहा गया है कि मयूर प्रत्येक परिस्थिति में परोपकार ही करता है, वह अपने सुन्दर चित्र–विचित्र पंखों से नृत्य करता हुआ दुःखी व्यक्तियों के दुःख को दूर करता हुआ उन्हें प्रसन्न कर देता है साथ ही अन्य व्यक्तियों के मन को भी आकर्षित कर लेता है यदि उसके पंख दुर्भाग्यवश गिर जाते हैं अर्थात् अपने स्थान से दूर

---

[1] उद्भट सागर - 2/92
[2] उद्भट सागर - 3/181

हो जाते हैं तो भी उन गिरे हुये पंखों से व्यजन और आतपत्र से दूसरों के ताप का वारण ही करता है यद्यपि उसके पंख अपने स्थान से च्युत हो गये हैं तथापि वह अपने परोपकार व्रत का परित्याग नहीं करता। जैसा कहा गया है-

"व्यजनैरातपत्रैश्च भूत्वा पिच्छैः कलापिनाम्।
क्रियतेऽपि पदभ्रष्टैः परेषां तापवारणम्।।"[1]

इस माध्यम से समस्त प्राणियों के लिये यही नीति बतलायी गई है कि मनुष्य को परोपकार से कभी विरत नहीं होना चाहिये, उनका शरीर आभूषण एवं चंदन धारण करने से से सुशोभित नहीं होता अपितु परोपकार से ही मनुष्य के शरीर की शोभा होती है। इससे स्वार्थ के त्याग की भी ध्वनि निकलती है, क्योंकि जिसमें स्वार्थ की भावना नहीं होती वही परोपकार में संलग्न रह सकता है।

स्वाभिमानी व्यक्ति के लिये मीठे वचन ही सन्तुष्ट कर देते हैं, किसी को उसके समक्ष दीन वचन बोलकर याचना नहीं करनी पड़ती। जैसे मयूर मेघ की गर्जना को सुनकर ही आनन्दित हो जाता है और उसी आनन्द में मुग्ध होकर वह नर्तन द्वारा अपनी प्रसन्नता को प्रकट कर देता है और उधर चातक मेघों को देखकर उनसे जीवन की याचना करता है। जैसा कहा गया है-

"अहमस्मि नीलकण्ठस्तव खलु तुष्यामि शब्दमात्रेण।
नाहं जलधर भवत श्चातक इव जीवनं याचे।।"[2]

अभिप्राय यह है कि कोमल मधुर वाणी को सुनकर जिस आनन्द की प्राप्ति होती है वह आनन्द याचना करने पर नहीं मिलता अपितु माँगने से मान की ही हानि होती है और मधुर वचन बोलने वाला बिना माँगे ही इच्छा पूर्ति कर देता है यही इस नीति का मर्म है।

चाणक्य ने कहा है कि बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि अपनी इन्द्रियों को वश में और चित्त को एकाग्र करके देश काल और अपनी शक्ति को जानकर बगुले के समान अपने कार्य को सिद्ध करना चाहिये-

"सर्वेन्द्रियाणि संयम्य वकवत् पण्डितो जनः।
कालदेशोपपन्नानि सर्वकार्य्याणि साधयेत्।।"[3]

दुष्ट व्यक्ति तभी तक तपस्वी रहता है जब तक उसे मनोवांछित फल की प्राप्ति नहीं हो जाती। अभीष्ट सिद्धि के लिये दुष्ट व्यक्ति अपने को दीन हीन प्रदर्शित करता रहता है

---

[1] उद्भट सागर - 1/54
[2] सूक्तिगंगाधर - 3/758
[3] काव्य सग्रह - चाणक्यशतकम् - श्लोक 68

और सरल सज्जन व्यक्तियों के समक्ष अपनी साधुता को ही प्रकट करता है परन्तु अवसर मिलते ही छल-कपट करके तथा कृत्रिम साधुता का परित्याग करके अपने कार्य की सिद्धि कर लेता है। इस प्रकार सज्जनता या साधुता दिखाकर लोगों को दुष्ट व्यक्ति बगुले के समान ठगता रहता है। जैसे बक निष्कम्प, एकाग्र, कपटपूर्वक एक ही पैर पर खड़े रहकर पंखों को भी न हिलाते हुये वह तभी तक अपनी साधुता को प्रकट करता है जब तक मीन उसके मुख में नहीं आ जाती। जैसा कहा गया है-

"न भ्रूणां स्फुरणं न चञ्चुचलनं नो चूलिकाकम्पनं
न ग्रीवाबलनं मनागपि न यत् पक्षद्वयोत्क्षेपम्।
नासाग्रेक्षणमेकपाददमनं कष्टैकनिष्ठं परं
यावत् तिष्ठति मीनहीनवदनस्तावदु बकस्तापसः।।"[1]

इसके द्वारा यहाँ यह नीति कही गई है कि धूर्त कृत्रिम तपस्वियों से सदैव सतर्क रहना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार के लोग सज्जन बनकर प्रायः लोगों को ठगा करते हैं। उसी के साथ यह भी कहा गया है कि अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिये जिस प्रकार बगुला लक्ष्य प्राप्ति पर्यन्त कष्टपूर्वक एकाग्रचित्त होकर फल प्राप्ति का प्रयत्न करता है उसी प्रकार मनुष्य के लिए यह नीति है कि वह भी अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिये एकनिष्ठ होकर कार्य करे। अतएव नीति वाक्यों में 'बको ध्यानम्' की उक्ति प्रसिद्ध है।

काक और बगुले के गुणों के आधार पर ही विद्वानों के मध्य 'काक चेष्टा बको ध्यानं' की उक्ति सर्वाधिक प्रचलित एवं प्रसिद्ध रही है। इस प्रकार की सूक्ष्म उक्तियाँ ही नीति का आधार होती है। जिनके अनुसार कवि या नीतिकार अपनी दृष्टि से सामाजिक हित के लिये नीतियों का प्रणयन कर देते हैं, जो अत्यन्त सटीक होती हैं। इनको ग्रहण करने और समझने से न केवल स्वयं का हित होता है अपितु काक वृत्ति तथा बक वृत्ति वाले लोगों का भी ज्ञान हो जाता है और मनुष्य उनसे सर्तक हो जाता है।

वाचालता, मधुरभाषिता, गेयता आदि गुण कहीं-कहीं आपत्ति के कारण बन जाया करते हैं और मौन रहने से सभी विपत्तियाँ स्वतः दूर हो जाया करती हैं। इसी नीति को व्यक्त करते हुए पञ्चतन्त्र के लब्धप्रणाश में बक के माध्यम से कहा गया है कि उपर्युक्त गुणों के कारण तोता और मैना पिंजडे में बन्द कर लिये जाते हैं परन्तु बक अपनी मौनता के कारण स्वच्छन्द विचरण करता रहता है। अतः चुप रहना सभी कार्यो का साधक होता है। यही नीति बक, तोता एवं मैंना के माध्यम से स्पष्ट की गई है-

---

[1] उद्भट सागर - 3/189

"आत्मनों मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः।
बकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधनम्।।"[1]

नीतिकारों ने विभिन्न माध्यमों को अपनाकर अत्यन्त सटीक एवं सर्वग्राह्य नीतियों का सहज रूप में प्रतिपादन किया है। ये नीतियाँ यदि सीधे प्रयोग कर दी जायें तो सुननें वाले को आपत्ति हो सकती है परन्तु जब इन्हें कवि अपनी अनुभूत प्रतिभा से अन्योक्ति के व्याज से कहता है तो ये नीतियाँ सर्वग्राह्य हो जाती है। जैसे नीतिकार ने ध्यानपूर्वक जब विहंगमों पर दृष्टिपात करते हुये उपेक्षित पक्षी कुक्कुट पर ध्यान दिया तो उसके भी गुणों को ग्रहण कर मानवों के हित के लिए उपस्थित कर दिया। कवि की नीर-क्षीर विवेकी दृष्टि केवल गुणों पर ही नहीं जाती है जो ग्रहण करने के योग्य होते हैं अपितु हेय दुर्गुणों का भी उल्लेख करते हुए वह मनुष्यों को सचेत कर देता है। जैसा कि चाणक्य ने कहा है कि मनुष्य को चार बातें या गुण कुक्कुट से ग्रहण करना चाहिए। जैसे यथा समय जागना, युद्ध के लिए उद्धत रहना, बन्धुओं को उनका भाग देना और आपत्ति में पड़ी हुई स्त्रियों की रक्षा करना-

"युद्धञ्च प्रातरूत्थानं भोजनं सह बन्धुभिः।
स्त्रियामापद्गतां रक्षेच्चतुः शिक्षेत कुक्कुटात्।।"[2]

कुक्कुट के जिन गुणों को ग्रहण करने के लिए नीतिकार ने कहा है वे शास्त्रानुमोदित भी हैं। स्मृतियों में तथा नीतिशास्त्रों में भी यही कहा गया है कि ब्राह्म मुहुर्त में उठकर धर्म और अर्थ की चिन्तना करनी चाहिए और प्रत्येक परिस्थिति में स्त्री की रक्षा करना कर्तव्य माना गया है। सर्वश्रेष्ठ गुण तो समानता का है। जैसे बन्धुओं को उनका भाग देना एवं उनके साथ मिलकर उपभोग करना। वस्तुतः यही तो भारतीय संस्कृति है। वेद भी यही कहते हैं कि सभी लोग मिलकर समानता के आधार पर उपभोग करें। इसमें त्याग की भावना प्रकट होती है। इस नीति का जो आश्रय लेता है वह कभी दुःखी नहीं रहता अपितु सर्वदा समृद्धि एवं सुख शान्ति को प्राप्त करता रहता है।

प्रवासी व्यक्ति को कभी सुख नहीं मिलता ऐसा कहा जाता है। महाभारत में यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देते हुये युधिष्ठिर ने भी यही कहा है कि जो अप्रवासी होता है वही प्रसन्न रहता है, विशेष रूप से वर्षा ऋतु में अपने घर को त्यागकर बाहर रहने पर कहीं भी किसी भी स्थान पर सुख नहीं प्राप्त हो सकता। लोक में भी हम यह देखते हैं कि वर्षाकाल में प्रायः सभी परदेशी अपने-अपने घरों को वापस आ जाते हैं। ये उचित भी है कि इस ऋतु में अपने-अपने घरों की व्यवस्था करना आवश्यक हो जाता है। दात्यूह

---

[1] पञ्चतन्त्र - लब्धप्रणाश - श्लोक 46
[2] काव्य संग्रह - चाणक्यशतकम् - श्लोक 72

अर्थात् नीलकंठ को माध्यम बनाकर उसकी ध्वनि का विश्लेषण करते हुए नीतिकार ने यही नीति कही है कि वर्षा ऋतु में गृह त्याग का विचार मन में नहीं लाना चाहिए और यह शिक्षा दी है कि इस ऋतु में कोई भी मनुष्य गृह त्यागकर कहीं और प्रसन्न नहीं रह सकता। यही शिक्षा 'क्व वा' के द्वारा नीलकण्ठ मनुष्यों को देता है-

"प्रावृट्काले गृहं व्यक्त्वा सुखी को वा भवेत् क्व वा।
इतीरयति दात्यूहः को वा को वा क्व वा क्व वा।।"[1]

नीति काव्यों में यह सांसारिक और आवश्यक नीति कही गयी है कि अपने लोगों की रक्षा करने में जितनी भी पीड़ा उत्पन्न होती है उसकी चिन्ता स्निग्ध जनों को नहीं करनी चाहिए। यदि कष्ट उठाने पर भी किसी की प्राण रक्षा हो जाये तो इससे सर्वश्रेष्ठ और प्रशंसनीय कार्य कोई और नहीं हो सकता। यही शिक्षा और नीति कपोत के माध्यम से दी गई है कि जब जंगल में लगी हुई आग अर्थात् दवानल से उत्पन्न हुए दाह से वृक्षों में स्थित घोसलों में बच्चे जलने की दशा में होते हैं तो कपोती नदी से अपने पंखों में जल ला-ला कर उन्हें दाह से बचाने का प्रयत्न करती है और उस अल्प जल सिंचन से शिशुओं की रक्षा करने का अथक प्रयास करती है और स्वयं के प्राणों की परवाह नहीं करती। यही नीति है कि स्नेही जनों को अपने लोगों की रक्षा के लिये अपनी पीड़ा की गणना नहीं करनी चाहिये। जैसा कि सूक्तिगंगाधर में कहा है-

"शावान् कुलायकगतान् परितातुकामा नद्याः प्रगह्य लघुपक्षपुटेन तोयम्।
दावानलं किल सिषेच मुहुः कपोती स्निग्धोजनो न खलुचिन्तयते स्वपीड़ाम।।"[2]

नीति है कि 'त्याज्यं न धैर्यम् विधुरेऽपिकाले' अर्थात् कितना भी कठिन समय क्यों न आ जाये, कितनी भी विषम परिस्थिति क्यों न उत्पन्न हो जाये, मनुष्य को अपने धैर्य का परित्याग नहीं करना चाहिये। धैर्य ही भविष्य में सुख प्राप्ति का आलम्बन होता है। जो इस नीति का पालन करते हैं वे सदैव सफलता को प्राप्त करते हैं। यह निश्चित सत्य है कि धैर्य धारण करने से उसका फल अवश्य मिलता है और धैर्यशाली व्यक्ति ही विपत्ति सागर को पार करने में समर्थ होते हैं, धैर्यविहीन नहीं। यही नीति चक्रवाक पक्षी के माध्यम से कवि ने प्रतिपादित की है कि हे चक्रवाक कमल समूहों का एकमात्र प्रिय सूर्य अस्त हो गया है और इस संसार में विधि के अनुशासन का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। अतः शोक का परित्याग करते हुए धैर्य का अवलम्बन करो क्यों कि धैर्यशाली व्यक्ति ही विपत्ति सागर को पार करने में समर्थ होते हैं, अधीर व्यक्ति नहीं-

---

[1] उद्भट सागर - 2/99
[2] सूक्तिगंगाधर - 3/778

"अस्तं गतोऽयमरविन्दवनैक बन्धुः
सूर्य्यो न लङ्घयति कोऽपि विरेरनुज्ञाम्।
हे चक्र धैर्य्यमवलम्ब्य विमुञ्च शोकं
धीरास्तरन्ति विपदं न कदाप्यधीराः।।"[1]

ऐसा कहा जाता है कि दिन भर चकवा पक्षी का जोड़ा साथ में रहता है परन्तु शापवश वह जोड़ा रात्रि में पृथक हो जाता है। ऐसी स्थिति में चक्रवाक पक्षी की शोकाकुलता को ध्यान में रखकर धैर्य धारण करने की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए सर्वकालिक दृष्टि से उक्त नीति कही गई है।

इस प्रकार पक्षियों के माध्यम से जिन नीतियों को समाज हित के लिए कहा गया है वे सभी नीतियाँ हृदयस्पर्शी होने के कारण अत्यन्त सटीक हैं। नीतिकाव्यकारों ने बड़े ही चातुर्य के साथ नीतियों को सीधे-सीधे न कहकर उन्हें अन्योक्ति के रूप में व्यक्त किया है, यह उनका वैशिष्ट्य है। यदि सीधे सपाट शब्दों में कोई नीति कही जाय तो सम्भव है कि किसी व्यक्ति को आहत कर दे और उसे अपना अपमान प्रतीत होने लगे। जैसे सपाट शब्दों में अन्धे को अन्धा कह दिया जाय तो उसके मन में नेत्रविहीन होने की ग्लानि उत्पन्न हो सकती है और वह मानसिक रूप से अपने को दुःखी एवं अपमानित महसूस करने लगता है। इसी कारण विद्वानों ने यह नीति अपनायी कि ऐसे व्यक्ति को अन्धा न कहकर सूरदास कहना चाहिये। ऐसा कहने पर भाव तो वही रहता है परन्तु भावना परिवर्तित हो जाती है और सम्बंधित व्यक्ति को अपमान बोध और ग्लानि भी नहीं होती। इसी उद्देश्य को ध्यान रखकर और सम्बंधित विविध पक्षियों के गुणों-अवगुणों का सूक्ष्म अध्ययन करने के अनन्तर मानव हित के लिए जो उपयोगी गुण हो सकते थे उन्हें आत्मसात करते हुए नीति काव्यकारों ने नीतियों का प्रतिपादन कर दिया। यही इसी प्रकार की नीतियों की विशेषता है और इसी विशेषता को व्यक्त करते हुए डा0 राजेन्द्र मिश्र ने कहा है-

"प्रतिभावान कवि के समक्ष एकमात्र 'कर्तव्य' यही रहता है कि वह अपने वक्तव्य को किस चातुरी से व्यक्त करें कि पाठक क्षणमात्र के लिये विस्मित हो जाएँ। क्योंकि अकेला आनन्द तो संगीतादिक से भी प्राप्त हो जायेगा, अतः उस स्थिति में काव्यानन्द का वैशिष्ट्य ही क्या? अन्योक्ति के प्रसंग में भी कवि का बहुत कुछ दायित्व इसी कोटि का होता है। इसी कारण वह प्रस्तुत पक्ष को अभिधया न व्यक्त करके व्यञ्जनया व्यक्त करता है। व्यञ्जना व्यक्त करने पर कोई भी तथ्य अपनी प्रकृत शक्ति से कई गुना अधिक वेग वाला हो जाता है।"[2]

---

[1] उद्‌भट सागर - 3/184

[2] संस्कृत साहित्य में अन्योक्ति - डा0 राजेन्द्र मिश्र - पृष्ठ 11 (प्रस्ताविक)

(III)
कीट-पतंगो के माध्यम से कही गई नीतियाँ

पशु एवं पक्षियों को माध्यम बनाकर अन्योक्ति के व्याज से प्रदर्शित नीतियों का उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं। इसके अनन्तर नीति विषयक उपदेशात्मक तथा नीति से सम्बन्धित शिक्षाओं पर व्यापक रूप से जब हम विचार करते हैं तो हमे यही उपलब्धि होती है कि संस्कृत वाड्गमय में नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा सम्पन्न कवियों ने जिन प्राणियों के गुण, कर्म और स्वभाव को अनुभूत करके नीतियों का प्रतिपादन किया, उसके अर्न्तगत पशु-पक्षियों के अतिरिक्त अन्य लघु से लघुतम जीव भी सूक्ष्मदर्शी मनीषियों की दिव्य दृष्टि से ओझल नहीं हो सके, जो कि कवियों की विशिष्टता को ही प्रकट करते हैं।

इस प्रकार जहाँ कवियों ने पशु-पक्षियों को अपनी नीति का माध्यम बनाया वहीं कीट पतंगो को भी माध्यम मानकर उनके क्रिया कलापों के आधार पर नीति का उन्मेष किया है। यद्यपि ये सभी माध्यम अन्योक्ति परक हैं तथापि इनमें नीति का स्वरूप स्पष्ट रूप से झलकता है, केवल वर्णन शैली का अन्तर है। कोई कवि किसी कीट-पतंग के किसी विशेष गुण को ध्यान में रखकर उसका उल्लेख करता है तो वहीं अन्य कवि अपनी रूचि के अनुसार उसके अन्य गुण स्वभावों को ध्यान में रखकर उसे अपना माध्यम बनाता है। जैसे महाकवि कालिदास ने भ्रमर के क्रिया-कलापों को देखकर उसमें रसानुभूति करते हुये रसाभास के रूप में मधुकर के गुणों का चित्रण किया है और कहा कि पुष्प रूपी एक पात्र में मधुप अपनी प्रिया के साथ मधुपान कर रहा है-

'मधुद्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः' इसे हम अन्योक्ति के रूप में भी ले सकते हैं। जैसे किसी प्रेमी युगल को एक साथ मधुपान करते हुये या भोजन करते हुये जो शास्त्रों में निषिद्ध है को देखकर उक्त कथन कर दिया हो फिर भी प्रासंगिक वर्णन के अनुसार कालिदास को यहाँ रसाभास की अनुभूति हुई। इसके विपरीत भ्रमर के गुणों को देखकर पण्डितराज जगन्नाथ भामिनी विलास में कहते हैं कि हे भ्रमर अन्य सुगन्धियों को तिरस्कृत कर देने वाले देववृक्ष के पुष्प में निवास बनाकर भी अन्य पुष्पों में निवास करने के लिये जाना चाहता है तो तू धन्य है-

''अपनीतपरिमलान्तरकथे पदं न्यस्य देवतरूकुसुमे।
पुष्पान्तरेऽपि गन्तुं वाञ्छसि चेद् भ्रमर! धन्योऽसि।।''[1]

अभिप्राय यह है कि कोई लोभी या नीच व्यक्ति किसी महान दानी या विद्वान के सम्पर्क में रहने के अनन्तर भी किसी कारण साधारण व्यक्ति के संसर्ग में जाने की इच्छा

[1] भामिनी विलास - 1/21

करता है तो यह उसकी मूर्खता ही है। इस अन्योक्ति के द्वारा यही नीति व्यक्त की गई है कि महान व्यक्तियों के सम्पर्क में रहने के अनन्तर साधारण व्यक्तियों के पास निवास के लिए नहीं जाना चाहिए, क्योंकि महान व्यक्ति के पास रहने पर महानता और उत्तम ज्ञान की ही प्राप्ति होती है निम्न व्यक्तियों के साथ रहने पर निकृष्टता ही आती है। जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है–

> "गम्यते यदि मृगेन्द्र मन्दिरम्
> लभ्यते करि कपोल मौक्तिकम्।
> जम्बुकालय गते च लभ्यते
> वत्स पुच्छ खर चर्म खण्डनम्।।"

इसी तारतम्य में भ्रमर के माध्यम से कहा गया है कि जो सन्तोष को नहीं अपनाता वह मूर्ख व्यक्ति पराभव को ही प्राप्त करता है। अतएव शास्त्रों में 'सन्तोषं परमं धनं' कहा गया है। इस कथन को भ्रमर के माध्यम से सिद्ध करते हुये कहा गया है कि गन्ध से परिपूर्ण नव–मल्लिका को त्याग करके मधुकर जूही (यूथिका) के पुष्प पर चला गया और भाग्यवश उसको भी छोड़कर चम्पा के पुष्प पर भटकने के अनन्तर कमल के फूल पर रसपान करने में मतवाला हो गया और इसी समय भाग्यवशात् कमल पुष्प बन्द हो गया और भ्रमर उसके अन्दर क्रन्दन करने लगा। जैसा कहा है–

> "गन्धाढ़यां नवमल्लिकां मधुकरस्त्यक्त्वा गतो यूथिकां
> दैवात्ताञ्च विहाय चम्पकवनं पश्चात्सरोजङ्गतः।
> बद्धस्तत्र निशाकरेण विधिना क्रन्दत्यसौ मूढधीः
> सन्तोषेण विना पराभवपदं प्राप्नोति मूढ़ो जनः।।"[1]

यह असन्तुष्ट लोगों के लिये नीति कही गई है, क्योंकि 'असंतुष्टाः नरः नष्टाः' ऐसा कहा गया है। जो लोग सन्तोष न करके लोभवश इधर–उधर भटकते रहते हैं उन्हें सफलता नहीं मिलती। जैसे भ्रमर मधुपान करने के लिये फूलों पर भटकते हुये विधिवशात् कमल के फूल में बन्द हो जाता है और बन्द होने पर अनेक प्रकार की भविष्य सम्बन्धी कल्पनायें करता हैं कि रात बीतेगी, सूर्य निकलेगा, कमल खिलेगा और मैं फिर मधुपान करूँगा, इस चिन्ता में वह काल को विस्मृत कर देता है अर्थात् काल और भाग्य ही बलवान होता है। जैसे भ्रमर ये चिन्ता करता ही रहा कि उसी समय काल रूप किसी मतवाले हाथी ने आकर उस कमलिनी को समूल उखाड़कर पैरों तले मसल दिया और भ्रमर की सम्पूर्ण भविष्य की कल्पनायें एक साथ समाप्त हो गईं अर्थात् एक पुष्प से

---

[1] काव्य संग्रह – भ्रमराष्टकम् – श्लोक 2

सन्तोष न करके भ्रमर ने लोभवश कई पुष्पों का रसपान करना चाहा और इसी लोभ के कारण अपने प्राण तक गँवा बैठा। जैसा कहा गया है-

"रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पद्मजालम्।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार।।"[1]

मुद्राराक्षस में कौटिल्य अपने शिष्य से कहते हैं कि 'सर्वः सर्वम् न जानाति' अर्थात् सभी व्यक्तियों की सभी विषयों में प्रवृत्ति नहीं होती। अतः जिस व्यक्ति की जिस विषय में विशेषज्ञता होती है उस वस्तु के गुण और दोष विवेचन में उसी व्यक्ति का अधिकार होता है, दूसरे का नहीं। अतएव कहा गया है कि-
'विद्वान एव जानाति विद्वद्जन परिश्रमम्' इसी नीति को भ्रमर के माध्यम से व्यक्त करते हुये कहा गया है-

"दलानाञ्च फलानाञ्च सन्तु ते ते विवेकिनः।
मकरन्द विशेषज्ञो विना भृङ्गमिहास्ति कः।।"[2]

'नहि कृतमुपकारम् साधवो विस्मरन्ति' यह सूक्ति यह प्रदर्शित करती है कि मनुष्य का यह कर्तव्य है कि जिस किसी व्यक्ति ने रंचमात्र भी उसका उपकार किया हो तो किन्हीं भी परिस्थितियों में उसका साथ नहीं छोड़ना चाहिये। मनुष्य को कृतघ्न नहीं अपितु कृतज्ञ होना चाहिये। कृतघ्नता बहुत बड़ा पाप माना गया है। कृतघ्न व्यक्ति नर्क का अधिकारी होता है। जैसे कि यह नीति कही गई है-

"मित्र द्रोही कृतघ्नश्च ये च विश्वासघातकाः।
ते नराः नरकम् यान्ति यावत् चन्द्र दिवाकरौ।।"

ऐसा शास्त्र का कथन है। इसी नीति को भ्रमर के माध्यम से पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है कि बसन्त ऋतु के प्रारम्भ में आम्र की जिन मंजरियों पर मधुर-मधुर गुंजन करते हुये मंजरियों के रस का पान करके सुख को भोगा था, हे भ्रमर भाग्यवश अब मंजरियों के न रहने पर तुम उसका त्याग कर देते हो। अतः तुम्हारे अतिरिक्त कौन ऐसा कृतघ्न व्यक्ति होगा-

"प्रारम्भे कुसुमाकरस्य परितो यस्योल्लसन्मञ्जरी
पुञ्जे मञ्जुलगुञ्जितानि रचयस्तानातनोरूत्सवान्।
तस्मिन्नद्य रसालशाखिनि दशान्दैवात् कृशामञ्चति।
त्वञ्चेन्मुञ्चसि चञ्चरीक! विनयन्नीचस्त्वदन्योऽस्ति कः?।।"[3]

---

[1] काव्य सग्रह - भ्रमराष्टकम् - श्लोक 8
[2] उद्भट सागर - 1/52
[3] भामिनी विलास - 1/47

प्रस्तुत कथन से यही नीति व्यक्त की गई है कि यदि कोई व्यक्ति परिस्थितिवश किसी का उपकार या भरण पोषण करता है या उससे लाभ अर्जित करता है परन्तु दुर्भाग्यवश यदि वह विपन्नावस्था को प्राप्त हो जाय तो उसका साथ नहीं छोड़ना चाहिये। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो यह उस व्यक्ति की कृतघ्नता मानी जायेगी।

लोभ अपमान का कारण होता है। जैसे कोई लोभी या दान प्राप्त करने वाला व्यक्ति दानी से प्रताड़ित होने पर भी लोभाभिभूत होकर लोभान्ध ही बना रहता है। यद्यपि लोभ सभी व्यक्तियों में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है परन्तु वह लोभ जब सीमा का अतिक्रमण कर देता है तो अपमान का जनक हो जाता है। जैसा कि कहा गया है–

"अतिलोभो न कर्तव्यो लोभम् नैव परित्यजेत्।
अति लोभाभिभूतस्य चक्रम भ्रमति मस्तके।।"[1]

यही नीति भ्रमर के माध्यम से कही गयी है कि भ्रमर हाथियों के मस्तक पर बहते हुए मद का पान करने के लिए लोभवश उसके पास बार-बार जाता है ऐसी स्थिति में हाथी अपने कानों से प्रताड़ित करते हुए भ्रमर को दूर हटा देता है फ़िर भी भ्रमर हाथी के द्वारा तिरस्कृत होने पर भी उस अपमान की चिन्ता उसी प्रकार नहीं करता जिस प्रकार कोई अधम व्यक्ति दान प्राप्त करने के लालच में दाता के द्वारा तिरस्कृत होने पर भी उसकी चिन्ता नहीं करता और पुनः पुनः अपमानित होने पर भी दान प्राप्त करने के लोभ से उसके पास जाता रहता है–

"अनुसरति करिकपोलं
भ्रमरः श्रवणेन ताड्यमानोऽपि।
गणयति न तिरस्कारं
दानान्धितलोचनो नीचः।।"[2]

भारतीय नीति यही प्रदर्शित करती है कि मनुष्य को लम्पट और दुराचारी नहीं होना चाहिये। भर्तृहरि ने भी 'एका भार्या सुन्दरी वा दरी वा' के द्वारा यही नीति स्पष्ट की है। फिर भी किसी चरित्रहीन व्यक्ति को देखकर भ्रमर के व्याज से किसी परस्त्री गमन करने वाले लम्पट पुरुष की ओर संकेत करते हुये कहा है कि हे भ्रमर! कमल के कोश का पान करके तुम इतने स्थूल हो गये हो फिर भी तुम्हारी लम्पटता दूर नहीं हुई, क्योंकि अब तुम्हारी चाहत बकुल कली की ओर हो गई है, इससे तुम्हारा चरित्र भी तुम्हारे शरीर के समान ही मलिन हो गया है। जैसा कहा गया है–

---

[1] पञ्चतन्त्र – अपरीक्षितकारक – श्लोक 21
[2] उद्‌भट सागर – 3/192

"कृत्वापि कोशपानं भ्रमरयुवा पुरत एव कमलिन्याः।
अभिलषति बकुलकलिकां मधुलिहि मलिने कुतः सत्यम्।।"[1]

नीति यह है कि मनुष्य को अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही कार्य करना चाहिये। सामर्थ्य की चिन्ता न करके किसी कारणवश केवल दिखावा मात्र के लिये यदि वह कार्य करता है तो इससे उसकी प्रतिष्ठा में वृद्धि नहीं होती अपितु उसका अपमान ही होता है और लोग ऐसे व्यक्ति का उपहास ही करते हैं। इसी नीति को खद्योत (जुगनू) के माध्यम से व्यक्त करते हुये कहा गया है कि हे खद्योत घनघोर अन्धकार को अपने स्वल्प प्रकाश से दूर करने का प्रयास करते हुये तुम्हें लज्जा नहीं आती, तुम्हारे लिये तो इतना ही बहुत है कि तुम इस घने अन्धकार में दिखायी ही पड़ जाते हो-

"ज्योतिरिङ्गण कथं न लज्जसे
यत्तमः शमयितुं समीहसे।
एतदेव बहु किं न मन्यसे
यत् त्वमत्र तिमिरेषु लक्ष्यसे।।"[2]

यह नीति ऐसे दम्भी बुद्धिहीन तथा शारीरिक रूप से दुर्बल व्यक्तियों को ध्यान में रखते हुये कही गई है कि जो अल्पज्ञ होते हुये भी विद्वानों के समक्ष अपनी विज्ञता का प्रदर्शन करते हैं और अन्त में उपहास के पात्र बनते हैं। अतएव मनुष्य उपहास का पात्र न बने इसके लिये यही शिक्षा दी गई है कि अपनी सामर्थ्य को पहचान कर ही कार्य करने में लाभ होता है और सम्मान की प्राप्ति भी होती है अन्यथा नहीं।

खद्योत के समान ही मषक (मच्छर) होता तो लघु शरीर ही है परन्तु बड़ा भयंकर होता है। उसका स्वभाव बहुत ही विलक्षण होता है, ध्वनि मधुर होती है और बड़ी चतुरता के साथ वह अपने कार्य को सम्पन्न करता है और यदि उसके कार्यो का विवेचन किया जाय तो उसकी तुलना खल के साथ ही की जा सकती है। जैसे दुष्ट व्यक्ति अपनी दुष्टता का कभी परित्याग नहीं करता और अपना कार्य सम्पन्न करने या कराने में चातुर्य का प्रदर्शन करता है और सभी के समक्ष कृत्रिम साधुता को प्रदर्शित करता है। वह सर्वप्रथम सरल व्यक्तियों के चरणों में नमन करता है, कान के पास मुँह लगाकर उसकी प्रशंसा करता है परन्तु पीठ पीछे उसकी बुराई करता है और किसी प्रकार उस सज्जन व्यक्ति के रंचमात्र दोष को देखकर निरन्तर उसे ठगता रहता है, ठीक यही गुण मषक में भी विद्यमान रहते हैं जिसको ध्यान में रखते हुये कहा गया है-

---

[1] सूक्तिगङ्गाधर - 3/749
[2] उद्भट सागर - 1/47

"प्राक् पादयोः पततति खादति पृष्ठ मॉसम्
कर्णे कलम् किमपि रौति शनैर्विचित्रम्।
क्षिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशंका
सर्वम् खलस्य चरितम् मषकः करोति।।"

समाज में प्रायः यह देखने को मिलता है कि रंचमात्र उन्नति या धन प्राप्ति या किसी कार्य में सफलता मिलने पर लोग डिंडिम घोष करने लगते हैं, यह प्रवृत्ति क्षुद्र व्यक्तियों की ही होती है और जो महान लोग होते हैं वे अत्यधिक सफलता प्राप्त करने पर भी कभी अहंकार नहीं करते और सदा शान्त बने रहते हैं। जैसे आम की मंजरियों का सुमधुर एवं सुस्वादु रस पीकर भी कोयल गर्व नहीं करता और अपनी मधुरवाणी से सभी के मन को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है यही उसकी महानता है वहीं दूसरी ओर पङ्कयुक्त (कीचड़युक्त) जल को पीकर मेढ़क गर्व के साथ बहुत ही तीव्र ध्वनि करते हुये अपने महत्व को प्रकट करने लगता है। जैसा कहा गया है-

"दिव्यं चूतरसं पीत्वा गर्व नाप्नोति कोकिलः।
पीत्वा कर्दमपानीयं भेको मकमकायते।।"[1]

लोक में 'कूप मण्डूक' की उक्ति अतिशय प्रसिद्ध है। जिसका अभिप्राय यह है कि जिस व्यक्ति ने अपनी सीमा से बाहर निकलकर संसार की विशालता को नहीं देखा है अर्थात् असंख्य रत्नों से परिपूर्ण कोष को नहीं देखा है वह मन्दबुद्धि स्वल्प धन अथवा अपनी निश्चित सीमा को ही सब कुछ समझने लगता है अर्थात् उतने को ही महान समझता है। इसी कथन को राजहंस ओर मेढ़क के व्याज से कवि ने कहा है-

"रे पक्षिन्नागतस्त्वं कुत इह सरसस्तत् कियद् भो विशालं
किं मद्धाम्नोऽपि वाढ़ं नहि नहि सुमहत् पाप मा ब्रूहि मिथ्या।
इत्थं कूपोदरस्थः शपति तटगतं दर्दुरो राजहंसं
नीचः स्वल्पेन गर्वी भवति सुविषमं नापरो येन दृष्टः।।"[2]

अभिप्राय यह है कि कूप के पास आये हुये राजहंस को देखकर मेढ़क पूँछता है कि तुम जहाँ से आये हो वह स्थान कैसा है, क्या वह मेरे निवास स्थान से भी बड़ा है और जब हंस हाँ में उत्तर देता है तो मेढ़क उसका उपहास करते हुये कहता है कि तुम झूठ बोल रहे हो। इस कथन से यह स्पष्ट किया गया है कि निम्न कोटि का व्यक्ति थोड़े से ही घमण्ड करने लगता है और अपने से उच्च लोगों का अपमान और तिरस्कार करने लगता है। अर्थात् जिसने विद्वानों का न तो सत्संग किया है और न विद्धद जनों की सभा का सेवन किया है वह अल्पज्ञ अपने अल्प ज्ञान से लोगों की निन्दा ही करता रहता है, जोकि उचित नहीं। अतः यह नीति यही प्रदर्शित करती है कि अपने को सर्वज्ञ न समझते

---

[1] उद्भट सागर - 2/101
[2] उद्भट सागर - 2/102

हुये विद्वानों का सम्मान करना चाहिये। इसी अभिप्राय को भर्तृहरि ने भी नीतिशतक में व्यक्त करते हुये कहा है–

"यदा किञ्चज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद् बुधजन सकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इवमदो मे व्ययगतः।।"[1]

जब तक अपने से अधिक विद्वान या शक्तिशाली व्यक्ति नहीं मिलता है तब तक अल्पज्ञ एवं दुर्बल व्यक्ति भी अपने को सर्वगुण सम्पन्न, प्रतिभाशाली और सर्वशक्तिमान समझता रहता है। जैसा कहा गया है–

"तावद् गर्ज्जति मण्डूकः कूपमाश्रित्य निर्भयः।
यावत् करिकराकारः कृष्णसर्पो न दृश्यते।।"[2]

यहाँ यही नीति स्पष्ट की गई है कि मनुष्य को कभी स्वयं को सर्वगुण सम्पन्न नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यह संसार बहुत विशाल है और एक से बढ़कर लोग विद्यमान हैं। इसलिये अपने को ज्ञान एवं शक्ति सम्पन्न होने पर भी सामान्य समझना चाहिये, इसी में स्वयं का महत्व होता है। जैसे गंगा आदि पवित्र सम्पूर्ण नदियों के जल को प्राप्त करके भी दिव्य रत्नाकर होते हुये भी समुद्र कुछ भी गर्व नहीं करता परन्तु गोखुर के बराबर जल को प्राप्त करके भी परम प्रसन्न हुआ मेढ़क कर्णकटु गर्वोक्ति करने लगता है। जैसा कहा गया है–

"गङ्गादीनां सकलसरितां प्राप्य तोयं समुद्रः
किंचिद् गर्व न भजति महान् दिव्यरत्नाकरोऽपि।
एको भेकः परममुदितो गोष्पदाम्भोऽपि गत्वा
को मे को मे रटति बहुशोऽखर्वगर्वेण नीचः।।"[3]

उक्त कथन से यह नीति स्पष्ट की गई है कि थोड़े धन से अपने को धनवान एवं सर्वज्ञ समझकर उल्लसित होना क्षुद्र व्यक्तियों का चरित्र होता है, जो महान होते हैं उन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। अतः मनुष्य को यही शिक्षा दी गई है कि क्षुद्र व्यक्ति के समान कभी आचरण नहीं करना चाहिये।

राजनीति की दृष्टि से नक्र (घड़ियाल) के माध्यम से शुष्ठु नीति का प्रतिपादन किया गया है। नीति के सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव आदिअंग होते हैं। इनमें से आसन को श्रेष्ठ मानते हुये कहा गया है कि नक्र अपने स्थान पर रहकर बड़े-बड़े हाथियों

---

[1] नीतिशतक – श्लोक 9
[2] उद्भट सागर – 1/51
[3] उद्भट सागर – 3/190

को भी अपने वश में कर लेता है अर्थात् जल में उन्हें अपनी ओर खींच लेता है परन्तु वही नक्र जब अपने स्थान से हट जाता है तो वह श्वान से भी पराजित हो जाता है। जैसा कहा गया है-

"नक्रः स्वस्थानमासाद्य गजेन्द्रमपि कर्षति।
स एव प्रच्युतः स्थानाच्छुनापि परिभूयते।।"[1]

नीतिकारों की सूक्ष्म दृष्टि जहाँ वाह्य वातावरण में विचरण करने वाले जीव जन्तुओं पर गई, वहीं उन्होंने जलचरों को भी अपनी नीति का विषय बनाया। देखा जाता है कि जहाँ कुछ सम्पन्न होने पर तथा स्वार्थपूर्ति हो जाने पर लोग वित्तविहीन तथा शक्तिहीन अपने आश्रयदाता से पराङ्गमुख होकर अन्य किसी सम्पन्न आश्रयदाता की शरण में चले जाते हैं परन्तु जो कृतज्ञ होते हैं वे अपने आश्रयदाता को किसी भी अवस्था में छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं जाते और निःस्वार्थ भाव से कष्ट सहकर भी अच्छे दिनों के आने की आशा में अपने आश्रयदाता की सेवा में लगे रहते हैं। इसे मत्स्य (मछली) के माध्यम से कवि ने कहा है कि हे तड़ाग ये मछलियाँ ही तुम्हारी हितैषी हैं और इन्हीं से तुम्हारी शोभा बनी रहती है, इनके अतिरिक्त जो भी पक्षीगण तुम्हारे पास आकर आनन्द का उपभोग करते हैं वही तुम्हारे जलविहीन हो जाने पर तुम्हें त्यागकर आकाश मार्ग से अन्यत्र चले जाते हैं, तुम्हारे जल की शोभा बढ़ाने वाले कमल पुष्पों के सूख जाने पर भ्रमर भी तुम्हें त्यागकर आम्र की मंजरियों का आश्रय ले लेते हैं परन्तु मछलियाँ ही एकमात्र तुम्हारी ऐसी सहायक हैं कि वे तुम्हें त्यागकर अन्य किसी का आश्रय नहीं लेतीं। अतः वही तुम्हारी सच्ची मित्र और तुम्हारी आश्रित हैं। जैसा कहा है-

"आपेदिरेऽम्बरपथं परितः पतङ्गा
भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ति।
सङ्कोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो
मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैति।।"[2]

उक्त कथन से यही नीति जनहित में कही गई है कि मनुष्य को स्वार्थ के वशीभूत होकर अपने आश्रयदाता का कभी परित्याग नहीं करना चाहिये। इससे यह नीति भी स्पष्ट होती है कि आपत्तिकाल में सच्चे मित्र ही सहायक होते हैं और स्वार्थी व्यक्ति स्वार्थपूर्ति हो जाने पर साथ छोड़कर अन्यत्र चले जाते हैं।

मछली के माध्यम से यह नीति भी व्यक्त की गई है कि विद्वानों से सुशोभित सभास्थल में अल्पज्ञ की वाचालता शोभित नहीं होती उसी प्रकार मूर्खों की मण्डली में

---

[1] पञ्चतन्त्र - काकोलूकीयम् - श्लोक 45
[2] भामिनी विलास - 1/16

विद्वानों को अपनी विद्वता का प्रदर्शन भी उचित नहीं होता, क्योंकि दुष्ट और मूर्ख लोग उसकी विद्वता का क्षरण करने में कोई संकोच नहीं करेंगे। जैसा कहा गया है–

"शफर संहर चञ्चलतामिमां
द्रुतमगाधजलप्रणयी भव।
इह हि कूजितमञ्जुलजालके
वसति दुष्टबकः सकुटुम्बकः।।"[1]

मछली के माध्यम से यह भी नीति व्यक्त की गई है कि जो पूर्ण होता है, सम्पन्न होता है तथा विज्ञ होता है वह कभी भी अपनी सम्पन्नता और विज्ञता का प्रदर्शन नहीं करता इसके विपरीत जो लघु (निम्न कोटि का) होता है वह अपनी प्रशंसा का घोष करता रहता है। महाकवि कालिदास ने भी 'रिक्तः सर्वो लघु भवति पूर्णता गौरवाय' कहकर इस नीति को पुष्ट किया है। यही नीति बड़ी और छोटी मछली के क्रिया-कलापों को देखकर कही गई है–

"अगाधजलसञ्चारी विकारी नापि रोहितः।
गण्डूषजलमात्रेण शफरी फर्फरायते।।"[2]

आचार्य चाणक्य ने मधुमक्खियों के क्रिया-कलापों तथा उनके संचय करने की प्रवृत्ति को देखकर यह नीति व्यक्त की है कि मनुष्य को धन का संचय दान तथा परोपकार करने के लिये करना चाहिये, जो ऐसा नहीं करता है वह अन्त में पश्चात्ताप करता रहता है। अतः पुण्यात्माओं का भोग करने हेतु धन सदा दान देने के लिये ही होता है, वे कभी भी उसका संचय नहीं करते, क्योंकि दानशील होने के कारण ही कर्ण, बालि आदि का यश आज भी अक्षुण्ण है। इसके विपरीत दान और भोग से रहित चिरकाल से संचित किया हुआ मधुमक्खियों का मधु नष्ट हो जाता है और उनका संचित किया हुआ मधु नष्ट हो गया यह सोंचकर ही अपने दोनों हाथ और पैरों को रगड़ती हुई पश्चात्ताप करती रहती हैं। जैसा कहा गया है–

"देयंभोज्यधनं सदा सुकृतिभिर्नो सञ्चितव्यं कदा
श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपतेरद्यापि कीर्तिः स्थिता।
अस्माकं मधु दानभोगरहितं नष्टं चिरात्सञ्चितं
निर्वाणादिति पाणिपादयुगले घर्षन्त्यहो मक्षिकाः।।"[3]

महान पण्डित आचार्य चाणक्य की सूक्ष्य दृष्टि जहाँ मधुमक्षिका सदृश लघु जीव पर पड़ी वहीं उनकी दृष्टि से भयंकर सर्प के गुण भी ओझल नहीं हो सके। सर्प और दुर्जन

---

[1] उद्भट सागर – 3/198
[2] उद्भट सागर – 1/57
[3] चाणक्य नीति – 11/18

की तुलना करते हुये यह नीति स्पष्ट की कि हे मनुष्यों यदि सर्प और दुष्ट में से तुम्हें किसी एक का चयन करना पड़े तो इन दोनों में से सर्प का चयन करना अधिक श्रेष्ठ है दुर्जन का चयन करना हितकर नहीं, क्योंकि सर्प तो एक बार ही काल आने पर काट्ता है परन्तु दुर्जन तो पग-पग पर डसता रहता है। जैसा कहा गया है-

"दुर्जनस्य च सर्पस्य वरं सर्पो न दुर्जनः।
सर्पो दंशति कालेन दुर्जनस्तु पदे पदे।।"[1]

सर्प के स्वभाव को देखते हुये ही यह नीति व्यक्त की गई है कि शक्ति तथा धनादि न होने पर भी मनुष्य को अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिये अमर्षयुक्त होना ही श्रेयष्कर होता है। जो अमर्षशून्य होता है लोग उसका न तो आदर करते हैं और न उससे भयभीत होते हैं। अतएव कहा गया है कि विषहीन सर्प को भी अपना फण फैलाना चाहिये, क्योंकि विष हो या न हो उसका फण फैलाना ही भयभीत करने में समर्थ होता है। जैसा पञ्चतन्त्र में कहा गया है-

"निर्विषेणापि सर्पेण कर्तव्या महती फय।
विषं भवतु मा वाऽस्तु फटाटोपो भयङ्करः।।"[2]

अभिप्राय यह है कि फण फैलाने पर कौन जान सकता है कि यह विषयुक्त है अथवा विषहीन। अतः आडम्बर मात्र से ही लोग भयभीत हो जाते हैं और इतने भर से ही वह अपनी रक्षा करने में समर्थ हो जाता है।

कहा जाता है कि चाहे सौ मन साबुन से धो डाला जाय परन्तु कोयला कभी श्वेत नहीं हो सकता। इसी प्रकार निन्दनीय दुष्ट व्यक्ति भी ऐसे ही स्वभाव वाला होता है वह कहीं भी किसी भी अवस्था में रहे कितना भी कोमल और सुन्दर क्यों न हो परन्तु लोग इस प्रकार के दुष्ट व्यक्ति से चिन्तित एवं भयभीत ही रहा करते हैं। क्योंकि निन्दनीय दुष्ट व्यक्ति का मुख सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी विषकुम्भ- पयोमुख ही होता है। अतः सर्प के माध्यम से उक्त नीति को पुष्ट करते हुये कहा गया है कि सर्प चन्दन वृक्ष के सम्पर्क में रहता है सदैव उसका स्पर्श करता रहता हैं तपस्वियों के समान वायु का भक्षण करके अपनी क्षुधा की पूर्ति करता है, यहाँ तक कि वह स्वयं मणि से भी विभूषित होता है फिर भी लोग उसके नाममात्र से ही भयभीत होकर उसका परित्याग कर देते हैं। इसी प्रकार निन्दनीय दुष्ट व्यक्ति भी अपने दोष के कारण सदा तिरस्कृत होता रहता है। अतः मनुष्य को ऐसे दुष्ट के सम्पर्क से सदैव बचने का प्रयास करना चाहिये। जैसा कहा गया है-

---

[1] चाणक्य नीति - 3/4
[2] पंचतन्त्र -काकोलूकीयम् - श्लोक 86

"वासः सार्द्ध मलयजगणैः कोमलस्पर्शमङ्गं
क्षुन्निर्वाहः प्रयतपवनैः मस्तकं रत्नयुक्तम्।
तत्रप्याशीविष इति जनैस्त्यज्यते नाममात्राद्
निन्द्यः सर्वो भवति नितरामास्यदोषेण दुष्टः।।"[1]

जैसा कि हम ऊपर व्यक्त कर चुके हैं कि स्वभाव में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता उसका अतिक्रमण नहीं हो सकता। जैसे सर्प को कितना भी दूध पिलाया जाय तो भी उसका विष शान्त न होकर निरन्तर वृद्धि को ही प्राप्त करता रहता है, नष्ट नहीं होता। अतएव 'स्वभावो दुरतिक्रमा' ऐसा कहा जाता है। इस नीति को निर्धारित करते हुये भी स्वभाव मे परिवर्तन या लचीलापन लाने की ओर संकेत करते हुये भी नीतिकारों ने नीतियों का प्रतिपादन किया है और कहा है कि लक्ष्मी चाहने वाले व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह बेंत के समान आचरण करे, सर्प के समान आचरण न करे। यदि वह सर्प के समान आचरण करता है तो उसका विनाश निश्चित है। जैसा कि पञ्चतन्त्र में कहा गया है-

"बलीयसा समाक्रान्तो वैतसीं वृत्तिमाश्रयेत्।
वाञ्छन्नभ्रंशिनी लक्ष्मीं न भौजङ्गी कदाचन्।।"[2]

उक्त नीति का तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति बेंत के समान नम्रता का व्यवहार करता है और समय की गति को पहचानते हुये स्वयं में नम्रता लाता है वह विपुल धन सम्पत्ति को प्राप्त करता है और जो इसके विपरीत सर्प के समान आचरण करता है वह वध के ही योग्य होता है अर्थात् नष्ट हो जाता है। जैसा कि आगे पञ्चतन्त्र के काकोलूकीयम् में ही कहा गया है-

"कुर्वन्हि वैतसीं वृत्तिं प्राप्नोति महतीं श्रियम्।
भुजङ्गवृत्तिमापन्नो वधमर्हति केवलम्।।"[3]

नीति यह है कि जो महान होता है वह समुद्र के समान शान्त और गम्भीर बना रहता है विकार के उपस्थित होने पर भी उसका मन विकृत नहीं होता, यही गम्भीर व्यक्तियों की प्रकृति होती है। जैसे सहस्रो विष से भरे हुये घड़ों से युक्त होता हुआ भी वासुकी नाग कभी गर्व नहीं करता परन्तु बिन्दु मात्र विष को धारण करने वाला वृश्चिक (बिच्छू) कण्टक स्वरूप अपनी पुच्छ को ऊपर उठाये हुये विचरण करता रहता है अर्थात् गर्व करता फिरता है। जैसा कहा है-

---

[1] उद्भट सागर- 2/111
[2] पञ्चतन्त्र - काकोलूकीयम् - श्लोक 18
[3] पञ्चतन्त्र - काकोलूकीयम् - श्लोक 19

"विषकुम्भसहस्रेण गर्व्व नाप्नोति वासुकिः।
वृश्चिको बिन्दुमात्रेण वहत्यूर्द्ध स्वकण्टकम्।।"[1]

अभिप्राय यह है कि स्वल्प मात्र सिद्धि पर गर्व नहीं करना चाहिये। सर्वसम्पन्न होने पर भी शान्त गम्भीर रहना ही मनुष्य को शोभा देता है, इसके विपरीत आचरण करने वाला व्यक्ति लघुता को प्राप्त करता है, उसका तिरस्कार या अपमान करना भी श्रेयष्कर नहीं होता, क्योंकि ऐसा व्यक्ति कभी भी अपनी दुष्टता का त्याग नहीं करता और उससे सभी लोग भयभीत रहा करते हैं। जैसा कि वृश्चिक के ही माध्यम से नीलकण्ठ दीक्षित ने कहा है-

"कीटः कश्चन् वृश्चिकः कियदयं प्राणी कियच्चेष्टते
को भारो हननेदस्य जीवति स वा कालं कियन्तं पुनः।
नाम्नोऽप्यस्य कियद्विभेति जनता दूरे कियद्धावते
किं ब्रूमो गरलस्य दुर्विषहतां पुच्छाग्रशूकस्पृशः।।"[2]

शंख के माध्यम से यह नीति व्यक्त की गई है कि भाग्य में जो लिखा होता है वही घटित होता है, उसका मार्जन करने में कोई समर्थ नहीं होता। जैसे यदि व्यक्ति भाग्यहीन है तो चाहें जितने सम्पन्न परिवार में जन्म लिया हो, उसके सम्बन्धी कितने भी सम्पन्न क्यों न हों उसका दुर्भाग्य फिर भी साथ नहीं छोड़ता भाग्य के अनुसार ही उसे फल की प्राप्ति होती है। जैसे शंख का जन्म रत्नाकर अर्थात् समुद्र से हुआ है अतः रत्नाकर उसके पिता के समान है, समुद्र से ही उत्पन्न होने के कारण लक्ष्मी उसकी भगिनी है, इतना होने पर भी शंख भिक्षा प्राप्ति के लिये स्थान-स्थान पर ध्वनि करते हुये अपनी पीड़ा को व्यक्त करता है। अतः इसे भाग्य की विडम्बना ही कहा जा सकता है। जैसा कहा है-

"पिता रत्नाकरो यस्य कमला यस्य सोदरा।
शङ्खो रोदिति भिक्षार्थी फलं भाग्यानुसारतः।।"[3]

अभिप्राय यह है कि सर्वसम्पन्न होते हुये भी यदि मनुष्य भाग्यहीन है तो उसे कहीं सफलता नहीं मिलती और अपनी रूचि के अनुरूप फल की भी प्राप्ति नहीं होती। महाकवि भर्तृहरि ने यही कहा है-

"यद्धात्रानिजभालपट्ट लिखितम् तन्मार्जितुं कः क्षमः"[4]

इस प्रकार भाग्य से ही सब कुछ प्राप्त हो सकता है। मनुष्य कितना ही गुणवान क्यों न हो, कितने भी उच्च कुल में क्यों न जन्म लिया हो, बाहर से देखने में कितना ही

---

[1] उद्भट सागर - 1/56
[2] काव्यमाला - अन्यापदेशशतकम् - श्लोक 85
[3] उद्भट सागर - 2/108
[4] नीतिशतक - श्लोक 94

सुन्दर एवं स्वस्थ क्यों न प्रतीत होता हो और चाहे जितने बड़े व्यक्ति के सम्पर्क में हो, उक्त गुणों के होते हुये भी यदि वह मन से कुटिल है तो उसकी कुटिलता कभी नष्ट नहीं होती। जैसे शंख समुद्र से जन्म लेता है, देखने में अति सुन्दर और धवल होता है और भगवान विष्णु के हाथ मे निवास करता है, इन गुणों के होते हुये भी वह अपनी कुटिलता (वक्रता) का परित्याग नहीं कर पाता। जैसा कहा है–

"जलनिधौ जननं धवलं वपुर्मुररिपोरपिपाणितले स्थितिः।
इतिसमस्तगुणान्वित शङ्ख भोः कुटिलता ह्रदये ननिवारिता।।"[1]

इस कथन के द्वारा इस नीति की शिक्षा मिलती है कि मनुष्य को कुल, स्थान और वाह्य आवरण के आधार पर किसी की परख नहीं करनी चाहिये क्योंकि उक्त गुणों के रहते हुये भी यदि मनुष्य कुटिल है तो वह अपनी दुष्टता से कभी विरत नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार कीट-पतंगों जैसे क्षुद्र जीवों को माध्यम बनाकर भी अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से नीति काव्यकारों ने मनुष्यों के लिये नीति वचनों का प्रणयन किया है। जो न केवल उपयोगी होने के साथ ही साथ नीतिकारों की सूक्ष्म विवेचिका दृष्टि को भी प्रकट करते हैं।

---

[1] सूक्तिगंगाधर – 3/805

(IV)
वानस्पतिक एवं प्राकृतिक माध्यमों से कही गई नीतियाँ

नीतिकारों की चतुर्दिक विसारिणी बुद्धि के समक्ष जहाँ पशु–पक्षी कीट–पतंग आदि नीति विषय के माध्यम रहे हैं, जिनका कि पूर्व में विवेचन किया जा चुका है और जिसमें मैंने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि पशु–पक्षियों आदि के माध्यम से जिन नीतियों का प्रतिपादन किया गया है, वे बहुत ही स्पष्ट एवं सटीक हैं। इसी आधार पर नीति काव्यकारों ने प्राकृतिक पदार्थों को भी उनके गुणों–अवगुणों के आधार पर अपनी नीति का विषय बनाया है। इसके अन्तर्गत कहीं पर वृक्ष के द्वारा, कहीं सरोवर के द्वारा तो कहीं समुद्र, पर्वत आदि के द्वारा नीतियों का प्रतिपादन किया गया है, जो बहुत ही सरस, मनोहारी तथा सर्वजनहितकारी है। जैसा कि चंदन वृक्ष के व्याज से यह नीति कही गई है कि जिसके आश्रय में रहकर सभी लोगों को गौरव प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो उसी का आश्रय सर्वश्रेष्ठ माना जाता है और यही उसकी महानता होती है परन्तु सम्पन्न होते हुये भी यदि कोई व्यक्ति अपने आश्रय में रहने वालों को अपने गुणों से अभिभूत न कर सके और उसे सम्मान न दे सके तो उसके आश्रय में रहने से क्या लाभ। जैसे सुमेरू पर्वत सोने का बना हुआ है ऐसा कहा जाता है परन्तु वह अपने गुणों से किसी को भी स्वर्णमय नहीं बना पाता उसके आश्रय में रहने वाले सभी वृक्ष वैसे के वैसे बने रहते हैं। इसके विपरीत मलय पर्वत के आश्रय में रहने वाले चंदन वृक्ष के आश्रय में जितने भी वृक्ष होते हैं, उन सभी वृक्षों को अपनी सुगन्धि देकर उन्हे अपने ही समान बना लेता है। जैसा कहा गया है–

> "किं तेन हिमगिरिणा रजताद्रिणा वा
> यत्राश्रिता च तरवस्तरवस्त एव।
> मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
> कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः।।"[1]

इससे यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्य को गुणी व्यक्तियों का ही आश्रय लेना चाहिये, गुणहीन का नहीं। क्योंकि गुणवान व्यक्ति अपने आश्रय में रहने वाले निर्गुणी व्यक्तियों को भी अपने गुण देकर उनका गौरव बढ़ा देते हैं। जैसे पारस पत्थर का स्पर्श कर लोहा भी स्वर्ण बन जाता है। इस प्रसंग में आश्रयदाता का महत्व बतलाया गया है।

इसके साथ ही चन्दन वृक्ष की महत्ता के द्वारा उसके गुणों का उल्लेख करते हुये परोपकारी व्यक्ति के समान वर्णित करते हुये नीति कही गई है कि जो परोपकारी व्यक्ति

---
[1] नीतिशतक – श्लोक 81

होता है वह सभी के प्रति समान दृष्टि रखता है, उसके मन में भेदभाव की भावना नहीं रहती। यही नीति भी है कि मनुष्य को किसी के प्रति दुर्भावना न रखते हुये दूसरों का उपकार ही करना चाहिये। जैसे चन्दन वृक्ष के मूल में सर्प लिपटे रहते हैं, शिखर पर वानर और शाखाओं पर पक्षी निवास करते हैं और फूलों पर भँवरे सदा आश्रित रहते हैं, इस प्रकार चन्दन वृक्ष सभी को अपना आश्रय बिना किसी भेदभाव के प्रदान करता है। जैसा कहा है–

"मूलं भुजङ्गैः शिखरं प्लवङ्गैः
शाखा विहङ्गैः कुसुमञ्च भृङ्गैः।
श्रितं सदा चन्दनपादपस्य
परोपकाराय सतां विभूतिः।।"[1]

दूसरों का हित करने के लिये किसी विशेष साधन की आवश्यकता नहीं होती मन, वाणी कर्म, तथा शरीर से भी उपकार किया जा सकता है। जैसे चन्दन के वृक्ष में विधाता ने फल और पुष्प नहीं उत्पन्न किये फिर भी वह अपने शरीर से ही दूसरों के सन्ताप को दूर कर देता है जैसा कहा गया है–

''यद्यपि चन्दनविटपी फलपुष्पविवर्जितः कृतो विधिना।
निजवपुषैव तथापि स हरति सन्तापमपरेषाम्।।''[2]

जो व्यक्ति सज्जन और परम दयालु होता है वह अपनी हानि करने वाले अथवा निन्दित व्यक्तियों को भी सम्मान देते हुये उपकार करने में ही लगा रहता है, स्वप्न में भी वह अपकार की बात नहीं सोंचता, यही सर्वोत्तम नीति है। यही नीति चन्दन वृक्ष के माध्यम से कही गई है कि तुम्हारी महिमा का वर्णन कौन कर सकता है, क्योंकि तुम तो इतने दयालु और परोपकारी हो कि विष वमन करने वाले सर्पो को भी अपनी सुगन्धि से पुष्ट ही करते रहते हो, उन्हें दूर हटाने का कोई भी उपक्रम तुम नहीं करते हो। जैसा कहा है–

''अयि मलयज! महिमाऽयं कस्य गिरामस्तु विषयस्ते?
उद्गिरतो यद् गरलम्फणिनः पुष्णासि परिमलोद्गारैः।।''[3]

मनुष्य को गम्भीर, साखान तथा आत्मबली होना चाहिये, क्योंकि जो सारवान और आत्मबली है यदि वह क्षुद्र प्राणी भी है तो भी असारवान तथा आत्म निर्बल व्यक्ति को पराभूत करने की सामर्थ्य रखता है। जैसे संसार में गगन चुम्बी महान वृक्ष पाये जाते हैं

---

[1] उद्भट सागर– 1/72
[2] सूक्ति गंगाधर– 3/825
[3] भामिनी विलास– 1/10

परन्तु वे लोगों के चित्त को प्रसन्न करने में समर्थ नहीं हो पाते जितना कि चंदन वृक्ष लोगों को आनन्दित करने में समर्थ होता है। जैसा कहा गया है–

> ''सन्त्येव गिलिताकाशा महीयांसो महीरूहाः।
> तथापि जनताचेतोनन्दनश्चन्दनद्रुमः।।''[1]

सज्जनों का स्वभाव विचित्र होता है उनके मन में किसी के भी प्रति ईर्ष्या, द्रोह आदि की भावना नहीं रहती वे उपकारी और अपकारी दोनों के प्रति समान उदार भाव रखते हैं। जैसे चंदन का वृक्ष काटने पर भी और रगड़ने पर भी अपने काटनें वाले तथा पीसने वाले को अपनी सुगन्धि से सन्तुष्ट ही करता है। वह इसका ध्यान नहीं रखता कि मैं इस व्यक्ति के द्वारा काटा जा रहा हूँ, घिसा जा रहा हूँ या इस व्यक्ति के द्वारा मुझे कष्ट दिया जा रहा है। वह सबके प्रति समान भाव रखते हुये परोपकार में ही लगा रहता है। जैसा कहा है–

> "पाटीर! तव पटीयान् कः परिपाटीमिमामुरीकर्त्तुम्?
> यत् पिंषतामपि नृणाम्पिष्टोऽपि तनोषि परिमलैः पुष्टिम्।।"[2]

जिस व्यक्ति को शरण में रख लिया गया हो वही व्यक्ति यदि शरणदाता के अपमान और निन्दा का कारण बन गया हो तो भी सज्जन लोग शरणागत का परित्याग नहीं करते ओर 'सर्वतो भावेन' उसका पालन करते हैं। जैसे चंदन वृक्ष शरण में आये हुये भुजङ्गों का परित्याग नहीं करता जब कि उन्हीं के कारण चंदन वृक्षों के पास जाने से लोग भयभीत होते रहते है। माघ ने भी 'शिशुपालवध' में यही नीति व्यक्त करते हुये 'विष वृक्षोऽपि सर्वद्धय् स्वयं क्षेत्तुमसाम्प्रतम्' कहा है, इसी नीति को पण्डितराज जगन्नाथ ने भामिनी विलास में भी चंदन वृक्ष के माध्यम से व्यक्त करते हुये कहा है–

> "यैस्त्वङ्गुणगणवानमपि सतान्द्विजिह्वैरसेव्यतान्नीतः।
> तानपि वहसि पटीरज! किङ्कथयामस्त्वदीयमौन्नत्यम्।।"[3]

सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी यदि व्यक्ति में कोई बड़ा दोष होता है तो उस दोष के कारण उसके महत्व में निम्नता आ जाती है। जैसे दुष्टों के सम्पर्क में रहने वाले सर्वगुणी व्यक्ति से भी लोग भयभीत रहा करते हैं और वही दोष उसके महत्व को क्षीण कर देता है। जैसे दारिद्रय दोष समस्त गुणों को नष्ट करने वाला हो जाता है। अतएव उचित ही कहा गया है कि 'दारिद्रय दोषो गुणराशि नाशी'। इसी नीति को चन्दन वृक्ष के व्याज से कहा गया है कि हे चंदन तुम्हारी सुगन्धि त्रैलोक्य में प्रसिद्ध है, तुम्हारी शीतलता भी

---

[1] उद्भट सागर – 2/124
[2] भामिनी विलास – 1/11
[3] भामिनी विलास – 1/19

अलौकिक है और तुम्हारी कीर्ति चारो दिशाओं में व्याप्त है, इतने सब गुण होने पर भी तुम्हारे कोटरों में विषवमन करती हुई जो सर्पो की श्रेणियाँ विद्यमान हैं, वे तुम्हारे गुणों का अपहरण कर लेती हैं। जैसा कहा है–

"सौरभ्यम्भुवनत्रयेऽपि विदितं शैत्यन्नु लोकोत्तरं
कीर्तिः किञ्च दिगङ्गनाङ्गणगता किन्त्वेतदेवं श्रृणु।
सर्वानेव गुणानियन्निगिरति श्रीखण्ड ! ते सुन्दरा-
नुज्झन्ती खलु कोटरेषु गरलज्वालान्द्विजिह्वावली।।"[1]

इस कथन के द्वारा यही नीति स्पष्ट की गई है कि मनुष्य को अपने सम्मान की रक्षा के लिये तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के लिये दुष्टों का संग नहीं करना चाहिये, क्यों कि दुष्टों का सम्पर्क हानिकारक होने के साथ ही साथ गुणों का क्षय करनें वाला होता है।

यदि किसी सम्पन्न व्यक्ति के सानिध्य मे रहकर भी किसी याचक की इच्छा पूर्ण न हो और वह निराश हो जाय तो इससे उस धनी व्यक्ति का ही तिरस्कार होता है, क्योंकि उस व्यक्ति की आशायें यदि उस सम्पन्न व्यक्ति से पूर्ण नहीं हो सकीं, जो सब कुछ करनें में समर्थ है, तो वह भिक्षु अन्यत्र किससे याचना करने जाय। इसी को कल्पवृक्ष के माध्यम से प्रस्तुत करते हुये कवि ने कहा है कि यदि अर्थी व्यक्ति कल्पवृक्ष के नीचे रहकर भी भूखा रह जाय तो वह व्यक्ति इस पृथ्वी के ऊपर ऐसा कौन सा वृक्ष है, जिससे इच्छापूर्ति के लिये याचना करे। जैसा कहा गया है–

"सुरतरूमूलनिवासी यद्युपवासी भवेदर्थी।
कमपरभूरूहमवनौ स्वोदरभरणाय याचतामेषः।।[2]

इस कथन से इसी नीति की ओर संकेत किया गया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी की इच्छापूर्ति करने में समर्थ है तो इस कार्य में उसे विलम्ब नही करना चाहिये, क्योंकि अर्थी व्यक्ति की इच्छापूर्ति होनें पर उसके अन्तःकरण से निकली हुई शुभाशंशायें अतीव हित करने वाली होती हैं।

'दैवो विचित्रः गातिः' अर्थात संसार की गति बड़ी विचित्र है इसकों समझ पाना ईश्वर को समझने के समान है, प्रकृति की महिमा बड़ी विस्मयकारी है। जहाँ प्रकृति किसी को प्रसन्न करती है, उसका विकास करती है वहीं किसी को उदास भी कर देती है। समाज में भी हम यही देखते है कि किसी व्यक्ति से कुछ लोग सन्तुष्ट होते हैं और कुछ लोग असन्तुष्ट। कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं जो सभी को सन्तुष्ट रख सके। जैसे मेघ अपने अमृत तुल्य वर्षा के कारण सभी वनस्पतियों को विकसित, पुष्पित–पल्लवित कर देता है

---

1 भामिनी विलास - 1/37
2 उद्भट सागर - 2/122

अर्थात सभी प्रकार की वनस्पतियाँ वर्षा के कारण प्रसन्न हो उठती हैं, वहीं अर्क वृक्ष जो वर्षा आगमन के पूर्व हरे भरे पत्तों से सुशोभित होता है वह मेघ द्वारा की गई वर्षा से उदास हो जाता है, क्योंकि बरसात में उसके पत्ते जो उसकी सुन्दरता को बढ़ाने वाले होते हैं, नष्ट हो जाते हैं और वह शोभारहित होने से उदास होकर डुण्ड (स्थाणु) मात्र रह जाता है। कवि ने इसी भाव को अर्क को माध्यम से कहा है–

''त्वयि वर्षति जीमूत सर्व्वे पल्लविता द्रुमाः।
अस्माकन्त्वर्क वृक्षाणां पूर्व्वपत्रञ्च नश्यति।।''[1]

यद्यपि उक्त कथन में मेघ की भी अनुदारता तथा पक्षपातता का बोध कराया गया है तथापि अर्क की दीनहीनता पर भी यह घटित हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो अर्क के सामान होते हैं, वे दाता के द्वारा दान दिये जाने पर भी आन्तरिक ईर्ष्याग्नि में स्वयं अपना सब कुछ नष्ट कर देते हैं, यह भाव भी व्यक्त होता है। अतः दान पाने पर ईर्ष्याग्नि से नहीं अपितु उसे सहृदयता से ग्रहण करना चाहिये।

विद्वानों का यह कथन है कि 'नहि कृतमुपकारम् साधवो विस्मरन्ति' अर्थात जिस किसी भी व्यक्ति ने किस दूसरे के साथ रंचमात्र भी उपकार किया है तो उपकृत व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि उसके किये हुये उपकार को कभी विस्मृत न करे, यही उसकी महानता है। इसी नीति को नारिकेल वृक्ष (नारियल) के माध्यम से व्यक्त कियाा गया है–

"प्रथमवयसि पादे तोयमल्पं स्मरन्तः
शिरसि निहितभारा नारिकेरा नराणाम्।
ददति परममिष्टं तोयमाजीवनान्तं
नहि कृतमुपकारम् साधवो विस्मरन्ति।।"[2]

इस प्रकार जो सज्जन परोपकार व्रत को स्वीकार करते हैं वे उसका निर्वाह करने में कितना भी कष्ट क्यों न उठाना पड़े फिर भी उन कष्टों को सहते हुये अपने परोपकार व्रत से कभी विचलित नहीं होते। इसी को कपास के माध्यम से कवि नें कहा है कि कपास को पीसा जाता है, तौला जाता है, नोंचा जाता है और धुना जाता है परन्तु इतनें कष्टों को सहते हुये भी वह अपने परोपकार व्रत को नहीं त्यागता। जैसा कहा है–

"निष्पेषोऽपि च यस्य दुस्सहतरः कष्टं तुलारोहणं
ग्राम्यस्त्रीकरलुंछनव्यतिकरस्तन्त्री प्रहारव्यथा।
मातंगोक्षितमण्डवारिकणिकापानं च कूर्चाहतिः
कार्पासेन परार्थसाधनधिया किं किं न वांगीकृतम्।।"[3]

---

[1] उद्भट सागर – 1/66
[2] उद्भट सागर – 1/76
[3] सूक्तिमुक्तावली – पद्धति 23

इससे यही नीति व्यक्त की गई है कि अपने अंगीकार किये गये व्रत का जीवन पर्यन्त पालन करते रहना चाहिये यदि उसका पालन करने में कष्टों को भी सामना करना पड़े तो उन कष्टों को ध्यान में न रखकर परोपकार करते रहना चाहिये, उससे विरत होना सज्जनों का धर्म नहीं है।

परोपकार का गुण सभी गुणों से श्रेष्ठ होता है। जिसमें कोई भी गुण न हो और वह परोपकारी हो तो अन्य सभी गुण उसी में समाहित हो जाते हैं ओर बुध जन उसका सम्मान करते हैं। जैसे कपास के फल नीरस होते है, सुगन्ध रहित होते हैं फिर भी उनका जन्म सार्थक है, क्योंकि उससे बने हुये तन्तु और तन्तुओं से बने वस्त्र दूसरों की शोभा को बढ़ाने वाले और छिपाने योग्य अंगों को छिपाने में समर्थ होते हैं अर्थात् कपास में परोपकार का गुण रहने के कारण उसके अन्य दोष या अवगुणों की गणना नहीं होती और वे सब उसके एकमात्र परोपकार के गुण मे समाहित हो जाते हैं। जैसा कहा है-

''नीरसान्यपि रोचन्ते कार्पासस्य फलानि मे।
येषां गुणमयं जन्म परेषां गुह्यगुप्तये।।''[1]

जिसका जो स्वभाव होता है उस स्वभाव में परिवर्तन कभी नहीं होता। अतएवं कहा जाता है 'स्वभावो दुरतिक्रमा'। इस सूक्ति के द्वारा नीतिकारों ने यही स्पष्ट किया है कि जिसका जो मूल स्वभाव होता है उसको परिवर्तित नहीं किया जा सकता। क्योंकि स्वभाव तो जन्म के साथ ही उत्पन्न होता है और इसी कारण वह सहज होता है। इसी नीति को नीम के वृक्ष के माध्यम से कहा गया है कि यदि जीम के बीज को शर्करा और घृत के सहयोग से भावित किया जाय तथा दूध से उसका प्रतिदिन सिंचन किया जाय तो भी वह मीठा नहीं हो सकता क्योंकि कड़वापन नीम का मूल स्वभाव है अतः उसे किसी भी यत्न से परिवतर्तित नहीं किया जा सकता। जैसा कहा गया है-

"शर्कराघृतयोगेन निम्बबीजं प्रतिष्ठितम्।
अपि क्षीरसदाक्षेपैर्निम्बः किं मधुरायते।।"[2]

इस संसार में कोई कितना भी सुन्दर, सुरम्य तथा स्वस्थ क्यों न हो यदि उससे व्यक्ति, समाज तथा देश का कोई लाभ न हो सके तो ऐसे व्यक्ति से क्या लाभ, जिस धन का दीन दुखी व्यक्तियों के हित में सदुपयोग न हो सके और जिससे परोपकार न किया गया हो ऐसे धन से क्या लाभ, जिस ज्ञान तथा विद्या का उपयोग जिज्ञासुओं तथा विद्यार्थियो के हित में न किया गया हो तो ऐसे ज्ञान और ऐसी विद्या की क्या उपयोगिता, इसी प्रकार वह शक्ति भी व्यर्थ है जिससे पीड़ित व्यक्तियों की रक्षा न की गई हो और

---

[1] सूक्तिगगाधर - 3/827
[2] उद्‌भट सागर - 1/77

वह गुण भी व्यर्थ है जिसका प्रयोग सामाजिक हित के लिये न हो सका हो, ये सभी पलाश पुष्प के समान व्यर्थ हैं, क्योंकि पलाश की सुन्दरता और सुरम्यता किस काम की कि जिसके पुष्प में न तो खुशबू है और न उसके फलों का रस ही मधुर है, अतः पलाश के माध्यम से यही नीति व्यक्त की गई है कि मनुष्य को पलाश के समान अपने जीवन को व्यर्थ नहीं नष्ट करना चाहिये अपितु उसको लोगो के हित के लिये लगाना चाहियें। यही अन्योक्ति के व्याज से कहा गया है-

"सुरक्तेन सुरम्येण किं पलाशेन पक्षिणाम्।
यस्य पुष्पे न सौरभ्यं फले न मधुरो रसः।।"[1]

पलाश के समान शाल्मली वृक्ष को भी ध्यान में रखकर यही बात अन्योक्ति के रूप में कही गई है कि ऐसे उच्छृंखल व्यक्तियों से समाज तथा देश का कभी कल्याण नहीं हो सकता जो बाहर से देखने में तो बहुत ही आकर्षक लगते हैं परन्तु भीतर से सारहीन होते हैं, फिर भी ऐसे व्यक्तियों के आकर्षक वाह्य आवरण को एवं व्यवहार कुशलता को देखकर एक बार सहसा लोग उसकी ओर आकर्षित हो जाते है परन्तु अन्त में उन्हें निराशा ही हाथ लगती है। यही नीति शाल्मली वृक्ष के व्याज से कही गई है कि शाल्मली वृक्ष हंस कमल वन की आशा से, भ्रमर सुगन्धि की लालसा से, पथिक स्वादिष्ट फल की कल्पना से, कौवे तथा गिद्ध आदि पक्षी माँस की आशा से तुम्हारे पास आते हैं परन्तु अन्त में ये सभी निराशा को ही प्राप्त करते है। जैसा कहा गया है-

''हंसाः पद्मवनाशया मधुलिहः सौरभ्यगन्धाशया
पान्थाः स्वादुफलाशया बलिभुजो गृद्धाश्चमांसाशया।
दुरादुन्नतपुष्परागनिकरैर्निस्सारमिथ्योन्नते!
रे रे शाल्मलिपादप! प्रतिदिनं के न त्वया वंचिताः।।''[2]

इससे यही सिद्ध होता है कि पाखण्ड के आवरण में जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्ति का समाज में कभी सम्मान नहीं होता। अतः व्यक्ति को पाखण्ड एवं वाह्य आडम्बर से सदा दूर रहना चाहिये।

शाल्मलि वृक्ष के ही माध्यम से यह नीति कही गई है कि किसी भी सुन्दर, स्वस्थ वस्तु को देखकर भविष्य में उससे लाभ की आशा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि आशायें कभी पूर्ण नहीं होतीं और उनके पूर्ण न होने पर दुःख की ही प्राप्ति होती है और आशा निराशा में ही परिवर्तित हो जाती है। जैसे शाल्मलि के नयनानन्ददायक पुष्प को देखकर शुक मन में यह आशा करता है कि इसका फल भी इसी के समान सुन्दर एवं सुस्वादु

---

[1] उद्भट सागर- 1/80
[2] उद्भट सागर- 3/226

होगा, इस प्रकार विचार करके फल प्राप्ति के निमित्त आशान्वित रहता है, भाग्यवश पुष्प के पक जानें पर उसके मध्य से केवल तूल ही निकलता है और उसे भी पवन उड़ा ले जाता है, अत. उसको निराशा ही हाथ लगती है जैसा कहा है–

"विशालं शाल्मल्या नयनसुभगं वीक्ष्य कुसुमं-
शुकस्यासीद् बुद्धिः फलमपि भवेदस्यसदृशम्।
इति ध्यात्वोपास्यं फलमपि च दैवात्परिणमं विपाके-
तूलोऽन्तः सपदि मरूता सोऽप्यपहृतः।।"[1]

आम्र का वृक्ष और फल दोनो पूज्यनीय और महत्वशाली होते हैं। मांगाजिक कार्यो में आम्र के पल्लवों का उपयोग होता है और उसका फल तो फलों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है। मेरी दृष्टि मे यही एक ऐसा फल है जो उच्छिष्ट होने पर भी उच्छिष्ट नहीं माना जाता उसे मुख में रखकर लोग बाारम्बार रसपान करते हैं फिर भी उससे विरक्ति नहीं होती। आम्र रस से परपूर्ण होता है, इसीलिये इसे रसाल कहा जाता है। इतने गुणों से परिपूर्ण होने पर भी कवि ने उसकी एक विशेषता को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से परखकर कहा है कि हे रसाल तुम अपनी सुगन्धि से सम्पूर्ण दिशाओं को सुगन्धित कर देते हो और नेत्रों को लुभा लेने वाले सौन्दर्य को भी धारण करते हो इतना सब कुछ होते हुये भी हे फल श्रेष्ठ फिर भी तुममे एक दुर्गुण है कि जो तुम्हारा हृदय अत्यन्त कठोर है, क्योंकि तुम अपने हृदय में ग्रन्थिल (गुठ्ली) को धारण करते हो। जैसा कहा है–

"दिङ्मण्डलं परिमलैः सुरभीकरोषि
सौन्दर्य्यभावहसि लोचनलोभनीयम्।
हंहो रसाल फलवर्य्य तथापि दूये
यद् ग्रन्थिलं स्वहृदयं कठिनं विधत्ते।।"[2]

इस कथन के द्वारा यही बतलाया गया है कि कोई व्यक्ति कितना भी यशस्वी, सुन्दर और गुणी हो फिर भी यदि उसका हृदय कठोर है तो उसे विधि की विडम्बना ही कहा जा सकता है।

समाज में ऐसा देखा जाता है कि एक ही माता-पिता के अनेंक पुत्रों में गुणों का अन्तर विद्यमान रहता है। इतना ही नहीं युग्म सन्तानों में भी गुणों का अन्तर स्पष्ट दिखायी पड़ता है। इसी अन्तर को ध्यान में रखकर बेर के वृक्ष के माध्यम से चाणक्य नीति में कहा गया है कि एक ही माता पिता से और एक ही नक्षत्र में उत्पन्न हुये सभी बालक गुण और कर्म में उसी प्रकार समान नहीं होते जिस प्रकार बेर और उसके कांटे

---

[1] भल्लटशतक – श्लोक 93
[2] उद्भट सागर – 1/83

एक ही वृक्ष से उत्पन्न होते हैं परन्तु गुण और कर्म में वे सर्वथा एक दूसरे के विपरीत होते है। जैसा कहा है-

"एकोदरसमुद्भूता एकनक्षत्रजातकाः।
न भवन्ति समाः शीले यथा बदरकण्टकाः।।"[1]

वृक्षों को ही माध्यम बनाकर आचार्य चाणक्य ने यह हितकारी नीति बतायी है कि इस संसार में मनुष्य को अत्यन्त सरल और सीधे स्वभाव वाला नहीं होना चाहिये, क्योंकि सीधे और सरल स्वभाव वाले व्यक्तियों का ही उत्पीड़न होता है। जैसे कि वन में जो सीधे और सरल वृक्ष होते है उन्हें ही लोग काट देते है और जो टेढ़े, काँट्दार एवं वक्र वृक्ष वृक्ष होते है उन्हें कोई नही काट्ता। जैसा कहा है-

"नाऽत्यन्तं सरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम् ।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः।।"[2]

जो व्यक्ति इस लोक में अपने कर्म से, गुण से, धन से तथा शाक्ति से लोगों का हित करता है, उसी मनुष्य का जीवन सार्थक माना जा सकता है, इसके अतिरिक्त अन्य का जीवन पृथ्वी पर भारभूत होता है। इसी नीति को ध्यान में रखकर पंचतत्र में फलवान एवं छायादार वृक्ष के माध्यम से कहा गया है कि जिसकी छाया में बैठ्कर अरण्य के पशु विश्राम करते हैं, पक्षियों का जो शरणदाता है, अपने कोटरों में कीट-पतंगों को जो आश्रय देता है, भ्रमर समूह जिसके पुष्पों का रसपान करते हैं साथ ही जो फूल, फल, पत्र लकड़ी आदि से सभी जीवों को सुख प्रदान करता है वही वृक्ष श्लाघनीय होता है इसके अतिरिक्त अन्य वृक्ष पृथ्वी पर भार तुल्य होते हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। जैसा कहा है-

"छायासुप्तमृगः शकुन्तनिवहैर्विष्वाग्विलुप्तच्छदः
कीटैरावृतकोटरः कपिकुलैः स्कन्धे कृतप्रश्रयः।
विश्रब्धं मधुपैर्निपीतकुसुमः श्लाघ्यः स एव द्रुमः
सर्वाङ्गैःर्बहुसत्त्वसङ्गसुखदो भूभारभूतोऽपरः।।"[3]

इसी तारतम्य में आचार्य कौटिल्य ने किंशुक अर्थात् पलाश वृक्ष के माध्यम से कहा है कि जिस प्रकार सुन्दर पलाश के पुष्प गन्धरहित होने के कारण सुशोभित नहीं होते उसी प्रकार रूप और यौवन से सम्पन्न तथा उच्च कुल में उत्पन्न हुआ व्यक्ति भी यदि विद्याविहीन है तो उसकी शोभा नहीं होती, क्योंकि विद्या ही मनुष्य का अलंकार एवं परम धन माना गया है। जैसा कहा है-

---

[1] चाणक्य नीति - 5/4
[2] चाणक्य नीति - 7/12
[3] पंचतत्र - मित्रसम्प्राप्तिः - श्लोक 2

''रूपयौवनसम्पन्नः विशालकुलसम्भवाः।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः।।''[1]

इस संसार में जीवन सभी व्यतीत करते हैं परन्तु जीवन जीने की कला से सभी परिचित नहीं होते। वस्तुतः जिनको जीवन जीने की कला का ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उन्हीं का जीवन सार्थक होता है और वही दुष्टों तथा शत्रुओं से अपनी रक्षा करने में समर्थ होते हैं। वेतस् के माध्यम से यही नीति स्पष्ट होती है कि सभी वृक्षों में वेतस् ही जीवन जीने की कला को समझता है और उसी के आधार पर अपने जीवन की रक्षा करता है। जैसे नदी में बाढ़ आने पर अन्य अडिग वृक्षों का तो पतन हो जाता है परन्तु नम्रता के कारण वेतस् अपने प्राणों की रक्षा कर लेता है। वस्तुतः 'आत्मानं सततं रक्षेत्' की नीति का परिपालन करना बेत के वृक्ष से ही सीखना चाहियें। जैसे कहा गया है–

"सर्व्वेषामपि वृक्षाणां कार्य्यज्ञो वेतसद्रुमः।
नम्रीभूयाऽवति प्राणान् नदीपूररिपूदये।।"[2]

कृतज्ञता ही मनुष्य के स्वभाव की परिचायक हुआ करती है। अतः मनुष्य को कभी कृतघ्न नहीं होना चाहिये, उपकार करने वाले व्यक्ति के प्रति कभी अपकार की भावना मन में भी नहीं लानी चाहिये। जो महान व्यक्ति होते है वे न तो अनुपकार की बात सोचते हैं बल्कि इसके विपरीत वे अनुपकारियों और कृतघ्नों के कार्यो को देखकर स्वयं लज्जित होते हैं। जिसके फलस्वरुप वह स्वयं को भी नष्ट करने में संकोच नही करते। जैसे ताड़ के पेड़ के फल को अनुपकारी समझकर लज्जा के कारण दूसरों के लिये फल को प्रदान करते हुये कदली वृक्ष स्वयं को भी समर्पित कर देते है। जैसा कहा गया है–

"तालीतरोरनुपकारि फलं फलित्वा
लज्जावशादुचित एव विनाशयोगः।
एतत्तु चित्रमुपकृत्य फलैः परेभ्यः
प्राणान् निजान् झटिति यत् कदली जहाति।।"[3]

महाकवि कालिदास की यह उक्ति–

'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दो किरणेष्वङ्कः' यह सूक्ति केतकी के वृक्ष पर पूर्णतया चरितार्थ होती है। जैसे केतकी का वृक्ष सर्पो से युक्त होता है, उसमें फल नहीं होते अपितु काँटे होते हैं, वृक्ष भी टेढ़ा होता है, कीचड़ में उत्पन्न होता है और कठिनाई से उसे प्राप्त किया जा सकता है। इतने सब अवगुणों के होते हुये भी उसमें जो एकमात्र सुगन्धि का गुण होता है, वही समस्त दोषों को नष्ट कर देता है। क्योंकि उसी सुगन्धि के

---

[1] चाणक्य नीति – 3/8
[2] उद्भट सागर– 1/81
[3] उद्भट सागर– 2/121

वशीभूत होकर लोग उसके अन्य अवगुणों को भुला देते हैं। इस प्रकार केतकी वृक्ष के माध्यम से यही नीति स्पष्ट की गई है कि किसी व्यक्ति में कितने भी दोष क्यों न हो परन्तु यदि उसमें कोई एक भी विशेष (असाधारण) गुण होता है जिससे वह अपने निकटवर्ती लोगों को आनन्दित कर सके तो उसके समस्त दोषों को वही एकमात्र श्रेष्ठ गुण अपने में छिपा लेता है। जैसा कहा गया है-

"व्यालाश्रितापि विफलापि सकण्टकापि
वक्रपि पङ्किलभवापि दुरासदापि।
गन्धेन बन्धुरसि केतकि सर्वजन्तोर
एको गुणः खलु निहन्ति समस्तदोषान्।।"[1]

यह समाज अनेक प्रकार के व्यक्तियो की रंगशाला है। जिसमें कोई सज्जन का अभिनय करते हैं तो कोई दुर्जन का परन्तु जो परम्परा से महान एवं गौरवशाली व्यक्ति होते हैं उनके क्रिया-कलाप अभिनय न होकर यथार्थ होते हैं, वे विश्व के प्राणियों को अपना ही समझते हैं और उनका जीवन स्वयं के लिये नहीं अपितु बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय होता है। अतएव उन पर संकट क्यों न आवे वे उससे विचलित नहीं होते और अपने आश्रितों पर अपने स्नेह की वर्षा किया करते हैं। इसी को शालि अर्थात धान के माध्यम से कहा है कि मूसलों की चोट सहकर भी वह अपने व्यक्तित्व को बनाये रखता है। जैसा कहा गया है-

"अस्मानवेहि कलमानलमाहतानां येषां प्रचण्डमुसलैरवदाततैव!
स्नेहं विमुच्छ सहसा खलतां प्रयान्ति ये स्वल्पपीडनवशान्न वयं तिलास्ते।।"[2]

वनस्पतियों, वृक्षों एवं पुष्पों आदि को माध्यम स्वीकार करते हुये अन्योक्ति के व्याज से जिन नीतियों का प्रयोग नीतिकारों ने किया है उसका दिग्दर्शन कराने के साथ ही साथ उक्त प्रसंग में सूक्ष्म रूप से प्राकृतिक तत्वों के भी उद्धरण देने का प्रयास कर रहा हूँ, क्योंकि व्यक्ति का प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इन प्राकृतिक तत्वों के अर्न्तगत अनेक तत्वों को समाहित किया जा सकता है। जैसा कि डा० राजेन्द्र मिश्र ने अपने ग्रन्थ में कहा है -

"प्रकृति वर्णन का क्षेत्र भी अत्यन्त विस्तीर्ण है जिसमें कि पशु-पक्षी, पर्वत कानन, उपवन, तरुकुंज, निर्झर सरिता, सागर आदि सभी आ जायेगें। यह स्पष्ट है कि अन्योक्ति

[1] चाणक्य नीति - 17/20
[2] पण्डितराज काव्य संग्रह - पृष्ठ 131

वाङ्गमय का अप्रस्तुत विधान प्रायः इन्ही प्राकृतिक उपादानों को आधार बनाकर विकसित हो सका है।"[1]

इसी को आधार मानते हुये अब हम प्राकृतिक वर्णनो के आधार पर किस प्रकार नीतियों का प्रतिपादन किया गया है, उसका दिग्दर्शन कराने का प्रयास कर रहे हैं। प्राकृतिक तत्वों के साथ ही साथ नीतिकारों ने अलौकिक एवं दिव्य शक्तियों यथा सूर्य, चन्द्रमा, इत्यादि को भी अपनी नीति का माध्यम बनाया है, उन्हे भी इसी प्रसंग में वर्णित करने का प्रयास हम यथावसर करेंगें। सर्वप्रथम हम प्राकृतिक माध्यमों के आधार पर अन्योक्ति के व्याज से कही गई नीतियों की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं।

समाज में मनुष्य के लिये लज्जा उसका आभूषण होता है जो निर्लज्ज होते हैं उनका समाज में कोई मान-सम्मान नहीं होता, क्योंकि वे पुनः-पुनः तिरस्कृत होने पर भी अपने स्वभाव से विरत नहीं होते। समुद्र को ध्यान में रखकर यही नीति कही गई है कि मनुष्य को लज्जा को भी परम गुण के रूप में स्वीकार करना चाहिये। भर्तृहरि ने भी लज्जा के सम्बन्ध में यही कहा है कि लज्जा गुणों के समूह को उत्पन्न करने वाली होती है, अतः जो निर्लज्ज होते है वे व्यर्थ की हुंकार किया करते हैं। जैसे समुद्र का मन्थन किया गया, लंघन किया गया, बांधा गया, पी लिया गया, फिर भी बड़ी भयंकर ध्वनि मे गर्जन करता हुआ वह मूर्ख अपनी निर्लज्जता का ही प्रदर्शन करता रहता है। जैसे कहा है-

"मन्थितो लङ्घितो बद्धः पीतो यद्यपि सागरः।
गर्जत्युच्चैस्तथाप्येष जड़ात्मानो हि निस्त्रपाः।।"[2]

पुनः कवि ने अन्य नीति की ओर रांकेत करते हुये कहा है कि समस्त सुख सुविधाओं के रहते हुये यदि दुष्ट लोगों से सम्पर्क रखना पड़े तो उन समस्त सुविधाओं को नमस्कार करके अपने को उनसे सुरक्षित निकाल लेना ही श्रेयष्कर है। कवि भर्तृहरि ने यही कहा है कि पर्वतों और जंगलों में विचरण करना श्रेष्ठ है परन्तु सुख-सुविधापूर्ण सुरपति इन्द्र के भवनों में भी मूर्ख और दुष्ट पुरुषों के साथ रहना हितकर नहीं-

"वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सहः।
न मूर्ख जन सम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि।।[3]

जो मनुष्य पात्र-कुपात्र का विचार न करके उनका आदर या निरादर करता है, उस व्यक्ति की प्रतिष्ठा समाज में अक्षुण्ण नहीं रहती, क्योंकि ऐसा व्यक्ति चाटुकारों, मूर्खों, स्वार्थी एवं निम्न कोटि के व्यक्तियों को सिर पर चढ़ाकर मान सम्मान देता है परन्तु जो

---

[1] संस्कृत साहित्य में अन्योक्ति (डा0 राजेन्द्र मिश्र) -पृष्ठ 307
[2] उद्भट सागर - 1/85
[3] नीति शतक - श्लोक 15

निष्पक्ष विद्वान और स्पष्ट वक्ता होते हैं उनको वह तिरस्कृत कर देता है, वह यह नहीं विचार करता कि स्वार्थी स्वार्थी ही रहता है और महान महान ही रहता है चाहे वह जिस अवस्था में रहे। जैसे समुद्र रत्नो का तो अधः पतन कर देता है और तृण को अपने सिर पर धारण कर लेता है। हे समुद्र तुम्हारा यही दोष है कि तुम विवेक का प्रयोग नहीं करते और न ही पात्र-कुपात्र का विचार ही करते हो, क्योंकि रत्न तो रत्न ही है तृण तृण ही दोनो में क्या समानता। अतः मनुष्य को चाहिये क्रि वह विवेकपूर्वक कार्य करे। जैसा कहा है-

"अधः करोषि यद् रत्नं मूर्ध्निधारयसे तृणम्।
दोषस्तवैष जलधे रत्नं रत्नं तृणं तृणम्।।"[1]

इसके द्वारा यही नीति स्पष्ट की गई है कि मनुष्य अपने जीवन में विवेक का प्रयोग करते हुये विद्वानों, सज्जनों तथा गुणी व्यक्तियों का सदैव सम्मान करता रहे इसी में उसका हित सन्निहित रहता है।

वस्तुतः देखा जाता है कि सम्पन्न होते हुए भी व्यक्ति यदि दूसरे का हित साधन न कर सके और फिर भी अपने अंहकार को प्रकट करता रहे, तो इस प्रकार का व्यक्ति उपहास के योग्य होता हैं अर्थात् सम्पन्न होते हुये भी यदि किसी की सहायता न कर सके तो उसकी सम्पन्नता का कोई महत्व नहीं होता और न वह आदरणीय ही रहता है। जैसे समुद्र को ध्यान में रखकर कवि इसी नीति की ओर संकेत करते हुये कहता है कि पवन के वेग से उठायी गई लहरों वाले समुद्र तुम्हारा इस प्रकार अंहकारपूर्ण गर्जन करना सारहीन है, तुम तो इतने निकृष्ट हो कि तुम्हारे तट पर रहने वाला प्यासा व्यक्ति भी तृषा मिटाने के लिये कूप के पास चला जाता है, क्योंकि तुम तो इतना जल सम्पन्न होने के बावजूद भी तृषित की प्यास बुझाने में समर्थ नहीं। जैसा कहा है-

"वातोल्लासितकल्लोलं धिक् ते सागर गर्ज्जितम्।
यस्य तीरे तृषाक्रान्तः पान्थः पृच्छति कूपिकाम्।।"[2]

समुद्र के माध्यम से ऐसे दुर्व्यसनी व्यक्ति की ओर संकेत किया गया है जो हर प्रकार से धन संचय करता है और उस संचित धन को परोपकार और दूसरों के हित में न लगा कर दुर्व्यसनों में व्यय कर देता है और किसी प्रकार बचे हुये धन को पृथ्वी में दबाकर रखता है परन्तु किसी भी प्रकार उस धन का सदुपयोग नहीं करता । जैसा कहा गया है कि हे दुष्ट समुद्र तुमने चारो ओर से आती हुई नदियों के जल को ग्रहण करके क्या प्राप्त किया, केवल उस जल को खारा बना दिया जब कि नदियों का जल मीठा था

---

[1] उद्भट सागर - 1/86
[2] उद्भट सागर - 1/87

और वड़वाग्नि में उसे भस्म कर दिया इसके पश्चात् पाताल की कुक्षि में समाहित कर दिया, इस प्रकार तुम्हारे जल का क्या उपयोग रहा, तुम्हारा यह जल संचय व्यर्थ ही चला गया–

"आदाय बारि परितः सरितां मुखैभ्यः किं तावदर्जितमनेन दुरर्णवेन।
क्षारीकृतं च वडवादहने हुतं च पातालकुक्षिकुहरे विनिवेशितं च ।।"[1]

इस प्रकार के सम्पन्न व्यक्ति के द्वार से यदि याचक निराश चला जाता है और उसके मनोरथों की यदि पूर्ति नहीं होती है तो ऐसी धन सम्पत्ति की व्यर्थता स्वतः सिद्ध हो जाती हैं। यही भाव समुद्र के माध्यम से कहा गया है कि हे समुद्र जो तुम अपनी ऊँची–ऊँची तरंगों द्वारा आकाश का स्पर्श करते हो और जो पाताल तक गहरे हो तथा रत्न भण्डार से गर्वित हो और पृथ्वी को अपने जल से ढ़के हुये हो वह सब तुम्हारा धिक्कार करने के योग्य है क्योंकि तुम्हारे तट पर जल ग्रहण की अच्छा रखने वाले पथिक निराश होकर तुम्हार तट का परित्याग करके अन्यत्र चले जाते है तो तुम्हारी ऐसी जल रूपी सम्पदा का क्या महत्व–

"यद् वीचोभिः स्पृशसि गगनं यच्च पातालमूलं
रत्नैरूद्‌दीपयसि पयसा यत् पिधत्से धरित्रीयम्।
धिक् सर्व तत् तव जलनिधे यद् विमुच्याऽश्रुधारा-
स्तीरे नीरग्रहणरसिकैरध्वगैरूज्झितोऽसि।।"[2]

इसी भाव को अन्य प्रकार से भी व्यक्त करते हुये कहा गया है कि हे समुद्र तुम गर्व न करो तुम्हारे समान अन्य कोई दूसरा लघु नहीं है, क्योंकि तुम्हारे मध्य पोत पर स्थित लोग अन्य स्थान से जल ग्रहण करते हैं, तुम तो उनकी प्सास बुझाने में भी समर्थ नहीं हो। उक्त कथनों द्वारा यही नीति व्यक्त की गई है कि बहुत धन हो जाने पर गर्व न करते हुये उस धन को परोपकार में लगाना चाहिये। यदि ऐसा नही किया गया तो ऐसे धन का क्या प्रयोजन। जो धन सम्पन्न होने पर भी उसका सदुपयोग नही करता उससे अधम व्यक्ति और कौन हो सकता है धन की यही शोभा है कि वह दूसरों के हित में लगाया जाय जैसा कहा जाता है कि यदि नाव में पानी आ जाय और घर में धन सम्पत्ति की वृद्धि हो जाय तो उसे दोनो हाथों से उलीचना ही सज्जनों का कार्य होता है। ऐसा न होने पर वह नाव और वह धन स्वतः नष्ट हो जाते हैं क्योंकि धन की दान, भोग और नाश यही तीन गति होती है। जो न उसका भोग करता है और न उसका दान करता है तो वह तीसरी गति अर्थात् नाश को प्राप्त हो जाता है। अतः यह नीति यही

---

[1] सूक्तिगगाधर –3/802
[2] उद्‌भट सागर – 3/235

व्यक्त करती है कि भोग और दान के अतिरिक्त जो धन शेष रहे उसी धन का संचय करना चाहिये। व्यर्थ में धन का संचय उसके नाश की ओर प्रवृत्त हो जाता है।

जहाँ समुद्र को लेकर उक्त नीतियाँ कही गई है वहीं यह भी समुद्र के माध्यम से कहा गया है कि अत्यन्त कष्ट की अवस्था मे रहने पर भी शरणागत की रक्षा करना मनुष्य का परम कर्तव्य होता है। जैसे समुद्र पर्वत की चट्टानों से बाँधा गया और मन्दराचल से उसका मंथन करते हुये उसका सर्वस्व हरण कर लिया गया फिर भी दूसरे से डरे हुये मैनाक पर्वत को समुद्र ने शरण देकर उसकी रक्षा की–

"यद्यपि बद्धः शैले-
र्यद्यपि गिरिमिथनमुषितसर्वस्वः।
तदपि परभीतभूधर-
रक्षायां दीक्षितो जलधिः।।"[1]

यह सम्पूर्ण जगत नश्वरता प्रधान है। कोई भी वस्तु चिरस्थायी नहीं धूप और छाया के समान कभी उन्नत दशा रहती है और कभी विनाश की अवस्था आ जाती है। इस कारण मनुष्य को कभी धन, यौवन और सौन्दर्य के अभिमान में उन्मत्त होकर अकरणीय कर्म नहीं करना चाहिये। धन और पद का गौरव सदा के लिये स्थायी नहीं रहता। उक्त दोनों की अपेक्षा उसका दुष्कर्म ही चिरस्थायी रह जाता है। इसी नीति को नदी के माध्यम से व्यक्त करते हुये कहा है–

"कतिपयदिवसस्थायी
पूरो दूरोन्नतोऽपि भविता ते।
तटिनि तटद्रुमपातन-
पातकमेकं चिरस्थायि।।"[2]

यह नीति यही शिक्षा देती है कि मनुष्य को सत्कर्मों की ओर ही प्रवृत्त होना चाहियें, क्योंकि दुष्कर्म पतन की ओर ही ले जाते हैं। जैसे नदी अपने प्रबल प्रवाह के द्वारा अपने तट्वर्ती वृक्षों का विनाश कर देती है और अन्त में उसका प्रवाह क्षीण हो जाता है यही स्थिति दुष्कर्मियों की भी होती है।

कोई परोपकारी दीन हीन व्यक्ति जिसका सर्वस्व दुष्टों के द्वारा हरण कर लिया गया हो और भूख–प्यास से अतीव कृशकाय हो गया हो वह किसी परोपकारी धन सम्पन्न दयालु के पास जाकर ही अपनी व्यथा को प्रदर्शित करते हुये याचना करता है कि जिससे पुनः पहले वाली स्थिति को प्राप्त करके फिर से परोपकार के कार्यो में संलग्न हो सके। इसी भाव को सरोवर के माध्यम से कहा गया है कि मैं शिशिर के प्रहार से निष्पद्म हो

---

[1] उद्भट सागर - 2/140
[2] उद्भट सागर - 2/133

गया हूँ, धीवरों ने मुझे मछलियों और कछुओं से रहित कर दिया है, पक्षियों को जो मेरे तट पर एकत्रित होकर मेरी शोभा को बढ़ाते हुये कल्लोल किया करते थे उन्हें व्याधो ने मार दिया है, यही नहीं सूर्य जो जगत का पोषक और पालक कहा जाता है उसने भी मेरे साथ अन्याय करते हुये मेरे सम्पत्ति रूप जल का शोषण कर लिया है, शूकरो तथा हाथियों ने कमलनालों का भी भक्षण कर लिया है इस कारण मेरी स्थित नाममात्र की ही रह गई है। अतः हे परोपकारक मेघ जलदान से मुझे पूरित कर दो जिससे कि मै पुनः लोगों का उपकार करने में समर्थ हो सकूँ।

"निष्पद्मं शिशिरेण धीवरगणैर्निर्म्मीननिष्कूर्म्मकं
व्याधैनिर्विहगं निरम्बु रविणा निर्वालकं दन्तिभिः।
निःशालूकमकारि शूकरगणैर्नामावशेषं सरो
हे पाथोद परोपकारक पयोदानेन मां पूरय।।"[1]

इससे यह नीति सम्मनित जनों के लिये बतलायी गई है कि यदि कोई स्वाभिमानी व्यक्ति दुष्टों के द्वारा प्रताड़ित किया गया हो, चोरो–लुण्ठकों तथा ठगों ने उसकी सरलता का लाभ उठाते हुये उसका सर्वस्व हरण कर लिया हो तो ऐसे व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिये ऐसे आश्रयदाता, परोपकारी व्यक्ति से प्रार्थना करे जो निष्पक्ष भाव से उसकी याचना को पूर्ण करने में समर्थ हो और उसे 'यम् यम् पश्यसि तस्य तस्य पुरतः मा ब्रूहि दीनं वचः' की नीति का अनुसरण करना चाहिये, जिससे उसके स्वाभिमान की भी रक्षा हो सके।

'सर्वः स्वार्थम् समीहते' अर्थात सब स्वार्थ के ही साथी होते हैं और स्वार्थवश ही तब तक एक दूसरे से जुड़े रहते हैं जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध होता रहता है और जब कोई स्वार्थ नहीं रह जाता तो वे उसका त्याग कर देते हैं। यह उक्ति सरोवर के पक्ष में पूर्णतया घटित होती है। जैसे जब तक सरोवर के जल मे कमल रहते हैं तब तक पक्षी और भ्रमर आनन्दित होकर उसका उपभोग करते रहते हैं परन्तु जब उसका जल सूख जाता है, कमल मुर्झा जाते है तो पक्षी और भ्रमर उसका साथ छोड़कर चले जाते हैं, केवल मीन (मछलियां) ही रह जाती हैं, क्योंकि वे कहीं अन्यत्र जाने में असमर्थ होती हैं। अतः हे सरोवर तुम इन पक्षियों के कलरव और भँवरों के गुंजार को सुनकर प्रसन्न हो ये सब तुम्हारे स्वार्थ के ही मित्र हैं। ये सभी दुर्दिन में तुम्हारा त्याग करके अन्यत्र कोई अन्य आश्रय खोज लेंगे क्योंकि मछलियाँ की तरह ये तुम्हारा दुर्दिन में साथ देने वाले नहीं अपितु स्वार्थवश तुम्हारे साथ हैं। जैसा कहा है–

---

[1] उद्भट सागर – 2/138

"आपेदिरेऽम्बरपथं परितो विहड्गा भृड्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्ते।
संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनोमीनोनुहन्त कतमांगतिमभ्युपैतु।।"[1]

महाकवि भर्तृहरि की यह सर्वथोचित नीति कि मनुष्य अपने उपार्जित धन का सदुपयोग करे क्योंकि-

**"दानं भोगोनाशस्त्रिस्त्रे गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुड्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।।"[2]**

अर्थात् धन की दान, भोग और नाश यही तीन गति होती हैं। अतः जो धन का सदुपयोग नहीं करता और ज उसका उपभोग ही करता है तो उसका धन अन्तिम अवस्था अर्थात् नाश को प्राप्त हो जाता है। इसी नीति को तडाग के माध्यम से स्पष्ट करते हुये चाणक्य नीति में कहा गया है कि उपर्जित किये गये धन का व्यय करना ही उसकी रक्षा करने के समान है। जैसे तडाग में भरे हुये जल को निकालते रहने से ही उसके जल की शुद्धता और पवित्रता बनी रहती है संचित रहने से नहीं क्योंकि आवश्यकता से अधिक संचय कष्ट का कारण भी बन जाता है। अतः उसका परीवाह सुख का कारण होता है जैसा कहा गया है-

**"उपर्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाऽम्भसाम्।।"[3]**

महाकवि भवभूति के द्वारा भी उक्त कथन का समर्थन होता है जैसा कि उन्होंनें कहा है-

"पूरोत्पीडे तटाकस्य, परीवाहः प्रतिक्रिया"[4]

जिसकी परोपकार की वृत्ति होती है वह परोपकार से कभी विरत नहीं होता यह उसका स्वाभाविक गुण होता है। जिस प्रकार महर्षि दधीचि ने परोपकार के लिये याचक देवताओं को अपनी अस्थियाँ समर्पित कर दी थीं उसी प्रकार सम्पूर्ण जल सम्पदा के नष्ट हो जाने पर सरोवर कमल डण्ठलों रूप अस्थियों को भी दान में दे देता है। जैसा कहा है कि सरोवर हवा के द्वारा उड़ायी गई शीतल बूँदों से लोगों को आनन्दित करता है और हंसो के मधुर कोलाहल से कानों को सुख पहुंचाता है, खिले हुये कमलों ओर निर्मल जल के द्वारा लोगों को शान्ति प्रदान करता है वही जल रूप सम्पदा के नष्ट हो जानें पर विकसित नवीन चन्द्रमा के समान स्वच्छ अस्थियों को कमल डण्ठल के व्याज से याचको को प्रदान कर देता है अर्थात् स्वयं के नष्ट हो जाने पर भी परोपकार का ही कार्य करता रहता है। क्योंकि सरोवर में परोपकार की वृत्ति रची बसी हुई है, वह इस बात की

---

[1] सूक्तिगंगाधर- 3/803
[2] नीतिशतक - श्लोक 44
[3] चाणक्यनीति - 7/14
[4] उत्तररामचरितम् - 3/29

परवाह नहीं करता कि उसका जल शेष रहा अथवा नहीं, वह अपने अन्य अंगों उपांगों से भी परोपकार व्रत का पालन करता रहता है। जैसा कहा गया है-

वातैः शीकरवर्षिभिः श्रुतिसुखैर्हंसावलीनिस्वनै-
रून्निद्रैः कमलैः पयोभिरमलैर्नीत्वा जनान् निर्वृतिम्।
पश्चात् क्षीणधनां वहन्निजनतुं धन्यो मृणालीच्छला
दर्थिभ्यः प्रददन्नवेन्दु विशदान्यस्थीनि पद्माकरः।।"[1]

गुणवान व्यक्ति का सर्वत्र सम्मान होता है और स्वल्प धन होने पर भी यदि कोई व्यक्ति परहित करने में निरत रहता है तो वह अपने इस विशेष गुण के कारण समाज में सम्मान का पात्र बनता है। जैसे गुण अर्थात् रस्सी से युक्त पात्र अल्प जल वाले कूप से भी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है अर्थात् जल से भर जाता है। यहाँ कूप के माध्यम से यही नीति व्यक्त की गई है कि अकिञ्चनता में भी उदारता का परित्याग नहीं करना चाहिये यह उदारता ही व्यक्ति का विशेष गुण होता है। जिसके आधार पर वह सम्मान को प्राप्त करता है। जैसा कूप के माध्यम से कहा गया है-

"हे कूप त्वं चिरंजीव स्वल्पतोये बहुव्ययः।
गुणवद्रिक्त-पात्रणि प्राप्नुवन्ति हि पूर्णताम्।।"[2]

उपर्युक्त माध्यमों के अतिरिक्त प्राकृतिक दिव्य रूपों को भी माध्यम मानकर जिन नीतियों का प्रतिपादन किया गया है, वे नीतिकारों की उद्भट प्रतिभा की ओर संकेत करती हैं। जैसे चन्द्रमा को माध्यम मानते हुये कहा गया है कि चन्द्रमा किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं करता वह अपनी चन्द्रिका को चाण्डाल के घर पर पड़ने से नहीं रोक लेता, उसकी चाँदनी के उपभोग का सुख सज्जन-असज्जन, दुर्जन, ऊँच-नीच सभी को समान रूप से मिलता है। इसी प्रकार जो सज्जन व्यक्ति होते हैं वे गुणों पर ही नहीं बल्कि गुणहीन वस्तुओं पर भी दृष्टिपात करते हैं, यही उनकी महानता है। इस कथन से यही नीति कही गई है कि महान तथा सज्जन व्यक्तियों को चन्द्रमा के समान भेदभाव रहित होकर सभी पर समान दृष्टि रखनी चाहिये। इस विशेष गुण के कारण ही वह व्यक्ति देवत्व की कोटि में आ जाता है। जैसा कहा है-

"निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः।।"[3]

चन्द्रमा के ही माध्यम से परगृहवास की ओर संकेत करते हुये नीति व्यक्त की गई है कि कोई कितना भी महान, सज्जन तथा विद्वान क्यों न हो यदि वह दूसरों के आश्रित

---

[1] उद्भट सागर - 2/139
[2] सूक्तिगंगाधर - 3/821
[3] चाणक्य नीति - प्रस्तावना से उद्धृत

रहता है तो सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी उसी प्रकार महत्वहीन हो जाता है जिस प्रकार कलमषध्वंसिनी गंगा का महत्व समुद्र मे मिल जाने के बाद समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार चन्द्रमा अमृत का भण्डार है, औषधियों का नायक है, अमृतमय शरीर को धारण करने वाला है एवं कान्तियुक्त भी है परन्तु उक्त सभी गुणों से सम्पन्न होते हुये भी जब वह सूर्यमण्डल में जाता है तो उसकी सारी शोभा लुप्त हो जाती है और वह निस्तेज हो जाता है। अतः दूसरे के घर जाकर रहने पर सभी लघुता को प्राप्त हो जाते हैं और उनका स्वाभाविक गुण क्षीण हो जाता है। जैसा कहा है-

"अयममृतनिधानं नायकोऽप्यौषधीनां
अमृतमयशरीरः कान्तियुक्तोऽपि चन्द्रः।
भवति विगतरश्मिर्मण्डलं प्राप्य भानोः
परसदननिविष्टः को लघुत्वं न याति।।"

इसी प्रकार सूर्य को भी माध्यम मानते हुये समस्त प्राणियों के लिये नीति व्यक्त करते हुये कहा है कि मनुष्य को सम्पत्ति में उत्फुल्ल और विपत्ति में मलीन नहीं होना चाहिये, क्योंकि ये दोनो तो आते जाते रहते हैं, इनमें से किसी का भी स्थायित्व नहीं रहता। अतः समृद्धि में कोमल व्यवहार रखना चाहिये और विपत्ति में अपने हृदय को दृढ़ बनाये रखना चाहिये, साथ ही दोनों परिस्थितियों में समान ही रहना चाहिये। जैसे सूर्य उदय और अस्त दोनों समय में समान रक्त वर्ण का रहता है उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता जैसा कहा है-

"संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।
उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा।।"

उपर्युक्त विवेचन करते हुये मैंने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि भारतीय मनीषा ने पशु पक्षी तथा प्राकृतिक माध्यमों से जिन नीतियों का प्रतिपादन किया है वे सीधी सपाट न होकर अन्योक्ति की ओर संकेत करती हैं। इसका कारण यह है कि यदि सीधी सपाट बात कही जाय तो वह उपस्थित व्यक्ति को दुख पहुचा सकती है परन्तु जब वही बात किसी अन्य माध्यम से कही जाती है तो बोद्धा को सम्यक् रूपेण प्रभावित करती है। अतः उपर्युक्त माध्यमों से कही गई नीतियाँ सटीक एवं सारगर्भित प्रतीत होती हैं, जो मनुष्य को उचित शिक्षा देने के साथ ही साथ सरल, सुबोध एवं सुगम हैं।

(V)
अन्य माध्यमों से कही गई नीतियाँ

विभिन्न प्रकार के माध्यमों को अपनाकर संस्कृत नीतिकाव्यकारों ने मनुष्यों को सुमार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करने के उद्देश्य से अनेक प्रकार की नीतियों का प्रतिपादन किया है, जिनको हमने पूर्व में स्पष्ट करने का प्रयास किया है और विभिन्न प्रकार के माध्यमों का उल्लेख किया है, जो संस्कृत नीति काव्यकारों द्वारा अपनी नीतियों के समर्थन में दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त नीतिकारों ने अन्य साधारण वस्तुयें भी जो साधारण लोगों की दृष्टि में व्यर्थ की प्रतीत होती हैं, उनका भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन करके उन्हें भी आधार मानते हुये नीति वचन कहे हैं, उनका भी दिग्दर्शन कराने का प्रयास मैं यहाँ कर रहा हूँ। जैसे-

जिसका जो स्वाभावित गुण है वह श्वान पुच्छ्वत होता है उसमें चाहे जितना सुधार किया जाय वह परिवर्तित नहीं होता। जैसे कोयले को स्वच्छ करने के लिये चाहे जितना साबुन खर्च कर दिया जाय वह उजला नहीं हो सकता, सर्प को कितना भी दूध पिलाया जाय उससे उसका विष नष्ट नहीं होता। अतः किसी के सहज स्वभाव का अतिक्रमण किसी रूप में भी नहीं किया जा सकता। प्याज के माध्यम से यही सिद्ध करते हुये कहा गया है कि प्याज का आल-बाल यदि कपूर के ढेर से बना दिया जाय और कस्तूरी का चूर्ण उसके ऊपर लेप दिया जाय तथा सोने के घड़े से उसका सिंचन किया जाय तो भी पलाण्डु (प्याज) अपनी गन्ध को कभी नहीं त्यागता-

"कर्पूरधूलीरचितालबालः
कस्तूरिकाकुङ्कुमलिप्तदेहः।
सुवर्णकुम्भैः परिषिच्यमानो
गन्धं निजं मुञ्चति किं पलाण्डु।।"[1]

किसी भी व्यक्ति में चाहे जितने गुण हों यदि उसमें कोई एक विशेष दोष होता है तो वह निन्दा का कारण बन जाता है और उसके गुणों का क्षय कर देता है। इसे लहसुन के माध्यम से कहा है कि लहसुन समस्त रसायनों में श्रेष्ठ है परन्तु उसकी तीव्र गन्ध के कारण वह निन्दनीय हो जाता है। जैसा कहा है-

"अमितगुणोऽपि पदार्थो दोषेणैकेन निन्दितो भवति।
निखिलरसायनमहितो गन्धेनोग्रेण लशुन इव।।"[2]

[1] उद्भट सागर - 3/222
[2] भामिनी विलास - 1/79

दुग्ध का प्रयोग प्रायः सभी लोग करते है परन्तु उसकी श्रेष्ठता को कवि ही समझ पाता है वह दूध के उत्पन्न होने से लेकर उसकी अन्तिम परिणति तक विचार करते हुये नीति निर्धारित करता है कि सज्जन व्यक्ति को चाहे जितना कष्ट मिले फिर भी वह अन्तिम अवस्था तक स्वभावानुसार लोगों के प्रति स्नेह को ही वितरित करता रहता है, वह अपने कष्टों की चिन्ता नहीं करता, सज्जन तो निर्मल, सहज मधुर दुग्ध के समान होता है उसकी समानता कौन कर सकता है। जैसे दूध अग्नि पर तपाया जाता है फिर दधि रूप में विकृत किया जाता है तथा मथानी से मथा जाता है इतने कष्ट होने पर भी अन्त में वह नवनीत ही प्रदान करता है। जैसा कहा है–

"को हि तुलामधिरोहति
शुचिना दुग्धेन सहजमधुरेण।
तप्तं विकृतं मथितं
तथापि यत् स्नेहमुद्गिरति।।"[1]

इससे यही व्यक्त करने का प्रयास किया गया है कि मनुष्य को किसी भी परिस्थिति में अपने सत्स्वभाव का त्याग नहीं करना चाहिये, यही उसकी महानता होती है। इसके साथ ही यह भी नीति प्रतीत होती है कि कोई कार्य प्रारम्भ करने पर विघ्नों के भय से उसे नहीं छोड़ना चाहिये। प्रत्येक परिस्थिति में विघ्नों से निवृत्त होते हुये तथा बाधाओं को पार करते हुये परोपकार में ही निरत रहना चाहिये एवं लोगों को आनन्दित करना चाहिये।

दूध और पानी को मिलाते हुये देखकर हमें क्रोध आता है परन्तु नीतिकार उसमें गुणों का दर्शन करता है और कहता है कि जीवन में सच्ची मित्रता का यही प्रतीक है। जैसे जल जब दूध की शरण में जाता है तो दुग्ध उसे अपने सभी गुण प्रदान कर देता है। फलतः जल भी दुग्ध के भाव ही बिक जाता है। इस मित्रता के वशीभूत जल भी कृतज्ञता की नीति का ही पालन करता है, कृतघ्नता का नहीं, क्योंकि जब जल मिश्रित दुग्ध को तपाया जाता है तो जल जलने लगता है और दुग्ध क्रोधित होकर शरण में आये हुये अपने मित्र को बचाने के लिये उफनकर अग्नि में कूद पड़ता है और पुनः जब उसमें जल डाल दिया जाता है तो उसका उबाल शान्त हो जाता है। जैसा भर्तृहरि ने कहा है–

"क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः
क्षीरोत्तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदभवद्दृष्ट्वा तु मित्रापदं
युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी।।"[2]

---

[1] उद्भट सागर – 2/248
[2] नीतिशतक – श्लोक 77

इस कथन के द्वारा इस नीति को प्रकट किया गया है कि इस संसार में सच्चे मित्र की परख दूध और पानी के मिश्रण के रूप में करनी चाहिये। सन्मित्र वही है जो आपत्ति काल में भी साथ न छोड़कर बराबर सहयोग दिया करता है। जैसे मित्र के रूप में शरण में आये हुये जल पर संकट को देखकर दूध स्वयं उस संकट को दूर करने के लिये उद्धत हो जाता है, यही सच्ची मित्रता का प्रतीक है। सच्चा मित्र वही है जो अपने मित्र के दोषों को छिपा लेता है और गुणों को प्रकट करता है। यहाँ पर दूध को सन्मित्र और जल को सामान्य प्राणी माना गया है। संसार में दूध कम और जल अधिक है ठीक इसी प्रकार सज्जन मनुष्य कम और सामान्य मनुष्य अधिक हैं परन्तु सज्जन मनुष्य कम होते हुये भी आश्रय में आने वाले साधारण मनुष्यों को भी अपने समान बना लेते हैं, यही उनकी विशेषता होती हैं।

नीति यह है कि गुणवान व्यक्ति की तुलना किसी साधारण या निम्न कोटि के व्यक्ति के साथ नही करनी चाहिए, क्योंकि इससे उस गुणी व्यक्ति को अपना अपमान महसूस होता है। गुणी व्यक्ति कष्ट को सहन कर सकता है, विपत्तियों को सह लेता है, इन सबसे उसे किसी प्रकार का दुख नही होता परन्तु जब उसकी तुलना किसी सामान्य व्यक्ति से की जाती है तो उसे घोर पीड़ा होती है। इस नीति को सीधे न कहकर स्वर्ण के माध्यम से कवि ने कहा है कि स्वर्ण को पीटने, तपाने, गलाने और काटने आदि से उसे कोई दुख नहीं होता परन्तु गुञ्जा के साथ तौलने पर उसे असह्य दुख और अपमान की प्रतीति होती है। जैसा कहा है-

"न वा ताड़नात् तापनाद् बह्निमध्ये
न वा च्छेदनात् क्लिश्यमानोऽहमास्मि।
सुवर्णस्य मेऽसह्यदुखं तदेकं
यतो मां जना गुञ्जया तोलयन्ति।।"[1]

अतएव स्वर्ण स्वर्णकार से प्रार्थना करता है कि हे स्वर्णकार मुझे निर्दयता के साथ कसौटी पर घिसो, काटो, अग्नि में जला दो ये सभी मुझे सह्य हैं परन्तु मुझे गुंजा के साथ मत तौलो, क्योंकि यह मेरा अपमान है। जैसा कहा है-

"अदयं घर्ष शिलायां दह वा दाहेन भिन्दि लौहेन।
हे हेमकार कनकं मा मां गुञ्जाफलैस्तुलय।।"[2]

अतः सज्जन व्यक्तियों की तुलना असज्जन व्यक्तियों के साथ नहीं करनी चाहिये, क्योंकि सत्पुरूष तो असज्जन व्यक्तियों के साथ रहकर भी अपना जीवन निर्वाह साधुता के

साथ करने में समर्थ होते हैं परन्तु असज्जन व्यक्ति के लिये ऐसा करना सम्भव नहीं होता क्योंकि अपनी सज्जनता का और दुर्जन अपनी दुष्टता का परित्याग नही कर सकता। सज्जनों का जीवन दुष्टो के साथ उसी प्रकार रहताश है जैसे कठोर दॉतों के मध्य में जिह्वा रहती है। यहाँ पर दॉत और जिह्वा के माध्यम से कवि ने उक्त नीति का कथन कर दिया है–

"द्वात्रिंशद्दशनद्वेषिमध्ये भ्रमसि नित्यशः।
तदिदं शिक्षितं केन जिह्वे सञ्चारकौशलम्।।"[1]

अभिप्राय यह है कि सज्जन व्यक्ति को जिह्वा के समान आचरण करना चाहिये ऐसा करने पर उसका अस्तित्व अन्तकाल तक अक्षुण्ण बना रहता है जब कि दुष्टों का अस्तित्व दाँतों के समान समाप्त हो जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि कोमलता ही सज्जनों का प्रधान गुण होता है और वही उनके यश को स्थायित्व भी प्रदान करता है। उक्त माध्यम से यही अवभाषित होता है कि कठोरता विनाश का कारण होती है जैसे मुख में स्थित कठोर दाँतों का पतन हो जाता है परन्तु इसके विपरीत अपनी कोमलता के कारण जिह्वा अन्त समय तक अस्तित्व में रहती है और उसका पतन कभी नहीं होता।

सर्वविदित नीति है कि दुष्ट व्यक्ति कितना भी सुन्दर, चरित्रवान तथा सन्मार्ग पर चलने वाला क्यों न हो परन्तु इतना होने पर भी वह सज्जनों को कष्ट पहुँचाने वाला ही होता है। अर्थात् वह अपनी दुष्टता से कण्टक (काँटे) के समान सज्जनों को कष्ट ही पहुँचाता रहता है। अतएव कण्टक के माध्यम से कहा गया है–

"सुमुखोऽपि सुवृत्तोऽपि सन्मार्गपतितोऽपि सन्।
साधूनां पादलग्नोऽपि व्यथयत्येव कण्टकः।।"[2]

इसके विपरीत सज्जन पुरुष अपनी शरण मे आये हुये शत्रु की भी रक्षा करना अपना परम धर्म समझता है। जैसे दीपक अनध्कार रूपी शत्रु को तो नष्ट कर देता है परन्तु यदि वही अन्धकार उसकी शरण में आ जाता है तो वह उसे नहीं नष्ट करता। जैसा कहा गया है–

"हन्याद् द्विषमविनीतं
किन्तु न शरणागतं द्विषं हन्यात्।
दीपस्तिमिरविनाशी
दलयति नाधोगतं तिमिरम्।।"[3]

नीच व्यक्ति भाग्यवश जब प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है तब वह नीचता के कारण अपने लोगों का ही तिरस्कार करने लगता है इस कारण वह सम्मान का पात्र नहीं होता। वह उसी को नष्ट करने में तत्पर हो जाता है जिससे वह स्वयं घनिष्ठ रूप से जुड़ा रहता है और उसका अस्तित्व ही उस पर टिका होता है। जैसे अग्नि से उत्पन्न हुआ धूम मेघो के रूप में परिवर्तित होकर वर्षा के द्वारा अपने जनक अग्नि के तेज को ही नष्ट कर देता है। अतएव कहा गया है–

"धूमः पयोधरपदं कथमप्यवाप्य
वर्षाम्बुभिः शमयति ज्वलनस्य तेजः।
दैवादवाप्य ननु नीचजनः प्रतिष्ठां
प्रायः स्वबन्धुजनमेव तिरस्करोति।।"[1]

इस संसार में अपने जीवन को सुखी तथा शान्तिपूर्ण बनाये रखने के लिये यह नीति आवश्यक है कि स्वार्थवश स्नेह प्रदर्शित करने वाले एवं सामने प्रशंसा करने वाले व्यक्तियों से सदैव सतर्क रहना चाहिये जो इस प्रकार के व्यक्तियों को अधिक सम्मान देते हैं, वे अपनी सुख शान्ति को स्वयं नष्ट कर लेते है। इस प्रकार प्रकृति से भी इसी नीति की शिक्षा लेनी चाहिये। जैसे भ्रमर कमल के पराग का मधुमान करते हैं और मधुहीन हो जाने पर उसे त्यागकर दूर चले जाते हैं परन्तु जो हितैषी होते हैं वे वायु के समान उसके गुणों को दूर दूर तक बिना किसी स्वार्थ के बिखेर देते है। सच्चे हितैषियों के सम्बन्ध में यही नीति व्यक्त करते हुये पण्डितराज जगन्ननाथ ने कहा है–

"अयि दलदरविन्द! स्यन्दमानम्मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुञ्जन्तु भृङ्गाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः।।"[2]

जो व्यक्ति दयालु और परोपकारी होते हैं वे किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करते, भेदभाव से उनकी दयालुता और परोपकारिता दूषित हो जाती है परन्तु ऐसी अवस्था में भी विवेक का प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। जैसे जिसके पास अथाह सम्पत्ति हो उसे पात्र और कुपात्र का ध्यान रखकर धन का वितरण करना चाहिये, किसको धन दिया जाय किसको धन की आवश्यकता है यह विवेक होना अत्यन्त आवश्यक है। जो व्यथित हो पीड़ित हो उन्हे धन देने में ही दाता का यश और शोभा बनी रहती है परन्तु देखा जाता है कि प्रभुता पाकर लोग गर्वोन्मत्त हो जाते हैं और विवेक का पालन नहीं करते, क्योंकि

---

[1] उद्भट सागर – 2/250
[2] भामिनी विलास – 1/4

धन के मद से उनका विवेक ज्ञान नष्ट हो जाता है, उन्हें पात्र कुपात्र का ध्यान नहीं रहता। जैसे मेघ के पास प्रचुर जल रहता है इस कारण दावानल से पीड़ित वृक्ष ओर लताओं को जल देकर उनकी रक्षा करना चाहिये, क्योंकि आश्रयदाता वृक्ष और उन पर आश्रित लतायें दोनो जल के बिना प्राण रक्षा में असमर्थ होते हैं। अतः हे मेघ तुम्हारा यह कर्तव्य है कि तुम असहायों और पीड़ितों की सहायता करो परन्तु तुम विवेकहीन होकर जल रूपी धन के मद में चूर होकर पर्वतों पर जल वर्षा करते रहते हो जिन्हें जल की अवश्यकता नहीं । उक्त कथन के माध्यम से लोगों के लिये एवं धनिकों के लिये यही नीति कही गई है कि जो सम्पन्न होने पर विवेकपूर्वक असहायों की सहायता करता है उसी का जीवन धन्य है। जैसा कहा है-

"दवदहनजटालज्वालजालाहतानाम्
परिगलितलतानां म्लायताम्भूरुहाणाम्।
अपि जलधर! शैलश्रेणिश्रृङ्गेषु तोयं
वितरसि बहु कोऽयं श्रीमदस्तावकीनः।।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय नीतिकारों ने नीति की परम्परा को आकर्षक एवं सर्वग्राही बनानें के उद्देश्य से केवल प्रचलित अनुभूत सूक्तियों का ही नहीं प्रयोग किया अपितु उन्होनें प्रकृति के विभिन्न उपदानों को भी अपनी नीति का माध्यम बनाया। प्रकृति के जितने भी तत्व नीति से सम्बन्धित हो सकते हैं उन सभी को दृष्टि से ओझल नहीं किया। यद्यपि इस प्रकार के नीति वाक्यों को तुलनात्मक दृष्टि से भी देखा जा सकता है। फिर भी इस तुलना में नीति अन्तर्निहित रहती है। तुलना के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया जाता हैं कि प्रकृति के माध्यम से दूसरे की परख की जाय। जैसे कहा गया है कि फल आने पर वृक्ष की शाखायें झुक जाती हैं, वर्षा काल. में मेघ नम्र हो जाते हैं। इन माध्यमों से यही नीति व्यक्त की गई है कि जब मनुष्य सम्पन्न हो जाय तो उसे नम्र हो जाना चाहिये। जैसा कि हम पूर्व में लिख चुके है कि खल और दुष्ट की प्रकृति समान होती है। अतः यदि कोई व्यक्ति मषक के समान आचरण करने लगे तो उससे व्यक्ति को सर्तक हो जाना चाहिये। इसी प्रकार अन्य माध्यमों को लेकर जो नीतियाँ प्रदर्शित की गईं वे लोक में अत्यन्त लोकप्रियता को प्राप्त करती गईं। नीति काव्यकारों ने नीति वचन कहते समय प्रकृति तथा समाज का ही नहीं अपितु सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरीक्षण एंव परीक्षण करते हये विभिन्न माध्यमों के द्वारा सटीक एवं

---

[1] भामिनी विलास - 1/35

सारर्भित बात रखते हुये नीति के रूप में उनका प्रस्फुटन किया। जिनका कि हमने 'विविध माध्यमों के अर्न्तगत नीति' के रूप में विवेचन करने का प्रयास किया है।

*** *** *** *** *** ***

चतुर्थ अध्याय

नीति परक काव्यों का वर्गीकरण

इस अध्याय में मैंने महाकाव्यों, प्रमुख नीतिपरक काव्यों, रूपकों, तथा कथा साहित्यों में वर्णित, नीतियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है इसके साथ ही साथ नीतिपरक काव्यों में वर्णित सूक्तियाँ जो अत्यन्त लघु रूप होते हुये भी अपने में गूढ़ एवं गम्भीर अर्थो को छिपाये रखती हैं, उनका भी संक्षिप्त रूप में विवेचन करने का यथा सम्भव प्रयास किया है। सर्वप्रथम महाकव्7यों एवं प्रमुख काव्यों में वर्णित नीतियों का संक्षिप्त रूप से दिग्दर्शन कराने का प्रयास कर रहा हूँ।

(I)
महाकाव्यों एवं प्रमुख काव्यों में वर्णित नीति

संस्कृत काव्य साहित्य में महाकाव्यों का विशेष स्थान है क्योंकि इनमें जीवन के व्यवहारानुकूल विविध पक्षों का समावेश करने का सफल प्रयास महाकवियों ने अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से किया है। जिससे समाज के सभी वर्गो को व्यवहार ज्ञान के साथ ही साथ अमंगल की भी निवृत्ति हो सके और ये सभी को आनन्दित भी कर सकें। प्राचीन काल से लेकर परवर्ती काल तक के सभी कवियों का यही उद्देश्य रहा है। प्रायः लोग काव्य को श्रृंगारात्मक मानकर विषयी जनों के मनोरंजन का साधन मात्र मानते हैं परन्तु यह धारणा सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि काव्यों से जहाँ ऐतिहासिक, दार्शनिक आदि विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है वहीं इनसे व्यापक रूप में नैतिक शिक्षा भी मिलती है जो मनुष्य जीवन के लिये नितान्त आवश्यक है। काव्य यही शिक्षा देते हैं कि 'रामादिवत् वर्तितव्यम् न रावणादिवत्'। इस प्रकार की नैतिक शिक्षा जो काव्यों के अध्ययन से प्राप्त होती है वह मानव जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कि आचार्य भामह ने कहा है-

> "धर्मार्थ काममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
> प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्"[1]

वस्तुतः लौकिक व्यवहार ज्ञान को जानने और तदनुकूल आचरण करने का ज्ञान प्राप्त करने में काव्य ही एक मात्र साधन हैं, इनके द्वारा सरलता के साथ समस्त लोक व्यवहारों का ज्ञान उपलब्ध हो जाता है। अतएव काव्य प्रयोजनों में व्यवहार ज्ञान को आचार्य मम्मट ने प्रमुख स्थान दिया है। साथ ही कान्ता सम्मित उपदेश सभी प्रयोजनों में

---

[1] काव्यालकार- 1/2

उत्कृष्ट माना है, क्योंकि अन्य उपदेशों मे हृदय परिवर्तन की क्षमता उतनी नहीं रहती जितनी कि कान्ता सम्मित उपदेश में होती है वह सीधे प्रभावकारी होता है जो कि कान्ता पद से ही स्पष्ट है। कान्ता सम्मित उपदेश में आह्लादकत्व और माधुर्य के साथ ही अपनत्व की भावना भी निहित रहती है जो हृदय प्ररिवर्तन का मुख्य कारक बन जाती है आर मनुष्य पर उसका प्रभाव तुरन्त होता है। महाकाव्यों में इसी पथ का अनुसरण सर्वत्र किया गया है यही कारण है कि अन्य माध्यमों की अपेक्षा काव्यों एवं महाकाव्यों में वर्णित उपदेश लोगों के द्वारा शीघ्र ग्रहणीय हो जाते हैं, इन्हीं उपदेशों को हम नीति वचन की संज्ञा दे सकते हैं। इस क्रम में मैंने शोध के अधिक विस्तार के भय से प्रमुख महाकाव्यों को ही अपने विवेचन में ग्रहण किया है।

सर्वप्रथम रामायण महाकाव्य में वर्णित नीतियों का विवेचन करते हुए अन्य प्रमुख काव्यों में वर्णित नीतियों का विवेचन करने का प्रयास कर रहा हूँ।

वाल्मीकि रामायण में पुरूषार्थ को महत्व देते हुये कहा गया है कि जो भीरू या शक्तिहीन होते हैं वही भाग्य का आश्रय लेते हैं परन्तु जो शक्तिशाली या धीर पुरूष होते हैं वे कभी भी भाग्य के अधीन नही रहते। शक्तिशाली पुरूष अपनी सामर्थ्य के अनुसार उद्योग करके भाग्य को अपने अधीन बना लिया करते हैं-

''विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते।
वीरास्संभावितात्मानो न दैव पर्युपासते।।''[1]

यहाँ पर भाग्य पर आश्रित रहने की अपेक्षा पुरूषार्थ को श्रेष्ठ माना गया है।

जो व्यक्ति पाप करता है उसका फल भी उसे ही मिलता है दूसरे को नहीं, ऐसा सोंचकर अपने आचार की रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि महान साधु जनों का भूषण उनका सच्चरित्र ही होता है जैसा कहा है-

''न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम्।
समयो रक्षितव्यश्च सन्तश्चारित्रभूषणाः।।''[2]

नीतिपरक काव्यों में सर्वत्र आचार को विशेष महत्व दिया गया है, जैसा कि पूर्व में ही स्पष्ट किया जा चुका है। इस पद्य में भी सज्जनों का सच्चरित्र ही उनका भूषण माना गया है जो कि आचार की शुद्धता को ही द्योतित करता है।

---

[1] रामायण - 2/23/17
[2] रामायण - 6/115/42

सामाजिक दृष्टि से रामायण में यह नीति कही कई है कि दूसरे की धन सम्पत्ति का हरण करना, दूसरे की पत्नी से सम्पर्क रखना तथा मित्रों पर अधिक सन्देह करना, ये तीन दोष मनुष्य का क्षय करने वाले ही होते हैं। वस्तुतः इनमें से एक ही दोष मनुष्य को नष्ट कर सकता है और जहाँ पर ये तीनों दोष विद्यमान हो तो अविलम्ब ही उस मनुष्य का विनाश हो जाता है। जैसा कहा है–

"परस्वानां च हरणं परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदामतिशंका च त्रयो दोषाः क्षयावहाः।।"[1]

वस्तुतः श्रेष्ठ मनुष्य वही होता है जो अपने मन में उत्पन्न हुये शत्रुरूपी क्रोध को वैसे ही शान्त कर देता है जैसे सर्प अपनी जीर्ण त्वचा अर्थात् केंचुल को त्याग देता है। जैसा कहा है–

"यः समुत्पतिंत क्रोधं क्षमयैव निरस्यति।
यथोरगस्त्वच जीर्णा स वै पुरुष उच्यते।।"[2]

क्रोध को मनुष्य का शत्रु माना गया है। क्रोधपूर्वक किया गया कोई भी कार्य मुनष्य को केवल हानि ही पहुँचाता है। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि अपने क्रोध को वश में करके अपने जीवन पथ को सफल बनाने का प्रयत्न सदैव करता रहे अन्यथा शत्रु रूपी क्रोध उसका विनाश ही कर देगा।

जिस प्रकार कमल पत्रों पर पड़े हुए जल बिन्दु उन पर स्थिर नहीं रहते उसी प्रकार चंचल चित्त वाले पुरुषों के साथ ही गई मित्रता भी स्थायी नहीं होती। जैसा कहा है–

"यथा पुष्कर पत्रेषु रतितास्योयबिन्दवः।
न श्लेषमभिगच्छन्ति तथाऽनार्येषु सौहृदम्।।"[3]

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को मित्रता बहुत ही सोच समझकर गम्भीर लोगों से करनी चाहिये, क्योंकि अस्थिर चित्त वालों से की गई मित्रता चिरस्थायी नहीं होती है। ऐसी मित्रता का कोई सुपरिणाम नहीं निकलता अपितु हानि ही होती है।

रामायण के समान ही महाभारत भी नीतियों का आकर ग्रन्थ है। महाभारत में सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक, आर्थिक एवं शाश्वत सत्य नीतियों का भण्डार है। मनुष्य

---

[1] रामायण – 6/87/23
[2] रामायण – 5/55/6
[3] रामायण – 6/16/11

जीवन के सभी पक्षों से सम्बन्धित नीतियाँ महाभारत से सर्वत्र उपलब्ध हैं। मनुष्य को लोभ में न फँसने की शिक्षा देते हुये कहा गया है कि कामना या मनोरथ रूपी पिपासा या प्यास का कोई अन्त (सीमा) नहीं है, परन्तु सन्तोष से परम सुख की प्राप्ति होती है। इसीलिये महान लोग सन्तोष को ही परम धन मानकर अपनाते हैं। और अपनी इच्छाओं को शान्त करने का प्रयत्न करते हैं। जैसा कहा गया है–

''अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम्।
तस्मात् संतोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः।।''[1]

द्यूत क्रीड़ा करना (जुआ खेलना), मृगया (शिकार) खेलना एवं मद्यपान में आसक्त बने रहना तथा अधिक सम्भोग करना ये चार ऐसे प्रबल दोष हैं, जिनसे पुरूष शीघ्र ही क्षीण हो जाता है। अर्थात् जो अपना क्षय नहीं चाहते उन्हें उक्त चारो दोषों से सदैव दूर रहना चाहिये।

''अक्षेषु मृगयायां च पाने स्त्रीषु च वीर्यवान्।
एतैर्दोषैर्नरा राजन्। क्षयं यान्ति न शंशयः।।''[2]

सदाचार की प्रशंसा करते हुये कहा गया है कि जो सदाचार का पालन करता हैं उसे ऐश्वर्य और आयुष्य की प्राप्ति होती है, यश की वृद्धि होती है तथा सभी अशुभों का विनाश हो जाता है। अर्थात् सदाचार मनुष्य के जीवन में सुख समृद्धि की वृद्धि करता है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह आजीवन सदाचार के व्रत का पालन करने में सतत् प्रयत्नशील रहे। जैसा कहा है–

''आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्धनः।
आचाराद् वर्धते ह्यायूराचारो हन्त्यलक्षणम्।।''[3]

विवेकशील पुरूष को चाहिये कि वह पहले ही बुद्धिपूर्वक यथा योग्य कार्य करे जिससे बाद में अपने किये गये कार्यो के सम्बन्ध में उसे कभी पश्चात्ताप न करना पड़े। क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य जब बुद्धिपूर्वक तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार कार्य नहीं करता तो उससे ऐसे कार्य हो जाते हैं कि उनके लिये उसे बाद में पश्चात्ताप ही करना होता है तथा हानि भी उठानी पड़ती है। इसीलिये बिना सोच विचार किये हुये कोई कार्य सहसा नहीं करना चाहिये। जैसा कहा है–

---

1 महाभारत–शान्तिपर्व– 330/21
2 महाभारत–अनुशासनपर्व– 156/34
3 महाभारत–अनुशासनपर्व– 104/45

"आदावेव मनुष्येण वर्तितव्यं यथाक्षमम्।
यथा नातीतमर्थ वै पश्चात्तापेन युज्यते।।"[1]

महाभारत में कहा गया है कि वृद्धावस्था सुन्दर रूप को, आशा धीरता को, मृत्यु प्राणों को, गुणों में दोष देखने का स्वभाव धर्माचरण को, क्रोध लक्ष्मी को, नीच पुरूषों की सेवा सत्स्वभाव को तथा काम वासना लज्जा को ही नष्ट करते हैं, परन्तु अभिमान तो सर्वस्व को ही नष्ट कर देता है। इसलिये मनुष्य को अभिमान कभी नहीं करना चाहिये। जैसा कहा गया है-

**"जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा मृत्युः प्राणान् धर्मचर्यामसूया।
क्रोधः श्रियं, शीलमनार्यसेवा, ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः।।"[2]**

धन की महत्ता का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि धन से धर्म का पालन, कामनाओं की पूर्ति, स्वर्ग की प्राप्ति, हर्ष की वृद्धि, क्रोध की सफलता, शास्त्रों का श्रवण-अध्ययन तथा शत्रुओं का दमन ये सभी कार्य सिद्ध होते हैं। अतः धर्म पालन आदि के उद्देश्य से धन का होना नितान्त आवश्यक है-

**"धर्म कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः।
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्तन्ते नराधिप।।"[3]**

राजनीतिक दृष्टि से महाभारत में यह नीति कही गई है कि बलवान व्यक्ति को चाहिये कि वह दुर्बल शत्रु की भी अनदेखी न करें। क्योंकि अग्नि की चिन्गारी भी अग्नि को बढ़ाकर सब कुछ जला देती है और जरा सा विष भी मृत्यु का कारण बन जाता है-

**"न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोऽपि बलीयसा।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च।।"[4]**

इसी नीति को शान्ति पर्व में ही और स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि ऋण का शेष, अग्नि का शेष तथा शत्रु का शेष धीरे-धीरे बढ़ता रहता है अर्थात् जब कोई व्यक्ति ऋण लेता है तो उस पर लगने वाला ब्याज धीरे-धीरे बढ़कर विशाल मात्रा में हो जाता है इसी प्रकार यदि अग्नि की यदि एक चिन्गारी भी शेष रह जाती है तो यह बढ़कर विशाल ज्वाला में परिवर्तित हो जाती है तथा यदि शत्रु को शेष छोड़ दिया जाय तो वह भी एक

---

[1] महाभारत-स्त्रीपर्व-1/35
[2] महाभारत-उद्योगपर्व-35/50
[3] महाभारत-शान्तिपर्व-8/21
[4] महाभारत-शान्तिपर्व-58/17

दिन शक्तिशाली होकर पराभव का कारण बन जाता है। इसलिये इनको शेष नहीं छोड़ना चाहिये–

"ऋणशेषमाग्निशेंष शत्रुशेषं तथैव च।
पुनः पुनः प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न धारयेत्।।"[1]

महाकवि कालिदास का मन्तव्य है कि समाज तथा व्यक्ति की उन्नति के लिये प्रथम अवस्था में सभी ओर से मानसिक प्रवृत्तियों को हटाकर विद्याध्ययन करना चाहिये तदुपरान्त युवावस्था में विषयों की ओर ध्यान देना चाहिये अर्थात् इस अवस्था में धर्मानुकूल धनादि की प्राप्ति करना चाहिये तथा तृतीय अवस्था में मुनियों के समान आचरण करते हुये अन्त में योग के द्वारा शरीर का त्याग करना चाहिये। यही मानव जीवन के लिये श्रेष्ठ नीति है। जैसा कहा है–

"शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्।।[2]

महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृति के प्रबल पोषक हैं। यही कारण है कि तदनुरूप संक्षिप्त नीति वचनों का प्रयोग समाज के हित के लिये अपने महाकाव्यों में उन्होंने सर्वत्र किया है। वस्तुतः यदि कालिदास की उक्त नीति का पूर्ण सत्यता के साथ पालन किया जाय तो सामाजिक प्रदूषण स्वतः नष्ट हो जायेगा।

कालिदास ने कहा है कि धन का संचय दान के लिये करना चाहिये और शक्ति की रक्षा के लिये मितभाषी होना आवश्यक है, संतान परम्परा की वृद्धि के लिये वैवाहिक बन्धन में बंधना चाहिये न कि भोग विलास के लिये। यह नीति सामाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने के लिये नितान्त आवश्यक एवं हितकारी है। कवि के उक्त कथन की पुष्टि श्रीमद्भागवत से हो जाती है, जहाँ कहा गया है कि यदि मनुष्य समाज का हित चाहता है तो उसे धन का संचय नहीं करना चाहिये, क्योंकि आवश्यकता से अधिक वस्तु पर उसका कोई अधिकार नहीं होता। यदि वह समाज हित को ध्यान में रखकर व्यक्तिगत रूप से अधिक संचय करता है तो वह समाज की दृष्टि में चोर है और इस कारण वह दण्ड का भागीदार होता है–

यावदभ्रियेतजठरम् तावत् सत्वम् हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभियन्येत् सास्तेनो दण्डमर्हति।।[3]

---

[1] महाभारत–शान्तिपर्व–140/58
[2] रघुवश –1/8
[3] श्रीमद्भागवत – 7/14/8

परिवार तथा समाज की वृद्धि के लिये सन्तान की प्राप्ति को आवश्यक माना गया है क्योंकि व्यक्तियों से ही समाज का निर्माण होता है और उसके लिये संतानोत्पत्ति आवश्यक है। इसीलिये कवि ने कहा है कि शुद्ध सन्तति से ही इस लोक तथा परलोक दोनों में ही सुख की प्राप्ति होती है–

> **''लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम्।**
> **सन्ततिः शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे।।''[1]**

इस नीति वचन में 'शुद्ध' और 'सन्तति' दोनों शब्द अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। शुद्ध पद के द्वारा कवि ने वर्ण संकरता का निषेध करते हुये संस्कारग्राहिता की ओर संकेत किया है और सन्तति पद 'तनु विस्तारे' धातु से निष्पन्न होकर सामाजिक प्रवाह की ओर संकेत करता है। इस प्रकार उक्त नीति वचन से यही अर्थ निकलता है कि संस्कार युक्त सामाजिक विस्तार ही सुख का साधन होता है।

इसी प्रकार क्षत्रिय पद की सार्थकता को व्यक्त करते हुये कहा है कि जिसकी शक्ति दु.खी व्यक्तियों के दुःख नाश के लिये तत्पर रहा करती है वस्तुत. वही क्षत्रिाय कहलाने का अधिकारी है जैसा कहा है–

> **''क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्त्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।**
> **राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरूपक्रोशमलीमसैर्वा।।''[2]**

इस नीति के द्वारा क्षत्रिय व्यक्ति के कर्तव्यों की ओर संकेत किया गया है कि क्षत्रिय को समाज के प्रत्येक वर्ग के लोगों की रक्षा के लिये तत्पर रहना चाहिये। उसका परम कर्तव्य है कि दीन दुःखी व्यक्तियों को उनके कष्टों से मुक्ति दिलाये एवं उनकी सुरक्षा सुनिश्चित करने का प्रयत्न सतत् करता रहे।

क्षत्रिय पदधारी वही व्यक्ति (शासक) प्रशंसनीय होता है जो चन्द्रमा के समान सदैव प्रजा वर्ग को आह्लादित करता रहे और जिसका तेज समाज के विध्वंसकों के लिये सूर्य के तेज के समान प्रखर रहे। वस्तुतः प्रजा का अनुरंजन करने वाला ही राजा कहलाने के योग्य होता है। जैसा कि कवि ने कहा है–

> **''यथा प्रह्लादनाच्चन्द्रः प्रतापात्तपनो यथा।**
> **तथैव सोऽभूदन्वर्थो रजा प्रकृतिरञ्जनात्।।[3]**

---

[1] रघुवंश – 1/69
[2] रघुवश–– 2/53
[3] रघुवश–4/12

जीवन-मरण के सम्बन्ध में विद्वानों को कभी विचलित नहीं होना चाहिये, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत की सामान्य प्रक्रिया मात्र है। अतः यह ध्रुव सत्य है और ये दोनों (जीवन एवं मरण) किसी व्याज के ही आते हैं। कोई वस्तु विष होते हुये भी अमृत हो जाती है और ईश्वरेच्छा से अमृत भी विष हो जाता है। इसी नीति को अज विलाप के माध्यम से लोगों को शिक्षा देते हुये कवि ने कहा है-

''स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृत कचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।।''[1]

वस्तुत· शरीरधारियों का मरना स्वभाव तथा जीना विकार कहा जाता है। अतः यदि जीव क्षण मात्र भी श्वाँस लेता हुआ जीवन व्यतीत करता है तो वह लाभवान है अर्थात् मनुष्य को मृत्यु से घबराना नहीं चाहिये, क्यों कि एक मात्र मृत्यु ही जीवन का परम सत्य है-

''मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ।।[2]

मूढ़ व्यक्ति इष्ट के नाश को हृदय में चुभा हुआ काँटा समझता है और धैर्यवान उसे मोक्ष का द्वार समझता है। अतः मूर्ख लोग विषयों को लाभ और उत्तम मानते हैं तथा मरण को हानि समझते हैं, जबकि समाज में सुख चाहने वाले लोगों को इसके विपरीत समझना चाहिये। यथा-

"अवगच्छति मूढचेतनः प्रियनाशं हृदि शल्यमर्पितम्।
स्थिरधीस्तु तदेव मन्यते कुशलद्वारतया समुद्धृतम्।।"[3]

अत· मनुष्य को इस विषय में चिन्तित नहीं होना चाहिये क्योंकि शरीर और आत्मा का संयोग या वियोग ईश्वर की इच्छा से हुआ करता है। इस सम्बन्ध में शोक करने से कोई भी फल प्राप्त नहीं होता वरन् दुःख की ही प्राप्ति होती है। अतः व्यर्थ का शोक नहीं करना चाहिये। इसी की पुष्टि श्रीमद्भगद्गीता में भी-

"अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।"[4]

तथा

"जातस्य हि ध्रुवोमृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।"[5]

---

[1] रघुवंश-8/46
[2] रघुवंश-8/87
[3] रघुवंश- 8/88
[4] श्रीमद्भगवद्गीता -2/11
[5] श्रीमद्भगवद्गीता- 2/27

के द्वारा हो जाती है। कालिदास ने सामाजिकों के लिये यह उपदेश दिया है कि यदि मनुष्य में अनेंक गुण विद्यमान हों और एकाध दोष भी हों तो वे दोष मनुष्य के गुणों में लुप्त हो जाते हैं, इससे उसकी महानता में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। जैसे अनेक बहुमूल्य रत्न देने वाले हिमालय के सौन्दर्य को हिम क्षीण नहीं कर पाता वह दोष हिमालय के गुणों में उसी प्रकार विलुप्त हो जाता है जिस प्रकार चन्द्रमा का धब्बा उसकी अनेक सुखदायी किरणों में अन्तर्निहित हो जाता है। जैसा कहा है-

"अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसंनिपते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।।"[1]

महाकवि अश्वघोष ने अपने महाकाव्य सौन्दरनन्द में बहुलता के साथ नीति वचनों का प्रयोग किया है। मेरी दृष्टि में महाकवि कालिदास नें लोगों के आनन्द के लिये एवं विद्वानों के परितोष के लिये काव्य रचना की परन्तु महाकवि अश्वघोष नें विषयानुरक्त मोक्ष विमुख लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिये काव्य रचना की है। इसके प्रत्यक्ष प्रमाण सौन्दरनन्द के सोलहवें सर्ग में स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं, जहाँ कवि नें सामाजिक उन्नति, सामाजिक शान्ति एवं समृद्धि के लिये उद्योग को महत्व दिया है। कवि ने शिक्षा देते हुये कहा है कि किसी भी कार्य की सफलता का मूल कारण उद्योग है जिसके बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। उद्योग का मनुष्य के जीवन में सर्वाधिक महत्व है उद्योगी पुरूष इसी माध्यम से सब कुछ प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिये उद्योगरहित जीवन पापमय माना गया है-

"वीर्य परं कार्यकृतौ हि मूलं वीर्यादृते काचन नास्ति सिद्धिः।
उदेति वीर्यादिह सर्वसंपन्निर्वीर्यता चेतसकलश्च पाप्मा।।"[2]

कवि नें स्पष्ट रूप से कहा है कि अनुद्योगी मनुष्यों को निश्चय ही अप्राप्य वस्तुओं की प्राप्ति नहीं होती और प्राप्त वस्तुयें भी नष्ट हो जाया करती है। इस प्रकार के व्यक्ति समाज में सम्मान रहित और दीन हीनों की श्रेणी में आ जाते हैं और अन्त में धीरे-धीरे उनका पतन हो जाता है-

---

[1] कुमार सम्भव- 1/3
[2] सौन्दरनन्द- 16/94

"अलब्धस्यालाभो नियतमुपलब्धस्य विगम-
स्तथैवात्मावज्ञा कृपणमधिकेभ्यः परिभवः।
तमो निस्तेजस्त्वं श्रुतिनियमतुष्टिव्युपरमो
नृणां निर्वीर्याणां भवति विनिपातश्च भवति।।"[1]

उद्यमी पुरूष भूमि से अन्न प्राप्त करता है, समुद्र से रत्न प्राप्त करता है तथा लक्ष्मी का उपभोग करता है अर्थात् सभी प्रकार की सुख समृद्धि का भोक्ता बनता है। इसीलिये सभी प्रकार की सुख समृद्धि तथा शान्ति के लिये उद्योग को आवश्यक माना गया है क्योंकि उद्योग में ही समस्त समृद्धियाँ निहित रहती हैं। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह आलस्य को त्यागकर उद्योग का वरण करे। जैसा कहा है-

"कृष्ट्वा गां परिपाल्य च श्रमशतैरश्नोति सस्यश्रियं
यत्नेन प्रविगाह्य सागरजलं रत्नश्रिया क्रीडति।
शत्रूणामवधूय वीर्यमिषुभिर्भुङ्क्ते नरेन्द्रश्रियं
तद्वीर्यं कुरु शान्तये विनियतं वीर्ये हि सर्वर्द्धयः।।"[2]

मेरे अध्ययन के अन्तर्गत उद्योग के सम्बन्ध में महाकवि अश्वघोष के अतिरिक्त अन्य किसी कवि ने इतनी नीतिपरक बातों का उल्लेख नहीं किया है। हाँ यत्र-तत्र नीतिशतक आदि गन्थों में श्रम की महत्ता का प्रतिपादन अवश्य किया गया है। अश्वघोष की श्रम सम्बन्धी नीतियाँ कुछ इस प्रकार की हैं कि वे हर काल एवं परिस्थित में अपनी प्रासंगिकता बनाये रखती हैं। यही इन नीतियों का वैशिष्ट्य भी है और व्यवहारिकता भी। महाकवि अश्वघोष के नीति वाक्य सामाजिक एवं व्यवहारिक होने के साथ ही दार्शनिक विचारों से भी ओत-प्रोत हैं। वह सांसारिक प्राणियों को नैतिक उपदेश देते हुये कहते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह समय का सदुपयोग करे एवं अपनी बुद्धि एवं मन को एकाग्र चित्त रखते हुये शान्ति की कामना करे। मनुष्य को स्वप्न के समान असार विषय सुखों की ओर मन को जाने से रोकना चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार वायुप्रेरित अग्नि की हव्य द्रव्यों से कभी तृप्ति नहीं होती उसी प्रकार विषयों के भोगों से मनुष्य की कभी तृप्ति नहीं होती। इसलिये मनुष्य का यह कर्तव्य है कि यदि वह सुख-शान्ति चाहता है तो उसे अपनी आवश्यकताओं की सीमित करना चाहिये एवं विषय भोगों की ओर से अपने मन को हटाना चाहिये अन्यथा वह इस संसार के भोग विलासों में पड़कर मनुष्य जीवन का लक्ष्य ही विस्मृत कर देगा। यथा-

---

[1] सौन्दरनन्द- 16/95
[2] सौन्दरनन्द- 16/98

"साधारणत्स्वप्ननिभादसाराल्लोलं मनः कामसुखान्नियच्छ।
हव्यैरिवाग्ने पवनेरितस्य लोकस्य कामैर्न हि तृप्तिरस्ति।।"[1]

मनुष्य जीवन के लिये यह नीति बड़ी ही गम्भीर एवं हितकारी है कि श्रद्धापूर्वक आत्म सुख को प्राप्त करनें के साथ ही हितकारी वचनों को ग्रहण कर लेना चाहिये। क्योंकि हित की बात कहनें वाला सबसे श्रेष्ठ होता है और श्रद्धापूर्वक शुभ कार्य के लिये किया जाने वाला परिश्रम सार्थक होता है। जैसा कहा है-

"हितस्य वक्ता प्रवरः सुहृदभ्यो धर्माय खेदो गुणवान् श्रमेभ्यः।
ज्ञानाय कृत्यं परमं क्रियाभ्यः किमिन्द्रियाणामुपगम्य दास्यं।।"[2]

प्राणियों को सदैव भोग विलास से दूर रहकर आत्मिक शान्ति की कामना करनी चाहिये। क्योंकि इस संसार में वृद्धावस्था से अधिक और कोई दुःख नहीं, रोग के समान अन्य कोई अनिष्ट नहीं और मृत्यु के समान कोई भय नहीं-

"जरासमा नास्त्यमृजा प्रजानां व्याधेः समो नास्ति जगत्यनर्थः।
मृत्योः समं नास्ति भयं पृथिव्यामेतत्त्रयं खल्ववशेन सेव्यं।।"[3]

इस कथन के द्वारा संसार के प्राणियों को यही शिक्षा दी गई है कि इस सम्पूर्ण जगत में दु.ख ही दु.ख व्याप्त है, अत. मनुष्य को चाहिये कि वह इस दुःख निवृत्ति का मार्ग तलाशकर परम शान्ति को प्राप्त करे, इसके लिये उसे त्याग की भावना से कार्य करना चाहिये एवं भोग विलासों से स्वयं को दूर रखते हुये आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होना चाहिये। क्योंकि स्नेह बन्धन के समान है और तृष्णा सब कुछ बहा ले जाने वाली तेज धारा है एवं राग अग्नि के समान सब कुछ भस्म कर देने वाला है। अतः इनसे सदैव दूर रहकर ही मनुष्य को शान्ति एवं सुख प्राप्त हो सकता है। जैसा कहा है-

"स्नेहेन कश्चिन्न समोऽस्ति पाशः स्रोतो न तृष्णासममस्ति हारि।
रागाग्निना नास्ति समस्तथाग्निस्तच्चेत्त्रयं नास्तिसुखं च तेऽस्ति।।"[4]

जैसा कि हम पूर्व में ही स्पष्ट कर चुके हैं कि महाकवि अश्वघोष की सूक्ष्म दृष्टि से मनुष्य जीवन का कोई भी पक्ष ओझल नहीं हो सका है। महाकवि नें जीवन के सभी पहलुओं पर, यहाँ तक कि मनुष्य को किस प्रकार का आहार लेना चाहिये, इस पर भी वह अपने आपको विचार करनें से रोक नहीं सके और नीति रूप में उसे व्यक्त करते हुये

---

[1] सौन्दरनन्द- 5/23
[2] सौन्दरनन्द- 5/25
[3] सौन्दरनन्द- 5/27
[4] सौन्दरनन्द- 5/28

कहा है कि मनुष्य को स्वस्थ एवं दीर्घजीवी रहने के लिये भोजन आवश्यक है परन्तु यह भोजन संतुलित होना चाहिये, क्योंकि असंतुलित भोजन मनुष्य को उसी प्रकार रोगग्रस्त कर देता है जिस प्रकार अधिक भार से तुला झुक जाती है और अल्पभार (उचितभार) से वह सन्तुलित रहती है। ठीक इसी प्रकार उचित आहार ग्रहण करने से मनुष्य का शरीर स्वस्थ एवं निरोग रहता है। जैसा कहा है-

"यथा भारेण नमते लघुनोन्नमते तुला।
समा तिष्ठति युक्तेन भोज्येनेयं तथा तनुः।।"[1]

अतएव शरीरधारण के लिये समुचित आहार अपेक्षित है-

"धारणार्थे शरीरस्य भोजनं हि विधीयते।
उपस्तम्भः पिपतिषोर्दुबलस्येव वेश्मनः।।"[2]

अर्थात मनुष्य को अपने शरीर की रक्षा के लिये सन्तुलित भोजन ग्रहण करना चाहिये। उसे अधिक खाने से बचना चाहिये तभी वह आध्यात्मिकता की ओर बढ़ सकता है अन्यथा रोगग्रस्त होकर वह दुःख का भागीदार होगा।

कवि का संसार के समस्त प्राणियों के लिये यह नैतिक उपदेश है कि इस सम्पूर्ण जगत में काल ही सर्वशक्तिमान है, काल की गति बड़ी ही विचित्र है उससे कोई भी बच नहीं सकता। अत· वह ध्रुव सत्य है। इसी कारण संसार में जरा, रोग और मृत्यु ये तीन महाभय कहे गये हैं। इनका भय सर्वत्र व्याप्त रहता है। इसी को स्पष्ट करते हुये कहा है-

"जरा व्याधिश्च मृत्युश्च लोकस्यास्य महद्भयं।
नास्ति देशः स यत्रास्य तद्भयं नोपपद्यते।।"[3]

अर्थात् इस संसार में उत्पन्न हुआ व्यक्ति चाहें जितना विद्वान, शक्तिवान एवं धनवान हो तथा सभी सुख सुविधाओं से कितना भी सम्पन्न क्यों न हो परन्तु वह कभी भी मृत्यु पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता। मृत्यु के लिये ये सभी वस्तुयें मायने नहीं रखतीं, क्योंकि इस संसार का यह शाश्वत नियम है कि जो भी व्यक्ति उत्पन्न हुआ है उसकी एक न एक दिन मृत्यु अवश्य होगी। यह जीवन का एक अटल सत्य है जिसे दैव भी नहीं भंग कर सकता-

---

[1] सौन्दरनन्द- 14/5
[2] सौन्दरनन्द- 14/15
[3] सौन्दरनन्द- 15/46

"प्रसूतः पुरूषो लोके श्रुतवान्बलवानपि।
न जयत्यन्तकं कश्चिन्नाजयन्नापि जेष्यति।।"[1]

कवि संसार के समस्त प्रणियों के कल्याणार्थ यह उपदेश देना चाहता है कि विषयों से इन्द्रियों की तृप्ति उसी प्रकार से नहीं हो सकती, जैसे जल से कभी समुद्र तृप्त नहीं होता और ईंधन से कभी अग्नि को नहीं तृप्त किया जा सकता वरन् इसके विपरीत समुद्र में जल की मात्रा कितनी भी बढ़ती जाय उसकी प्यास कम नहीं होगी और कितना भी ईंधन अग्नि में स्वाहा कर दिया जाय वह ईंधन की और मांग करती ही रहेगी। ठीक उसी प्रकार अपने-आपने विषयों की ओर प्रेरित करना या आकर्षित करना यह इन्द्रियों का स्वभाव ही है और वे इसका त्याग नहीं कर सकतीं। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह विषयों की ओर अपनी इन्द्रियों को जाने से हमेशा रोकता रहे। जैसा कहा है-

"विषयैरिन्द्रियग्रामो न तृप्तिमधिगच्छति।
अजन्नं पूर्यमाणोऽपि समुद्रः सलिलैरिव।।"[2]

इस नीति के द्वारा यही स्पष्ट किया है कि हव्य से अग्नि की और जल से समुद्र की तथा काम वासना से तृष्णावान की तृप्ति नहीं होती है। इसलिये कामोपभोग तृप्तिदायक न होकर उसे और बढाने वाला ही होता है। जैसा कहा है-

"तृप्तिर्नास्तीन्धनैरग्नेर्नाम्भसा लवणाम्भसः
नापि कामैः सतृष्णस्य तस्मात्कामा न तृप्तये।।"[3]

उक्त कथन का पालन करने पर ही सुख शान्ति प्राप्त होती है क्योंकि विषयोपभोग से न तो शान्ति मिलती है और न सुख मिलता है अतः सुख के अभाव में आनन्द का प्रश्न ही नहीं उठता-

"अतृप्तौ व कुतः शान्तिरशान्तौ च कुतः सुखं।
असुखे च कुतः प्रीतिरप्रीतौ च कुतो रतिः।।"[4]

विषयोपभोग के सम्बन्ध में और भी कहा है कि विषयोपभोग से वैषयिक तृष्णा उसी प्रकार बढती है जैसे हव्य से अग्नि प्रदीप्त होती रहती है-

"न कामभोगा हि भवन्ति तृप्तये हवींषि दीप्तस्य विभावसोरिव।
यथा यथा कामसुखेषु वर्तते तथा तथेच्छा विषयेषु वर्धते।।"[5]

---

1 सौन्दरनन्द- 15/60
2 सौन्दरनन्द- 13/40
3 सौन्दरनन्द-11/32
4 सौन्दरनन्द- 11/33
5 सौन्दरनन्द- 9/43

इसी नीति को विस्तारित करते हुये कवि ने आगे कहा है कि जिस व्यक्ति की विचार दृष्टि और मन आकुल हैं, जिसका मन निश्चित रूप से दुर्बल है, सफलता उसका वरण कभी नहीं कर सकती। अतः मनुष्य को संयम के द्वारा दृढ़ होने पर ही सफलता प्राप्त होती है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह संयम को अपनाकर अपने मन पर नियंत्रण रखे तभी वह सफल हो सकता है–

"व्याकुल दर्शनं यस्य दुर्बलो यस्य निश्चयः।
तस्य पारिप्लवा श्रद्धा न हि कृत्याय वर्तते।।"[1]

युवावस्था जो कि मनुष्य के आगामी जीवन का आधार स्तम्भ होती है और जिस पर जीवन रूपी प्रसाद स्थिर रहता है उस समय मनुष्य को अत्यधिक भोग विलास से अपने को विरत रखना चाहिये, क्योंकि युवावस्था एक बार व्यतीत हो जाने पर पुनः लौटकर नहीं आती, यही काल की गति है। अपने कथन की पुष्टि में प्रत्यक्ष उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुये कवि ने कहा है कि ऋतुयें तो आती जाती रहती हैं, क्षीण चन्द्रमा भी पुनः वृद्धि को प्राप्त कर लेता है। परन्तु जिस प्रकार नदियों का जल बह जाने पर पुनः वापस लौटकर नहीं आता ठीक उसी प्रकार युवावस्था व्यतीत हो जाने पर पुनः लौटकर नहीं आती–

'' ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु संनिवर्तते जलं नदीनां च नृणां च यौवनं।।''[2]

सांसारिक प्राणियों के लिये अत्यन्त उपकारी नीति की ओर संकेत करते हुये कहा है कि हित की बात यदि कटु हो तो भी मनुष्य को उद्विग्न नहीं होना चाहिये। क्योंकि हितकारी अप्रिय वचन भी लाभकारी होता है और अहितकारी वचन हानिकारक होता है। अतः प्रिय भी हो और हितकर भी हो ऐसा वचन दुर्लभ होता है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह हितकारी अप्रिय वचन को सुनकर विचलित न हो–

''अप्रियं हि हितं स्निग्धमस्निग्धमहितं प्रियं।
दुर्लभं तु प्रियहितं स्वादु पथ्यमिवौषधं।।''[3]

---

[1] सौन्दरनन्द–12/42
[2] सौन्दरनन्द–9/28
[3] सौन्दरनन्द–11/16

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य में कवि अश्वघोष में अपने नीति वचनों द्वारा समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उद्बोधित करते हुये नीति का प्रणयन किया है, जो सभी मनुष्यों के लिये नितान्त आवश्यक है।

नीति वचनों की इसी परम्परा में महाकवि भारवि का 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य भी स्वयं में अद्वतीय है। यह महाकाव्य अपने अर्थ गौरव के लिये विद्वद समाज अति प्रसिद्ध है। इसमें राजनीति तथा जीवन संग्राम से सम्बन्धित नीति मार्ग को आलोकित किया गया है, जो सभी मनुष्यों के लिये जीवन सुचारू रूप से संचालित करने का मार्ग प्रशस्त करता है।

भारवि की शिक्षा है कि इस संसार में भिन्न-भिन्न प्रकार के अर्थात् अलग-अलग स्वभाव के व्यक्ति निवास करते हैं, इनमें से कुछ साधु प्रकृति के और कुछ असाधु प्रकृति के होते हैं। अतः मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह भलीभाँति परीक्षण करके सज्जनों के साथ नम्रता का तथा शठों (दुष्टों) के साथ शठ्ता का व्यवहार करे। जो लोग इस नीति का पालन नहीं करते हैं वे सदा शठों से पीड़ित हुआ करते हैं। अतः मायावियों के साथ मायाचार करना नीति है। जैसा कहा है-

''व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधान संवृताङ्गान्निशिता इवेषवः।।''[1]

यद्यपि सभी शास्त्रों एवं काव्यों में क्रोध को एक दुर्गुण माना गया है परन्तु भारवि ने मानव जीवन में क्रोध को भी एक आवश्यक अंग माना है। क्योंकि क्रोध मनुष्य के लिये हितकर भी होता है। परन्तु वह क्रोध निर्विष सर्प के समान नहीं होना चाहिये अपितु सफल होना चाहिये, क्योकि जिसका अमर्ष अबन्ध्य होता है उसी से लोग भयभीत रहा करते हैं और उसी व्यक्ति का लोग सम्मान भी करते हैं। सभी लोग इस प्रकार के व्यक्ति के वशीभूत स्वयं हो जाया करते हैं। अतः मनुष्य जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिये क्रोध भी एक आवश्यक तत्व है। जैसा कवि ने कहा है-

''अबन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः।।''[2]

इस नीति के साथ ही साथ कवि का कथन है कि सहसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये, क्यों कि बिना सम्यक रूप से विचार किये हुये कोई कार्य करने पर वह

[1] किरातार्जुनीयम्-1/30
[2] किरातार्जुनीयम्-1/33

अन्तकाल में पश्चात्ताप का कारण भी बन जाता है और विचारपूर्वक किया गया कार्य समृद्धि कारक होता है। इसीलिये कहा गया है कि सम्पत्तियाँ स्वयं विचारशील मनुष्य की अनुगामिनी हो जाती है।

''सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।।''[1]

यह संसार भिन्न-भिन्न रुचियों एवं स्वभाव वाले मनुष्यों से भरा पड़ा है किसी के मन में क्या है यह ज्ञात करना अत्यन्त कठिन कार्य है। जागतिक अनुभव से यह सिद्ध होता है कि साधु वेश में भी ठग, चोर तथा असाधु प्रवृत्ति के लोग रहा करते हैं। अतः अपने को सुरक्षित बनाये रखने के लिये कभी भी असावधान नहीं होना चाहिये। विशेष रूप से अपरिचित स्थान में तो यह सावधानी नितान्त आवश्यक है क्यों कि मात्सर्य आदि से युक्त साधुओं के भी मन हुआ करते हैं। जैसा कहा है-

''मा गाश्चिरायैकचरः प्रमादं वसन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे।
मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि।।''[2]

इस प्रकार महाकवि भारवि ने अपने नीति वचनों के द्वारा राजनीति के साथ-साथ समाज के सामान्य व्यक्तियों के लिये भी जीवनोपयोगी नीति वचन कहे हैं। भारवि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि-

''विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेष दुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः।।''[3]

अर्थात्सदुपदेशक दुर्लभ होते हैं परन्तु कवि ने इसे सुलभ बना दिया है। इसी प्रकार महाकवि माघ का 'शिशुपालवध' महाकाव्य भी अति सूक्ष्म नीति वचनों का भण्डार माना जाता है। इस महाकाव्य का द्वितीय सर्ग सभी प्रकार की नीतियों का सागर माना जाता है। इस महाकाव्य में भी राजनीति के साथ ही साथ सामाजिक हित की नीतियों के दर्शन भी सर्वत्र उपलब्ध हैं।

आत्मोन्नति की नीति को स्पष्ट करते हुये कवि ने कहा है कि अपनी उन्नति और शत्रु की हानि केवल इतनी ही नीति है। जो मनुष्य इस छोटी सी बात को समझ लेता है उसकी जीवन में कभी भी पराजय नहीं होती है। अर्थात् मनुष्य को अपनी उन्नति का

---

[1] किरातार्जुनीयम्-2/30
[2] किरातार्जुनीयम्-3/53
[3] किरातार्जुनीयम्-2/3

मार्ग प्रशस्त करते हुये अपने शत्रुओं पर नजर रखनी चाहिये। इस नीति का पालन करते हुये उसे असफलता का मुँह कभी नहीं देखना पड़ता। जैसा कहा है।

"आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते।।"[1]

महाकवि माघ ने यह नीति कही है कि समय ही मनुष्य को बलवान अथवा निर्बल बना देता है। इसका अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य का समय अच्छा चल रहा है होता है तो उसे बलवान समझा जाता है परन्तु बुरे वक्त में वही व्यक्ति निर्बल हो जाता है। जैसा कहा है-

"समय एवं करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्।
शरदि हंसरवाः परूषीकृतस्वरमयूरमयू रमणीयताम्।।"[2]

मल्लिनाथ ने इसकी व्याख्या करते हुये कहा है-

"शरत्प्रावृषोर्हसमयूरकूजिते माधुर्यामाधुर्यविपर्ययदर्शनात् काल एव-
प्राणिनां बलाबलनिदानं व्यक्तमभूदित्यर्थः।।"

माघ का स्पष्ट मत है कि समय के प्रतिकूल हो जाने पर वहु साधनता भी विफल हो जाती है अर्थात् यदि मनुष्य का समय ठीक नहीं होता तो वह जितने भी उपाय करता है वे सभी विफल हो जाते हैं, जैसे अस्त होते हुये सूर्य को उसकी हजारों किरणें भी सहायता करने पर अस्त होने से नहीं बचा पातीं। जैसा कहा है-

"प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि।।"[3]

महाकवि श्री हर्ष ने अपने 'नैषधीयचरित' नामक महाकाव्य में बड़ी ही गूढ़ नीतियों का सहज ढँग से प्रतिपादन किया है। श्रीहर्ष ने नीति व्यक्त करते हुये कहा है कि जो निश्चित रूप से होने वाला होता है उसको रोका नहीं जा सकता है। ईश्वर की जैसी इच्छा होती है उसी ओर वह लोगों के चित्त को प्रवर्तित कर देता है। जैसे आँधी जिस दिशा की ओर चलती है उसी ओर तृण को उड़ा ले जाती हे। जैसा कहा है-

"अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा
यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयानुगम्यते
जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना।।"[4]

---

[1] शिशुपालवध - 2/30
[2] शिशुपालवध - 6/44
[3] शिशुपालवध - 9/6
[4] नैषधीय चरित- 1/120

महाकवि श्री हर्ष ने बहुत ही सूक्ष्म विवेचन करते हुये कहा है कि विधि स्वत: ही परस्पर योग्य व्यक्ति का योग्य व्यक्ति के साथ ही समागम करती है अयोग्यों के साथ नहीं, जैसे निशा के साथ चन्द्रमा, गौरी के साथ शंकर तथा लक्ष्मी के साथ विष्णु का सयोग योग्य का योग्य के साथ समागम है। जैसा कहा है-

> ''निशा शशाड्कं शिवया गिरीशं
> श्रिया हरिं योजयतः प्रतीतः
> विधेरपि खारसिकः प्रयासः
> परस्परं योग्यसमागमाय।।[1]

सज्जनों के सम्बन्ध में कहा है कि सज्जन लोग फल की प्राप्ति के बिना भी उपकार किया करते हैं-

> ''वराटिकोपक्रययापि लभया
> न्नेभ्याः कृतज्ञानथवाद्रियन्ते।
> प्राणैः प्राणैः स्वं निपुणं भणन्तः
> क्रीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः।।[2]

शाश्वत सत्य नीति को व्यक्त करते हुये कहा है कि जो कार्य शीघ्र करने के योग्य हो उस कार्य में विलम्ब नहीं करना चाहिये, केवल जो विलम्ब से किये जाने के योग्य हो उस कार्य को ही सोंच विचार कर करना चाहिये। जैसे भयंकर पीड़ा के उत्पन्न होने पर काल की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिये। जैसा कहा है-

> ''अलं विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला
> कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः
> गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा
> प्रतीक्षते जातु न कालमर्तिः।।''[3]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामायण, महाभारत तथा अन्य प्रमुख काव्यों में नीतिपरक उपदेश बड़ी सहजता के साथ उपलब्ध हैं। ये नीति वचन मनुष्य के जीवन पथ को सुगम बनानें के साथ ही साथ उन्हें सन्मार्ग पर चलने के लिये भी प्रेरित करते हैं। मैंने शोध के अधिक विस्तार के भय से प्रमुख नीति काव्यों को ही ग्रहण किया है अन्यथा यदि हम संस्कृत साहित्य का कोई भी काव्य अध्ययन की दृष्टि से देखें तो उसमें नीति का पुट अवश्य विद्यमान होगा और यत्र-तत्र चाहें वे अल्प मात्रा में ही क्यों न हों नीति वचन अवश्य होंगे।

---

[1] नैषधीय चरित- 3/48
[2] नैषधीय चरित- 3/88
[3] नैषधीय चरित- 3/91

(II)
रूपकों में नीति

संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ विपश्चित सहृदयों ने अपने शास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य को मुख्य रूप से 'श्रव्य' तथा 'दृश्य' दो भागों में विभक्त किया है। इन दो भेदों में श्रव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य अपना विशेष स्थान रखते हैं, क्योंकि दृश्य में शब्दों के अतिरिक्त भाव भंगिमाओं द्वारा सामाजिकों को भावमग्न करके शिक्षित करनें की अधिक सामर्थ्य रहती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि जो शिक्षा मृदु भावों के अभिनय से प्राप्त होती है वह अधिक प्रभावशाली तथा स्थायी मानी जा सकती है, क्योंकि कानों से सुनी गई बात की अपेक्षा नेत्रों द्वारा देखी गयी वस्तु अधिक हृदयावर्जक होती है। इसीलिये इस विधा को रूपक कहा गया है। ये रूपक काव्य जगत में सर्वाधिक रम्य माने जाते हैं इसीलिये 'काव्येषु रूपकं रम्यं' कहा गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि समाज के प्रत्येक वर्ग को प्रभु-सम्मित, सुहृत्-सम्मित तथा कान्ता-सम्मित उपदेश रूपकों से ही मिल पाता है, क्योंकि इनमें स्थान-स्थान पर नीति वचनों के प्रयोग द्वारा भावों को प्रदर्शित किया जाता है जो सद्यः सामाजिकों को प्रभावित करनें में समर्थ होता है। अतः जीवन की सत्यता के अनुभव की दृष्टि से, रसाप्लावित होनें की दृष्टि से तथा रसास्वादन की क्षमता की दृष्टि से निश्चित रूप से काव्य के सम्पूर्ण भेदों में रूपक पूर्णरूपेण हृदयावर्जक होते हैं और भिन्न-भिन्न रूचि वाले लोगों को नीति मार्ग पर ले चलनें की क्षमता रखते हैं जैसा कि महाकवि कालिदास नें कहा है-

"नाट्यं भिन्न रूचेर जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।।"[1]

नाट्य से समस्त ज्ञानों तथा कलाओं की शिक्षा भी प्राप्त होती है। यही भरत मुनि का भी मत है, अतएव कहा है-

"न तज्ज्ञानं, न तच्छिल्पं, न सा विद्या, न सा कला।
नासौ योगे, न तत्कर्म नाटयेऽस्मिन् यन्न दृश्यते।।"[2]

इसी आधार पर हम यह स्पष्ट करनें का प्रयास कर रहे हैं कि समाज को रूपकों से किस प्रकार की नीति सम्बन्धी सहज शिक्षा प्राप्त होती है अर्थात् मनुष्य जीवन को सुमार्ग पर ले जाने सम्बन्धी किस प्रकार की नीतियाँ हमें विभिन्न रूपकों एवं नाटकों में देखने को मिलती हैं। जैसा कि हम पूर्व में कह चुके हैं कि अधिक विस्तार के भय से

---

[1] मालविकाग्निमित्रम्- 1/4
[2] नाट्यशास्त्र- 1/117

प्रमुख ग्रन्थों को ही अपने विवेचन का विषय बनायेंगे। इसलिये उसी नीति का अनुसरण करते हुये मुख्य-मुख्य रूपक एवं नाटक दृष्टव्य हैं-

समाज के प्रत्येक मनुष्य को उपदेशित करते हुये कहा गया है कि मनुष्य को अपने ज्ञान, कला तथा शक्ति आदि पर कभी गर्व नहीं करना चाहिये, क्योंकि इनकी परीक्षा समाज में होती है और जब व्यक्ति के ज्ञानादि से समाज के मनुष्य सन्तुष्ट हो जायें तभी इनकी चरितार्थता होती है। यही कारण है कि सम्यक् रूप से ज्ञाता हो जानें पर भी सज्जनों के मन में एक प्रकार का भय बना रहता है। अतएव समाज में विद्वानों के मध्य यह उक्ति प्रचलित है कि 'विद्वदजन सभा मध्ये को न कातरताम् व्रजेत्'। इसी अभिप्राय को महाकवि कालिदास ने अपने शब्दों में कहा है-

> "आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोग विज्ञानं
> बलवदऽपि शिक्षितानाम् मात्मन्यप्रत्ययं चेतः।।"[1]

साथ ही कवि का यह भी मत है कि मनुष्य को अपने ज्ञान, वैभव अथवा शक्ति आदि के वशीभूत होकर कभी शान्त प्रकृति वाले निरीह निस्पृह तथा दुर्बल व्यक्तियों को तिरस्कृत या अपमानित नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार के व्यक्तियों में भी एक प्रकार के तेज की अग्नि होती है जो अहंकारियों के अहं को नष्ट करनें की सामर्थ्य रखती है। जैसा कहा है-

> "शमप्रधानेषु तपोधनेषु, गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः।
> स्पर्शानुकूला इव सूर्यकान्ता, स्तदन्यतेजोऽभिभवाद् वमन्ति।।"[2]

महाकवि भवभूति ने भी इसी अभिप्राय को स्पष्ट करते हुये कहा है-

> "न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते
> स तस्य स्वो भावः प्रकृतिनियतत्वादकृतकः।
> मयूरवैरश्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः
> किमांग्नेयो ग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति।।"[3]

महाकवि जगत के लोगों को सचेत करते हुये कहते हैं कि समय अथवा भाग्य ही किसी को उन्नति प्रदान करता है और किसी को अवनति। जो आज उन्नत दिखाई पड़ता है वह भविष्य में अवनति को भी प्राप्त कर सकता है, और जो आज अवनतिग्रस्त है वह भविष्य में उन्नति को भी प्राप्त कर सकता है। अतः उन्नति में हर्ष और अवनति

---

1. अभिज्ञान शाकुन्लम्- 1/2
2. अभिज्ञान शाकुन्लम्- 2/7
3. उत्तररामचरित - 6/14

में दुःखी नहीं होना चाहिये।

प्रकृति के माध्यम से भी कवि ने शिक्षा देते हुये लोगों से कहा है कि चन्द्रमा और सूर्य इस संसार में दो तेजस्वी हैं और वे भी समय के कारण ही उदय और अस्त को प्राप्त होते हैं:-

''यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरूणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु।।''[1]

महाकवि भास ने भी इसी मन्तव्य को प्रकट करते हुये कहा है-

''कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना।
चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः।।''[2]

महाकवि कालिदास ने कहा है कि इस परिवर्तनशील संसार में अति उच्च स्थान भी समय आने पर पतन का कारण बन जाता है। उदाहरण देते हुये कवि ने लोगों को यह बताया कि अन्धकार को नष्ट करने वाला चन्द्रमा जो पर्वतराज सुमेरू की चोटी पर अपने पैर रख देता है साथ ही विष्णु के मध्यम स्थान आकाश को लाँघ जाता है तो उसी चन्द्रमा की किरणे, मात्र शेष रह जाती हैं और वह आकाश से गिरने लगता है तथा तेजहीन हो जाता है-

''पादन्यासं क्षितिधरगुरार्मूध्नि कृत्वा सुमेरोः,
क्रान्तं येन क्षपिततमसा मध्यमं धाम विष्णोः।
सोऽपं चन्द्रः पतति गगनादल्पशेषैर्मयूखै-,
रत्यारूढिर्भवति महतामप्यपभ्रंशनिष्ठा।।''[3]

इस पद्य के द्वारा कवि ने यह उपदेश दिया है कि मनुष्य को अपनी उन्नति पर कभी गर्व नहीं करना चाहिये, क्योंकि उन्नति चिरस्थायिनी नहीं होती। और ऐसी दशा में मनुष्य को अत्यन्त कष्ट उठाना पड़ता है। अतएव जो लोग उन्नति और अवनति में समान भाव रखते हैं, वे सदैव प्रसन्न रहते हैं।

वस्तुतः कालिदास की प्रत्येक उक्ति समाज के लिये नीति वाक्य है। परिवार को सुन्दर, सुखद एवं सानन्द बनाये रखने के लिये नववधू को दिया गया उपदेश अत्यन्त सटीक प्रतीत होता है। शकुन्तला की कण्व आश्रम से विदायी के समय महर्षि कण्व यही

---

1 अभिज्ञान शाकुन्तलम्-4/2
2 स्वप्नवासवदत्तम्-1/4
3 अभिज्ञान शाकुन्तलम्-चतुर्थ अंक में प्रक्षिप्त श्लोक।

उपदेश देते हैं–

> शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
> भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
> भूयिष्ठ भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी
> यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः।।"[1]

यह नीति वचन भारतीय आदर्श एवं संस्कृति से ओतप्रोत है। इसी के साथ समाज को यह भी उपदेश दिया है कि सभी प्रकार से कन्याओं का पालन, पोषण एवं रक्षण करना चाहिये, क्योंकि कन्या पराया धन होती है। जैसे धरोहर की रक्षा की जाती है और धरोहर को रखने वाला व्यक्ति उसके स्वामी को वह वस्तु दे देने के पश्चात् शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव करता है, उसी प्रकार कन्या को भी उचित योग्य वर के हाथों में समर्पित कर माता-पिता को शान्ति और प्रसन्नता का अनुभव होता है। यह नीति सामाजिकों के लिये अत्यन्त उपयोगी एवं भारतीय परम्परा का अनुपम उदाहरण है–

> "अर्थो हि कन्या परकीय एव
> तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
> जातो ममायं विशदः प्रकामं
> प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।।"[2]

'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' इस नीति का पोषण करते हुये कालिदास ने कहा है कि किसी भी कार्य को कर लेने पर उसको पूरा करना मनुष्य का धर्म होता है। जैसे सूर्य एक बार ही घोड़ों को अपने रथ में लगाता है और वे सदा गतिमान रहते हैं तथा वायु रात-दिन बिना विश्राम किये हुये ही चलती रहती है। इसी प्रकार कार्य को अंगीकार करने वाले का यह कर्तव्य होता है कि वह कार्य को बिना आलस्य के पूर्ण करे। जैसा कहा है–

> "भानुः सुकृद्युक्ततुरङ्ग एव,
> रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति।
> शेषः सदैवाहितभूमिभारः
> षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः।।"[3]

समृद्धि प्राप्त होने पर मनुष्य को उद्दण्ड नहीं अपितु नम्र होना चाहिये, यही उसकी शोभा है। प्रकृति को माध्यम बनाते हुये कवि ने कहा है कि फल आने पर वृक्ष

---

[1] अभिज्ञान शाकुन्तलम्–4/18
[2] अभिज्ञान शाकुन्तलम्–4/22
[3] अभिज्ञान शाकुन्तलम्–5/4

स्वतः झुक जाते हैं, नदी के जल को ग्रहण करके परिपूर्ण हुये मेघ नीचे झुक जाते हैं, उसी प्रकार सज्जन पुरूष भी ऐश्वर्यवान होने पर नम्र हो जाते हैं, यह उनका स्वभाव होता है और यही उनकी विशेषता भी होती है परन्तु दुर्जन का स्वभाव इसके विपरीत होता है–

> ''भवन्ति नम्रास्तरवः फलागमै-
> नवाम्बुभिः ईरदुविलम्बिनो घनाः।
> अनुद्धताः सत्पुरूषाः समृद्धिभिः
> स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।।''[1]

कोई भी कार्य सहसा बिना विचारे हुये नहीं करना चाहिये, इसी प्रकार किसी भी प्रकार की मित्रता अथवा सम्बन्ध अच्छी प्रकार से एक दूसरे की परीक्षा किये बिना स्थापित नहीं करना चाहिये। गुप्त रूप से की गई मैत्री अथवा एकान्त में किया गया विवाहादि सम्बन्ध विशेष रूप से एक दूसरे के हृदयों को परख लेने के पश्चात् और अच्छी प्रकार से परिचित हो जाने पर ही करना चाहिये अन्यथा इसके विपरीत किया गया सम्बन्ध कष्टदायी ही होता है। जैसा कहा है–

> ''अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
> अज्ञातहृदयेष्वेव वैरीभवति सौहृदम्।।''[2]

महाकवि कालिदास ने अपने सहज नीति वाक्यों के द्वारा मनुष्यों को उद्बोधित किया है। कालिदास ने महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के लिये लौकिक उदाहरण के द्वारा उपदेशित करते हुये कहा है कि अत्यन्त महत्वाकांक्षा अथवा किसी वस्तु को प्राप्त कर लेने की अभिलाषा व्यक्ति की उत्सुकता को ही शान्त करती है अर्थात् मनुष्य को जब तक उच्च पद अथवा स्थान प्राप्त नहीं हो जाया करता तब तक वह उसके लिये उत्कण्ठित रहा करता है किन्तु जब वह उसे प्राप्त हो जाता है तो उसका उत्तरदायित्व तथा कार्य का भार उसे उसी प्रकार दुःखी कर दिया करता है जैसे हाथ में लिया हुआ छाता। जैसा कहा है–

> ''औत्सुक्यमात्रमवसाययति प्रतिष्ठा
> क्लिश्नाति लब्धपरिपालनवृत्तिरेनम्।
> नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय,
> राज्यं स्वहस्तधृतदण्डमिवातपत्रम्।।''[3]

कालिदास का कथन है कि किसी भी व्यक्ति को अनावश्यक रूप से उत्तेजित

---

[1] अभिज्ञान शाकुन्तलम्–5/12
[2] अभिज्ञान शाकुन्तलम्–5/24
[3] अभिज्ञान शाकुन्तलम्–5/6

नहीं करना चाहिये, क्योंकि व्यर्थ में की गई उत्तेजना का परिणाम शुभ नहीं होता। जब किसी मनुष्य के स्वाभिमान पर प्रहार होता है तो वह उसकी रक्षा के लिये अपने प्रभाव को प्राप्त कर लेता है। जैसे आग को हिलाने से वह प्रज्ज्वलित हो जाती है और सर्प छेड़े जाने पर फन को फैलाता है उसी प्रकार मनुष्य भी उत्तेजित होने पर प्रतिकार करने को तत्पर हो जाता है। जैसा कि कालिदास ने कहा है–

''ज्वलति चलितेन्धनोऽग्नि र्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते।
प्रायः स्वं महिमानं क्षोभात् प्रतिपद्यते हि जनः।।''[1]

महाकवि भास ने अपने रूपकों में नीतियों का बड़ी सरलता एवं सहजता के साथ विवेचन किया है। इनकी उक्तियों में सजीवता, क्रियाशीलता तथा चरित्र निर्माण की तीक्ष्णता नितान्त मौलिक है। बहुत ही सरल शब्दों में कवि ने कहा है कि धन देना सरल है, प्राण देना भी सरल है तथा अन्य सब वस्तुयें जो सुख देने वाली हैं उनको त्यागना भी सरल है परन्तु न्यास (धरोहर) की रक्षा करना बहुत ही कठिन है–

''सुखमर्थो भवेद् दातुं सुखं प्राणाः सुखं तपः।
सुखमन्यद् भवेत् सर्व दुखं न्यासस्य रक्षणम्।।''[2]

इसी प्रकार कवि की यह नीति भी अत्यन्त सटीक एवं सर्वग्राह्य है कि इस संसार में अच्छे गुणों के अधिकारी और अच्छे कार्यो को करने वाले लोग तो बहुत मिल जाते हैं परन्तु गुणग्राही लोग बहुत ही कम मिलते हैं अर्थात् दूसरों के अच्छे गुणों को ग्रहण करने वाले लोग बड़ी ही मुश्किल से मिलते हैं। जैसा कहा है–

''गुणानां वा विशालानां सत्काराणाञ्च नित्यशः।
कर्तारः सुलभा लोके, विज्ञातारस्तु दुर्लभाः।।''[3]

प्रगाढ प्रेम का परिणाम बहुत ही कठिन होता है, उसे छोड़ पाना अत्यन्त दुष्कर होता है, जब जब उसका स्मरण होता है तो दुःख नया सा हो जाता है, यही संसार का नियम है। किन्तु रोकर मनुष्य उससे मुक्त हो जाता है और दुःख कम हो जाने से मन निर्मल हो जाता है। जैसा कि इसको स्पष्ट करते हुये कहा है–

''दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः
स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम्।
यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह वाष्पं
प्राप्ताऽऽनृण्या याति बुद्धिः प्रसादम्।।''[4]

---

[1] अभिज्ञान शाकुन्तलम् –6/31
[2] स्वप्नवासवदत्तम् – 1/10
[3] स्वप्नवासवदत्तम् – 4/10
[4] स्वप्नवासवदत्तम् – 4/7

लोकाचार की यह मर्यादा है कि मन इस संसार में आँसू बहाकर ऋण से मुक्त हो जाता है और तब मन प्रसन्न हो जाता है। लोक में देखा जाता है कि मृतात्मा के प्रति प्रेम प्रदर्शन करते हुये लोग आँसू बहाते हैं, इससे वे लोग उसके प्रति ऋण से मुक्त हो जाते हैं। वस्तुतः शोक और क्षोभ में लोग रोकर और आँसू बहाकर ही धैर्य धारण करते हैं। यही बात उत्तररामचरित में भी भवभूति ने कही है कि सरोवर में अधिक पानी भर जाने पर नालियों द्वारा उसका पानी निकाल देना ही श्रेयष्कर होता है। उसी प्रकार शोक से क्षुब्ध हृदय रोकर और आँसू बहाकर ही शान्ति को प्राप्त करने में समर्थ हो पाता है-

''पूरोत्पीडे तटाकस्य, परोवाहः प्रतिक्रिया।
शोकक्षोभे च हृदयं, प्रलापैरेव धार्यते।।''[1]

अभिप्राय यह है कि अत्यन्त दुःख की अवस्था में रोकर दुःख को शान्त कर लेना ही नीति है। ऐसा करने पर मनुष्य में धैर्य धारण करने की शक्ति पैदा हो जाती है। इस संसार में काल की गति अबाध है। मृत्यु के समय कोई भी व्यक्ति उस व्यक्ति की रक्षा करने में उसी प्रकार समर्थ नहीं हो सकता जिस प्रकार रस्सी के टूट जाने पर नीचे गिरने से घड़े को कोई नहीं रोक सकता। यह संसार का नियम है कि जो उत्पन्न होता है वह मृत्यु को भी अवश्य प्राप्त करता है। जैसा कहा है-

''कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति।
एवं लोकस्तुल्येधर्मो वनानां काले काले छिद्यते रूह्यते च।।''[2]

उक्त कथन की पुष्टि श्रीमद्भगवद्गीता से भी हो जाती है। जहाँ श्रीकृष्ण भगवान ने स्पष्ट कहा है-

''जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।''[3]

इस प्रकार जब यह नियम अटल है कि मृत्यु अवश्यम्भावी है तो उसके लिये प्रसन्न होना और रोना दोनों अनावश्यक है। परन्तु यह लोकाचार है कि जन्म होने पर लोग प्रसन्न होते हैं और मृत्यु होने पर रोते हैं।

'आश्चर्य चूड़ामणि' में महाकवि शक्तिभद्र ने कहा है कि जिसकी शोभा स्वाभाविक

---

1 उत्तररामचरितम्-3/29
2 स्वप्नवासवदत्तम्-6/10
3 श्रीमद्भगवद्गीता-2/27

होती है उसे सँवारने की आवश्यकता नहीं होती। जैसे चन्द्रमा को किसने संवारा और कौस्तुभ मणि को किसने रञ्जित किया। ये स्वभाव से ही शोभायुक्त होते हैं। कवि का मन्तव्य है कि जो सुन्दर होता है वह स्वभाव से ही संस्कारयुक्त होता है, उसे वाह्य सौन्दर्य साधनों की आवश्यकता नहीं होती–

"यस्य नैसर्गिकी शोभा तन्न संस्कारमर्हति।
कः कला शशिनो मार्ष्टि कौस्तुभः केन रज्यते।।"[1]

कालिदास ने भी इसी मन्तव्य को प्रकट करते हुये कहा है–

"किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।।"[2]

संस्कृत साहित्य के रूपकारो में महाकवि भवभूति का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने मनुष्य की प्रवृत्तियों का बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण किया है। भवभूति सुखमय पारिवारिक जीवन के चित्रण में अत्यन्त निपुण हैं। इन्होंने मानव जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण करते हुये उसका वर्णन बड़ी सूक्ष्मता के साथ किया है। इनकी अभिव्यक्ति बहुत ही सजीव है। वस्तुतः ये मानव विज्ञान कि सूक्ष्म पारखी हैं, अतएव इनकी शैली नीतिपूर्ण वाक्यों से परिपूर्ण है। जैसे बड़ी ही सूक्ष्मता और स्पष्टता के साथ कहा है कि गुरु किसी भी छात्र के साथ पक्षपात नहीं करता। वह बुद्धिमान और मूर्ख दोनों को समान रूप से विद्या दान करता है। वह न तो किसी की विद्या को बढ़ाता है और न किसी की विद्या को घटाता है, परन्तु ऐसा होने पर भी परिणाम में अन्तर इसलिये होता है कि जिसका मन व बुद्धि निर्मल होती है वही ग्रहण करने में समर्थ होता है, जिस प्रकार निर्मल मणि ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होती है मिट्टी आदि नहीं। इस प्रकार गुरु और शिष्य का कोई दोष नहीं होता, क्योंकि बुद्धि अपने कर्मो के अनुसार भिन्न–भिन्न हुआ करती है। जैसा कहा है–

"वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां तथैव तथा जडे
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।
भवति ही पुनर्भूयान् भेदः फलं प्रति, तद्यथा
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः।।"[3]

महाकवि माघ ने भी शिशुपालवध में इसी प्रकार का वर्णन करते हुये कहा है–

---

[1] आश्चर्य चूड़ामणि–3/24
[2] अभिज्ञान शाकुन्तलम्–1/17
[3] उत्तररामचरितम्–2/4

"फलद्भिरूष्णांशुकरभिमर्शात्कार्शानवं धाम पतड्गकान्तैः।
शशंस यः पात्रगुणाद्गुणानां संक्रान्तिमाक्रान्तगुणातिरेकाम्।।"[1]

भवभूति ने बहुत ही सूक्ष्मता के साथ अध्ययन करके कहा है कि जो महान लोग होते हैं उनके मन की बात कोई नहीं जान सकता। वे कभी वज्र से भी अधिक कठोर हो जाते हैं और कभी फूल से भी अधिक कोमल हो जाते हैं। अतः लोकोत्तर महापुरूषों के सम्बन्ध में कभी असंगत बात नहीं सोचनी चाहिये-

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।।"[2]

मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में भवभूति का कहना है कि मनुष्यों में अजस्र गति से बहने वाले सम्बन्धी जनों के वियोग से उत्पन्न हुआ दुःख प्रियजन को देखने पर असह्य होकर हजारों प्रवाहों में बहने लगता है-

"संतानवाहीन्यपि मानुषाणां
दुःखानि संबन्धिवियोगजानि।
दृष्टे जने प्रेयसि दुःसहानि
स्रोतःसहस्रैरिव संप्लवन्ते।।"[3]

अभिप्राय यह है कि सम्बन्धियों के वियोग से उत्पन्न दुःख निरन्तर रोते रहने पर भी समाप्त नहीं होता अपितु अपने किसी हितैषी को देखते ही वह तीव्र वेग से और बढ़ जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य का सजीव विश्लेषण है और मानव की सहज प्रवृत्ति का इससे पता चलता है कि प्रियजन का वियोग कितना असह्य होता है।

कवि की यह शाश्वत सत्य नीति अत्यन्त ही सटीक है कि अपने प्रिय का निरन्तर ध्यान करते रहने पर उसकी मूर्ति आँखों के सामने आ ही जाती हैं, इस प्रकार प्रियजन प्रवास में भी सांत्वना मिल जाती है। परन्तु स्त्री की मृत्यु हो जाने पर सम्पूर्ण संसार अरण्य के समान लगने लगता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य का मन भूसे में लगी हुई आग के समान सुलगता रहता है। प्रिया (स्त्री) के बिना जीवन में सुख-शान्ति नहीं अपितु चिन्ता तथा शोक का अथाह सागर भर जाता है। जैसा कहा है-

"चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः
प्रवासे चाश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च कलत्रे ह्युपरते
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव्।।"[4]

---

[1] शिशुपालवध-4/16
[2] उत्तररामचरितम्-2/7
[3] उत्तररामचरितम्- 4/8
[4] उत्तररामचरितम्-6/38

महाकवि की यह उक्ति आज भी लोक में देखने को मिलती है, इससे इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि कवि का कथन कितना सटीक है।

प्रेम की अतीव सुन्दर एवं सहज परिभाषा करते हुये कवि ने कहा है कि प्रेम किन्हीं बाहरी कारणों पर आश्रित नहीं होता वह तो किसी अनिर्वचनीय कारण से अन्तरात्मा को सिक्त करता रहता है। कोई अनिर्वचनीय अज्ञात कारण ही प्राणियों के अन्तस्तत्वों को जोड़ता रहता है। जैसे सहस्रों चन्द्रमा उदित होकर भी कमल पुष्पों को विकसित नहीं कर सकते और सहस्रों सूर्य भी उदित होकर चन्द्रकान्त मणि को पिघला नहीं सकते। कमल का आन्तरिक प्रेम सूर्य के प्रति और चन्द्रकान्त मणि का चन्द्रमा के प्रति होता है। उसी प्रकार किसी अनिर्वचनीय कारण से ही प्राणियों का हृदय एक दूसरे के प्रति आकर्षित होता है। जैसा कहा है-

''व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरूपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसित हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः।।''[1]

भवभूति के इस कथन का समर्थन श्री रूपगोस्वामी रचित विदग्धमाधव के इस श्लोक से भी हो जाता है। जहाँ कहा गया है-

''जगति किल विचित्रे कुत्रचिन्निश्चलात्मा
भवति निरभिसंधिः कस्यचित्प्रेमबन्धः।
विलसति समुदीर्णे कुम्भजे खञ्जनाली
कलितवति तथास्तं हन्त नाशं प्रयाति।।''[2]

अर्थात् इस विलक्षण संसार में कहीं पर दृढ़ स्वरूप वाला किसी के प्रेम का बन्ध बिना किसी उपाधि के ही होता है। किसी के प्रति किसी के प्रेमोदय में किन्ही बाहरी कारणों का योगदान नहीं होता अपितु आन्तरिक कारण विशेष से ही स्वाभाविक प्रेम की निष्पत्ति होती है। जैसे अगस्त नक्षत्र के उदय होने पर खंजन पक्षियों की पंक्ति दिखायी पड़ती है और उसके अस्ते हो जाने पर खंजन पक्षियों की पंक्ति विलुप्त हो जाती है। महाकवि भवभूति ने सामान्य व्यवहार के प्रति लोगों को सचेत करते हुये कहा है कि दुष्टों पर ध्यान न देते हुए अपना कार्य व्यवहार करते रहना चाहिये, क्योंकि दुष्ट व्यक्ति जैसे स्त्रियों के चरित्र के विषय में शंका करता रहता है उसी प्रकार निर्दोष जनों के विषय में

---

[1] उत्तररामचरितम्-6/12
[2] विदग्धमाधव -5/3

भी दोष निकालने की चेष्टा किया करता है, यह उसका स्वभाव ही होता है। इसलिये सज्जन पुरूषों को उनकी परवाह न करते हुये अपना कार्य करते रहना चाहिये–

"सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचा साधुत्वे दुर्जनो जनः।।"[1]

कवि का कथन है कि प्रिय व्यक्ति प्रेमी के लिये कोई अनिर्वचनीय पदार्थ होता है, चाहे प्रिय व्यक्ति प्रेमी के लिये कुछ भी न करे तब भी वह उसके लिये अमूल्य निधि के समान होता है। क्योंकि उसके स्मरण मात्र से ही प्रेमी का दुःख दूर हो जाता है। जैसा कहा है–

"न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं या हि यस्य प्रियो जनः।।"[2]

कवि ने कहा है कि जो स्नेह या प्रेम बिना किसी कारण के होता है उसको किसी भी प्रकार रोका नहीं जा सकता। वह दैव प्रेरित एवं तर्क से परे होता है। वह स्नेहात्मक सूत्र प्राणियों के हृदयों को उसी प्रकार मिलाये रखता है जिस प्रकार भिन्न–भिन्न तन्तु मिलकर वस्त्र तैयार कर देते हैं। वैसे ही यह संसार भी स्नेह रूपी तन्तुओं से एक दूसरे से बँधा रहता है–

"अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्भूतानि सीव्यति।।"[3]

मधुर वाणी की प्रशंसा करते हुये कवि ने कहा है कि यह मनुष्यों की कामनाओं की पूर्ति करती है और उसे लक्ष्मी अर्थात् धन–धान्य की प्राप्ति कराती है तथा दुर्भाग्य को दूर करती है, यश को उत्पन्न करती है एवं शत्रुओं को नष्ट करती है। अतः विद्वान लोग पवित्र, शान्त और सौभाग्य को उत्पन्न करने वाली सत्य और प्रिय लगने वाली वाणी को कामधेनु कहते हैं। जैसा कहा है–

"कामं दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं
कीर्तिं सूते दुर्हृदो निष्प्रलाति।
शुद्धां शान्तां मातरं मङ्गलानां
धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः।।"[4]

अभिप्राय यह है कि इस संसार में मधुर वाणी के द्वारा मनुष्य अपनी उन्नति के सभी साधन प्राप्त कर सकता है। क्योंकि मधुर वाणी औषधि के समान होती है जो मनुष्य को आत्मोन्नति के मार्ग पर ले जाती है। यही कारण है कि विद्वान एवं सज्जन मनुष्य सदैव मधुर वाणी का ही प्रयोग करते हैं और अपने जीवन पथ को निर्विघ्न बनाकर सामाजिक रीतियों का पालन करते हुये जीवन निर्वाह करते हैं। श्री रूप गोस्वामी ने सहज प्रेम को स्पष्ट करते हुये कहा है कि जो सहज प्रेम होता है उसमें स्तुति और निन्दा पर ध्यान नहीं दिया जाता। सहज प्रेम में दोष और गुण की अपेक्षा किये बिना ही प्रेम का परस्पर निर्वाह होता है। उसमे दोष के कारण कमी और गुण के कारण वृद्धि नहीं होती, इसके विपरीत सकारण प्रेम में दोष से प्रेम का क्षय एवं गुण से गुरूता आती है-

"स्तोत्रं यत्र तटस्थतां प्रकटयच्चित्तस्य धत्ते व्यथां
निन्दापि प्रमदं प्रयच्छति परीहासश्रियं बिभ्रती।
दोषेण क्षयितां गुणेनगुरूतां केनाप्यनातन्वती
प्रेम्णः स्वारसिकस्य कस्यचिदियं विक्रीडति प्रक्रिया।।"[1]

महाकवि भारवि के नीति वचन 'भवन्ति भव्वेषु हि पक्षपातः' के आधार श्री रूपगोस्वामी ने भी यही नीतिपरक उपदेश लोगों को दिया है कि उत्तम पुरूषों का स्नेह किसी विशेष प्रभाव के कारण ही होता है। जिस प्रकार कृष्ण मृग का स्वाभाविक संचार उस स्थान के महत्व को सूचित कर देता है उसी प्रकार श्रेष्ठ पुरूषों की किसी के प्रति स्वाभाविक अनुराग की प्रवृत्ति उस व्यक्ति के महत्व को प्रकट कर देती है-

"यत्र प्रकृत्या रतिरूत्तमानां तत्रानुमेयः परमोऽनुभावः
नैसर्गिकी कृष्णमृगानुवृत्तिर्देशस्य हि ज्ञापयति प्रशस्तिम्।।"[2]

इसका कारण यह है कि अलौकिक गुण सम्पत्ति अत्यन्त गुप्त वस्तु को भी प्रकट कर देती है। जैसे ढकी हुई कस्तूरी की गन्ध कस्तूरी को व्यक्त कर देती है-

"लोकोत्तरा गुणश्रीः प्रथयति परितो निगूढ़मपि वस्तु।
पिहितामपि प्रयत्नाद् व्यनक्ति कस्तूरिकां गन्धः।।"[3]

अभिप्राय यह है कि सुन्दर वस्तु छिपाने से भी नहीं छिपती।

संस्कृत साहित्य में हनुमन्नाटक अतीव प्रसिद्ध है। विद्वानों के मध्य इस नाटक को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस नाटक का सर्वप्रिय होने का कारण यही है कि इस नाटक

में सभी रसों का परिपाक हुआ है। नीतियों का भी सम्यक प्रकार से इसमें वर्णन किया गया है। सज्जनों के प्रति उत्तम नीतिवचन का प्रणयन करते हुये कहा गया है कि जहाँ सत्पुरूषों का आदर नहीं होता तो वह उनके लिये मरण के समान ही होता है। अतः इससे बचने के लिये उन्हें कहीं दूर चले जाना चाहिये। यह उक्ति राम ने सीता के सौन्दर्य को देखकर कही है–

"अरण्यं सारङ्गैगिरिकुहरगर्भाश्च हरिभि
र्दिशो दिङ्मातङ्गैः श्रितमपि वनं पंकजवनैः।
प्रियाचक्षुर्मध्यस्तनवदनसौन्दर्यविजितैः
सतां माने म्लाने मरणमथवा दूरसरणम्।।"[1]

नाटककार की यह नीति है कि महान लोगो को कार्यो में सफलता उनके साहस और उत्साह से मिलती है, उपकरणों से नहीं। लंका प्रस्थान करते समय राम की सेना को देखकर मार्ग में रहने वाली भीलों की कन्याओं ने हँसते हुये कहा कि इनके पास न तो कोई अस्त्र है न कोई शस्त्र, न घोड़े, न हाथी, न रथ और न ही ठहरने के लिये वितान (तम्बू) है, तो ये युद्ध कैसे करेंगे। तब उनकी माता उन्हें समझाते हुये कहती है कि ये लंका को जीतेंगे, समुद्र को पार करेंगे और शत्रुओं की सेना का विध्वंस करेंगे, क्योकि विजय तो साहस और उत्साह से मिला करती है, उपकरणों से नहीं। जैसा कहा है–

"विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि
र्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः।
तथाप्येको रामः सकलमपि हन्ति प्रतिबलं
क्रिया सिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे।।"[2]

अभिप्राय यह है कि मनुष्य को अपने कार्य की पूर्ति के लिये साधनों की नहीं अपितु साहस और उत्साह की आवश्यकता होती हैं, इनके बिना साधन रहते हुये भी मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ होता है। साहस और उत्साह होने पर साधन स्वयं पुरूषार्थी के पास आ जाते है। भारवि ने भी यही मन्तव्य प्रकट किया है–

"यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवार्त्तितुं वा।
निरूत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः।।"[3]

इसी क्रम में आगे भी कहा है कि विद्वानों का मन्त्री बुद्धि होती है और कामियों

---

1 हनुमन्नाटक 2/23
2 हनुमन्नाटक– 7/7

का मन्त्री रति होती है और जो केवल अपने पराक्रम पर भरोसा रखने वाले स्वाभिमानी होते हैं उनका मंत्री उनकी तलवार होती है। यहाँ पर भी साहस और उत्साह की ओर ही संकेत किया गया है–

"मतिर्विपश्चितां मन्त्री रतिर्मन्त्री विलासिनाम्।
पराक्रमैकसाराणां मानिनां त्वसिवल्लरी।।"[1]

'हनुमन्नाटक' में छोटी–छोटी परन्तु गूढ़ नीतियों को बड़े ही सहज ढंग से प्रस्तुत किया गया है। जैसे कहा है कि मधुर वाणी सबको अच्छी लगती है किन्तु जब विपत्ति आती है तो इन मधुर वचनों से दु.ख दूर नहीं होते–

"राजन्मुखसुखा वाचो मधुराः कस्य न प्रियाः।
तव क्षोदक्षमाः किन्तु नैता व्यसनसंगमे।।"[2]

इसी नीति में आगे भी कहा है कि मधुर बाते राजभवनों में ही अच्छी लगती है। किन्तु ऐश्वर्य की रक्षा करने में नीतिपूर्ण कर्कश वाणी ही समर्थ होती है अर्थात् कठोर निर्णय ही ऐश्वर्य को चिरस्थायी रखने में समर्थ होते है, मधुर वचन नहीं–

"प्रिया वा मधुरा वाक् च हर्म्येष्वेव विराजते।
श्रीरक्षणे प्रमाणं तु वाचः सुनयकर्कशाः।।"[3]

मधुर वाणी बोलने वाले केवल ऐश्वर्य, भोजन और दान के समय ही साथ देने वाले होते हैं, विपत्ति आने पर मधुरभाषी दूर चले जाते है, केवल सज्जन लोग ही साथ देते हैं। जैसा कहा है–

"विभवे भोजने दाने तिष्ठन्ति प्रियवादिनः।
विपत्तौ चागतेऽन्यत्र दृश्यन्ते खलु साधवः।।"[4]

राजनीतिक नीति व्यक्त करते हुये कहा गया है कि जो मंत्री मिथ्या प्रशंसा करने वाले होते हैं और विपत्ति के समय राजा को उचित मार्ग दर्शन नहीं देते तो भला ऐसे मन्त्रियों से उद्धार कैसे हो सकता है–

"यैरेव स्तुतिभिः स्वामी प्राप्यते व्यसनाटवीम्।
पश्चान्मूकत्वमापन्नैरुद्धर्तुं शक्यते कथम्।।"[5]

---

1 हनुमन्नाटक 9/13
2 हनुमन्नाटक– 9/14
3 हनुमन्नाटक– 9/15,
4 हनुमन्नाटक– 9/16
5 हनुमन्नाटक– 9/18

शाश्वत नीति व्यक्त करते हुये कहा गया है कि दुष्टो की मित्रता, धन-सम्पत्ति, शत्रुओं का भाग्य और ललनाओं का जीवन चिरस्थायी नहीं होता। अर्थात् इन पर कभी भरोसा नहीं किया जा सकता-

"नद्यश्च खलमैत्री च लक्ष्मीश्च नियतिर्द्विषाम्।
सुकुमाराश्च वनिता राजन्नस्थिरयौवनाः।।"[1]

कवि का कथन है कि कभी-कभी दुष्ट दुष्टता करता है और उसका फज सज्जनों को भोगना पड़ता है। जैसे सीता का हरण रावण ने किया और बेचारा बाँधा गया समुद्र जैसा कहा है-

"खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं पतति साधुषु।
दशाननोऽहरत्सीतां बन्धनं स्यान्महोदधे।।"[2]

समाज के लोगों को शिक्षा देते हुये कवि ने कहा है कि जिस धन-सम्पत्ति को देखकर शत्रुओं के दिलों में खलबली न मच जाये और कुटुम्बी जनों ने जिसका उपभोग न किया हो, ऐसी सम्पत्ति से क्या लाभ। अभिप्राय यह है कि जिस धन सम्पत्ति का कोई प्रयोजन न हो तो ऐसी सम्पत्ति के रहने और न रहने का क्या अर्थ। क्योंकि धन का तो कार्य ही सभी प्रयोजनों को सिद्ध करने वाला होता है-

"किं तया क्रियते वीर कालान्तरगतश्रिया।
अरयो यां न पश्यन्ति बन्धुभिर्वा न भुज्यते।।"[3]

भर्तृहरि ने भी धन की तीन गतियों का उल्लेख करते हुये इसी नीति को समर्थित करते हुये कहा है-

"दानं भोगोनाशस्तिस्त्रे गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।।"[4]

संस्कृत साहित्य के रूपकों की परम्परा में महाकवि शूद्रक का 'मृच्छकटिक' समस्त रूपको में अपना प्रमुख स्थान रखता है। संस्कृत साहित्य में जितने भी रूपक हैं उन सभी में सामान्य जनों की दृष्टि में रखकर ही निबन्धन नहीं किया गया है परन्तु यह रूपक सामान्य जनों से ही सम्बन्धित होने के कारण अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस

---

1 हनुमन्नाटक- 9/19
2 हनुमन्नाटक- 13/13
3 हनुमन्नाटक- 13/15
4 नीतिशतक-श्लोक 44

रूपक में सामान्य जनों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण नाटककार ने बड़े ही मनोयोग से किया है। नाट्य शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार यह प्रकरण के अन्तर्गत आता है। इस प्रकरण में तत्कालीन अवस्था का प्रत्यक्षतः वर्णन किया गया है। जैसे कि उस काल में भी सभी ब्राह्मण विद्वान नहीं होते थे, चोर और दुष्कर्मी भी होते थे, जैसे शर्विलक। ब्राह्मण व्यापार भी करते थे। दुष्टों का व्यापक प्रभाव था। परन्तु उस समय देश की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। इस प्रकार यह रूपक अपने सामान्य घटनाक्रमों के लिये अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसी क्रम में कवि ने अनेक प्रकार के उपदेशात्मक नीति वाक्यों के द्वारा लोगों को उपदेशित करने का सफल प्रयास किया है। सांसारिक सुख और दुःखों का वर्णन करते हुये कवि ने कहा है कि पुत्रहीन मनुष्य का घर शून्य होता है। जिसका कोई हार्दिक मित्र नहीं होता उसका भी जीवन दु.खमय होता है। मूर्खों के लिये सभी दिशाये शून्य हैं और दरिद्र के लिये सभी कुछ शून्य है अर्थात् दरिद्रता मनुष्य को जीवन पर्यन्त दुःख ही देती रहती है तथा दरिद्र मनुष्य का कहीं सम्मान नहीं होता–

"शून्यमपुत्रस्य गृहं, चिरशून्यं नास्ति यस्य सन्मित्रम्।
मूर्खस्य दिशः शून्याः सर्व शून्यं दरिद्रस्य।।"[1]

मनुष्य जीवन के उतार चढ़ाव को बड़ी सूक्ष्मता के साथ कवि ने विश्लेषित करते हुये कहा है कि मानव जीवन में सुख और दुःख दोनो आते रहते हैं। दुःख के अनन्तर जब सुख की प्राप्ति होती है तो मनुष्य को अत्यन्त प्रसन्नता होती है और जो मनुष्य सुख भोग लेने के अनन्तर निर्धन हो जाता है, वह शरीरधारी होते हुये भी मृतक के समान जीवित रहता है। कवि की यह उक्ति मानव जीवन में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। जैसा कहा है–

"सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरणे मृतः स जीवति।।"[2]

महाकवि कालिदास ने भी विक्रमोर्वशीयम् में यही कहा है–

"यदेवोपनतं दुःखात्सुखं तद्रसवत्तरम्।
निर्वाणाय तरूच्छोया तप्तस्य हि विशेषतः।।"[3]

इसी सन्दर्भ में कवि कहता है कि दरिद्रता और मृत्यु इन दोनो में मृत्यु ही श्रेष्ठ है, निर्धनता नहीं। क्योंकि मृत्यु में तो थोड़ी देर के लिये ही कष्ट होता है परन्तु निर्धनता तो जीवन पर्यन्त कष्ट देती रहती है–

---

1 मृच्छकटिक– 1/8
2 मृच्छकटिक –श्लोक 1/10

"दारिद्रयान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दरिद्रयम्।
मरणं दारिद्रयमनन्तकं दुःखम्।।"[1]

निर्धनता के सम्बन्ध में कवि और भी कहता है कि निर्धनता सभी दुःखों का मूल हुआ करती है। निर्धनता से लज्जा आती है और लज्जित मनुष्य तेजहीन हो जाता है तथा तेजहीन व्यक्ति का सर्वत्र तिरस्कार होता है। तिरस्कृत होने पर मनुष्य ग्लानि से भर जाता है और बुद्धिहीन मनुष्य की सर्वनाश की अवस्था आ जाती है। अतः दरिद्रता सभी आपत्तियों का मूल कारण होती है। जैसा कहा है-

"दरिद्रयाद्धियमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते, परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकपिहितो बुद्धया परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निर्धनता सर्वापदामास्पदम्।।"[2]

निर्धनता को और व्याख्यायित करते हुये कहा है कि निर्धनता ही चिन्ता का घर है, शत्रुओं से अपमान का कारण है, एक प्रकार से दूसरा शत्रु है। निर्धन मनुष्य मित्रों के मध्य घृणा का पात्र तथा स्वजनो के बैर का कारण होता है। यहाँ तक कि उसे स्त्री का अपमान भी सहन करना पड़ता है। और कहाँ तक कहा जाय कि हृदय में स्थित यह शोक की अग्नि एक बार में ही नही जलाती अपितु घुट-घुट कर मारती रहती है। जैसा कि स्पष्ट किया है-

"निवासश्चिन्तायाः परपरिभवो वैरमपरं
जुगुप्सा मित्राणां स्वजनजनविद्वेषकरणम्।
वनं गन्तुं बुद्धिर्भवति च कलत्रात् परिभवो
हृदिस्थः शोकाग्निर्न च दहति सन्तापयति च।।"[3]

दरिद्रता को समाज किस प्रकार देखता है और इससे मनुष्य के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है इसकी विवेचना करने हुये कवि कहता है कि दरिद्रता के कारण लोगों के बन्धु बान्धव भी उससे बात नहीं करते और अभिन्न मित्र भी विमुख हो जाते हैं। निर्धन व्यक्ति के सामने विपत्तियों का अपार भण्डार लग जाता है और इसकी शक्ति क्षीण हो जाती है तथा शील रूपी चन्द्रमा की दीप्ति मलिन हो जाती है। यहाँ तक की जो अपराध और दुष्कर्म दूसरे लोग करते हैं उसका दोष भी दरिद्र पर ही लगा दिया जाता है। जैसा कहा है।

---

1. मृच्छकटिक- 1/11
2. मृच्छकटिक- 1/14

"दारिद्रयात् पुरूषस्य बान्धवजनो वाक्ये न सन्तिष्ठते
सुस्निग्धा विमुखीभवन्ति सुहृदः, स्फारीभवन्त्यापदः।
सत्त्तं ह्रासमुपैति, शीलशशिनः कान्तिः परिम्लायते
पापं कर्म च यत् परैरपि कृतं तत्तस्य सम्भाव्यते।।"[1]

निर्धनता के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा है कि निर्धन व्यक्ति को कोई भी साथ नहीं रखता और न ही सम्मानपूर्वक उससे कोई बात करता है। यदि किसी उत्सव आदि के समय पर निर्धन व्यक्ति किसी धनवान के घर पहुँच जाता है तो वहाँ पर भी वह असम्मान की दृष्टि से देखा जाता है और धनिकों के द्वारा उसे बहिष्कृत कर दिया जाता है। अतः यदि दरिद्रता को पाँच महापातकों के अतिरिक्त छठा महापातक कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी-

"सङ्गं नैव हि कश्चिदस्य कुरूते, सम्भामाषते नादरात्
सम्प्राप्तो गृहमुत्सवेषु धनिनां सावज्ञमालोक्यते।
दूरोदेव महाजनस्य विहरत्यल्पच्छदो लज्जया
मन्ये निर्धनता प्रकाममपरं षष्ठं महोपातकं।।"[2]

उक्त वचनों के द्वारा कवि ने दरिद्रता के दोषों को दिखलाते हुये यही उपदेश देने का प्रयास किया है कि निर्धनता को दूर करने के लिये मनुष्य को सदैव उद्योगशील रहना चाहिये। उद्योग और साहस से ही दरिद्रता का नाश किया जा सकता है। विष्णु शर्मा ने भी यही कहा है-

"उद्योगिनं पुरूषसिंहमुतैपि लक्ष्मी-
दैंवं हि दैवमिति कपुरूषा वदन्ति।
दैव निहत्य कुरू पौरूषमात्मशकत्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः।।"[3]

दैवेवशात् मनुष्य की भाग्यहीनता जब आने लगती है तो उसके मित्र भी शत्रु हो जाते हैं। यहाँ तक कि चिरकाल से जो मित्र बन्धु उसके ऊपर अनुरक्त रहा करते हैं, वे भी विरक्त हो जाते हैं। जैसा कहा है-

"यदा तु भाग्यक्षयपीडितां दशां नरः कृतान्तोपहितां प्रपद्यते।
तदाऽस्य मित्राण्यपि यान्त्यमित्रतां चिरानुरक्तोऽपि विरज्यते जनः।।"[4]

कवि ने सभी मनुष्यों के हितार्थ यह नीति कही है कि यदि किसी सेवक का स्वामी निर्धन अवस्था में पहुँच जाता है तो भी सेवक को उसकी सेवा करते रहना चाहिये,

---

[1]. मृच्छकटिक- 1/36
[2] मृच्छकटिक- 1/37

क्योंकि सेवक को ऐसे निर्धन स्वामी की सेवा करनें में भी सुखानुभूति होती है। परन्तु दुष्ट धनिक की सेवा महान दुःखदायी होती है। जैसा कहा है-

"सुजनः खलु भृत्यानुकम्पकः स्वामी निर्द्धनकोऽपि शोभते।
पिशुनः पुनर्द्रव्यगर्विता दुष्करः खलु परिणामदारूणः।।"[1]

भर्तृहरि ने भी यही कहा है कि धन-धान्य, विद्यादि से अलंकृत होने पर भी दुष्ट व्यक्ति का त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार मणियुक्त होने पर भी सर्प भयंकर होता है उसी प्रकार वह व्यक्ति भी। यथा-

"दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाप्लंकृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः।।"[2]

महाकवि शूद्रक ने अपने अनुभवों को बड़ी सूक्ष्मता एवं स्पष्टता के साथ 'मृच्छकटिक' में नीति वाक्यों का रूप प्रदान किया है। कवि ने कहा है कि मनुष्य के लिये अनेक प्रकार के प्रलोभन होते हैं, विशेष रूप से वेश्याओं का प्रलोभन देखने में बड़ा सुखकर प्रतीत होता है परन्तु उसका परिणाम बहुत दुःखदायी होता है। अतएव कवि ने नीतिपरक उक्ति 'वेश्याः श्मशान कुसुमानिव वर्जनीयाः' के आधार पर लोगों को सचेत करते हुये कहा है कि इस संसार मे धन, रूप, फल देने वाले अच्छे कुल में उत्पन्न होने वाले, सद्वंशरूप महावृक्ष के समान हैं परन्तु वेश्या रूपी पक्षियों के द्वारा समस्त धन भक्षण कर लेने के कारण निष्फल हो जाते हैं-

"इह सर्वस्वफलिनः कुलपुत्रमहाद्रुमाः।
निष्फलत्वमलं यान्ति वेश्याविहगभक्षिताः।।"[3]

वेश्यायें हर प्रकार से नाशकारिणी होती हैं। प्रेम इनका ईधन होता है और सम्भोग इनकी ज्वाला, ये काम रूपी अग्नि के समान होती हैं। जिसमें मनुष्य अपना यौवन तथा धन दोनों की हवन कर बैठते हैं-

"अयंच सुरतज्वालः कामाग्निः प्रणयेन्धनः।
नराणां यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च।।"[4]

कवि आगे कहता है कि स्त्री और सम्पत्ति पर जो विश्वास करते हैं वे मनुष्य

मूर्ख हैं, क्योंकि स्त्री तथा सम्पत्ति सर्पिणी के समान कुटिल चाल चलती हैं, इन पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये–

"अपण्डितास्ते पुरुषा मता मे ये स्त्रीषु च श्रीषु च विश्वसन्ति।
श्रियो हि कुर्वन्ति तथैव नार्य्यो भुजङ्गकन्या परिसर्पणानि।।"[1]

धन किसी का नहीं होता, ईशोपनिषद में भी यही कहा गया है कि 'कस्यस्विदधन' अर्थात्ये धन किसी का नहीं होता है। जिस प्रकार धन चंचल होता है उसी प्रकार वेश्यायें भी चंचल हुआ करती हैं। ये अनुरक्त पुरूष का भी अनादर करती हैं। अतएव कहा है कि वेश्यायें धन प्राप्ति के लिये हँसती हैं, रोती हैं और पुरूषों को विश्वास दिलाती हैं। परन्तु पुरूषों पर विश्वास कभी नहीं करतीं। इसलिये कुलशील सम्पन्न एवं सत्स्वभाव वाले पुरूषों को चाहिये कि वे वेश्याओं को श्मशान के फूल के समान त्याग दें–

"एता हसन्ति च रूदन्ति च वित्तहेतो
विश्वासयन्ति पुरूषं न तु विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्याः श्मशानसुमना इव वर्जनीयाः।।"[2]

वेश्यायें सागर की लहरों के समान चंचल होती हैं और सायंकालीन लालिमा के समान अस्थायी अनुराग वाली होती हैं तथा धन का अपहरण करने में बहुत चतुर होती हैं। ये महावर के समान रस खींचकर मनुष्यों को निर्धन बना देती हैं–

"समुद्रवीचीव चलस्वभावाः सन्ध्याभ्रलेखेव मुहूर्त्तरागाः।
स्त्रियो हृतार्थाः पुरूषं निरर्थं निष्पीडिताक्तकवत् त्यजन्ति।।"[3]

इस प्रकार उक्त नीति वचनों के द्वारा वश्याओं से सतर्क रहने के लिये मृच्छकटिक में उपदेश दिया गया है।

गुणों की प्रशंसा करते हुये मृच्छकटिक में कहा गया है कि मनुष्यों को सदैव गुणों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि गुणी मनुष्य को कोई भी वस्तु अलभ्य नहीं। जैसे अपने गुणों के कारण ही चन्द्रमा भगवान शिव के मस्तक पहुँच गया, जहाँ तक अन्य देवता पहुँचने में समर्थ नहीं। जैसा कहा है–

"गुणेषु यत्नः पुरूषेण कार्य्यो न किञ्चिदप्राप्यतमं गुणानाम्।
गुणप्रकर्षादुडुपे शम्भोरलङ्घयमुल्लङ्घितमुत्तमाङ्गम्।।"[4]

---

[1] मृच्छकटिक– 4/12
[2] मृच्छकटिक– 4/14
[3] मृच्छकटिक– 4/15

मृच्छकटिक एक सामाजिक रूपक है इस कारण निर्धनता सम्बन्धी नीतियाँ इसमें यत्र-तत्र बहुतायत से मिलती हैं। जैसे कहा है कि इस संसार में निर्धन मनुष्य के जीवन से क्या लाभ, क्योंकि असमर्थ होने के कारण उनके क्रोध और प्रसन्नता दोनों निष्फल हो जाते हैं। निर्धन मनुष्य प्रसन्न होकर किसी को न तो कुछ दे सकता है और न ही अप्रसन्न होने पर किसी की कुछ हानि ही कर सकता है। अतः निर्धन व्यक्ति का जीवन बिल्कुल निष्फल होता है। जैसा कहा है-

"धनैर्वियुक्तस्य नरस्य लोके किं जीवितेनादित एव तावत्।
यस्य प्रतीकारनिरर्थकत्वात् कोपप्रसादा विफलीभवन्ति।।"[1]

निर्धन मनुष्य के अन्य दोषों एवं निर्धनता के अन्य दुष्परिणामों की ओर संकेत करते हुये कवि ने और भी कहा है कि निर्धन मनुष्य पंखविहीन पक्षी के समान होता है, उसकी गणना सूखे वृक्ष, जलहीन सरोवर तथा विष एवं दन्तरहित सर्प के समान की जा सकती है अर्थात् निर्धन व्यक्ति सभी प्रकार से निष्फल ही होता है। जैसा कहा है।

"पक्षविकलश्च पक्षी, शुष्कश्च तरूः सरश्च जलहीनम्।
सर्पश्चोद्धृत दंष्ट्रस्तुल्यं लोके दरिद्रश्च।।"[2]

समर्थ पुरूषों के लिये यह नीति कही गई है कि शरण में आये हुये व्यक्ति का परित्याग नहीं करना चाहिये। उसकी रक्षा करना मानव का परम कर्तव्य माना गया है। जो मनुष्य शरणागत का परित्याग करता है विजय लक्ष्मी उसे छोड़ देती है। उसके मित्र भी उसे छोड़ देते हैं तथा उसके बन्धु-बान्धव भी उसका परित्याग कर देते हैं और अन्ततः वह उपहास का पात्र बन जाता है-

"त्यजति किल तं जयश्रीर्जहति च मित्राणि बन्धुवर्गश्च
भवति च सदोपहास्यो यः खलु शरणागतं त्यजति।।"[3]

महाकवि कालिदास नें प्राचीन और नवीन का समन्वय करते हुये कहा है कि मनुष्य को अन्धानुकरण न करते हुये अपने विवेक से कार्य करना चाहिये, क्योंकि पुरानी होने से कोई वस्तु अच्छी नहीं हो जाती और नई होने से कोई वस्तु निन्दनीय नहीं होती। मनुष्य कायह कर्तव्य है कि सद् और असद् का निर्णय अपने विवेक से करे। जिनके पास अपना विवेक नहीं होता वही दूसरों की कही बातों पर विश्वास करते हैं, विवेकशील नहीं-

"पुराणमित्येव न साधु सर्व न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।"[4]

---

[1] मृच्छकटिक - 5/40
[2] मृच्छकटिक - 5/41
[3] मृच्छकटिक - 6/18

सत्पात्र में निहित विद्या सदैव फलवती होती है, कुपात्र में नहीं। जैसे मेघ का जल जब सीपी में गिरता है तो मोती बन जाता है और जब सर्प के मुख में वही जल गिरता है तो विष बन जाता है। अतः सत्पात्र को ही शिक्षा देनी चाहिये तभी उसकी सार्थकता बनी रह सकती है अन्यथा कुपात्र को दी गई विद्या सर्प के विष के समान ही हो जाती है। जैसा कहा है–

"पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।।"[1]

शासन की दृष्टि से तथा सामाजिक दृष्टि से भी यह तथ्य एकदम सत्य है कि नये शत्रु को शीघ्र ही समाप्त किया जा सकता है, क्योंकि उसकी स्थिति दृढ़ एवं मजबूत नहीं होती, वह तो उस पौधे के समान होता है जिसने अभी अपनी जड़ों को भी स्थिरता न प्रदान की हो। अतः उसे सरलता से नष्ट किया जा सकता है और ऐसा करना ही नीतिगत एवं श्रेयष्कर भी होता है। जैसा कहा है–

"अचिराधिष्ठितराज्यः शत्रुः प्रकृतिष्वरूढमूलत्वात्।
नवसंरोपणशिथिलस्तरूरिव सुकरः समुद्धर्तुम्।।"[2]

इस लौकिक जगत में कोई भी कठिन कार्य एकाकी नहीं हो पाता, ऐसे समय में सहायता करने वाला कोई उचित तथा उत्साही व्यक्ति मिल जाये तो कार्य के सफल होने में विलम्ब नहीं होता। सहायक के बिना कार्य सम्पन्न होना असम्भव नहीं हो तो कठिन अवश्य हो जाता है। जैसे आँख होते हुये भी अन्धकार में बिना प्रकाश के कार्य करने में कठिनाई होती है परन्तु जब कोई दीपक की सहयता ले लेता है तो वह कार्य सरल हो जाता है–

"अर्थ सप्रतिबन्धं प्रभुरधिगन्तुं सहायवानेव।
दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि।।"[3]

बड़े लोगों अर्थात् श्रेष्ठजनों के सम्पर्क में आने पर छोटे भी उन्नति को प्राप्त कर लेते हैं। जैसे निर्मली के संसर्ग से दूषित जल भी स्वच्छ हो जाता है। जैसा कि कालिदास ने स्पष्ट करते हुये कहा है–

"मन्दोऽप्यमन्दतामेति संसर्गेण विपश्चितः।
पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः।।"[4]

विशाखदत्त रचित 'मुद्राराक्षस' नाटक विशुद्ध रूप से कूटनीतिक राजनीति को आधार मानकर लिखा गया है। संस्कृत साहित्य के समस्त रूपकों में यह ऐसा एकमात्र अद्वितीय नाटक है। क्योंकि विशुद्ध राजनीति के आधार पर लिखा गया अन्य कोई नाटक दृष्टिगोचर नहीं होता। इस कारण इसमें कूटनीतिक राजनीति के ही दर्शन विशेष रूप से होते हैं, फिर भी चूँकि रूपक सर्वजनहिताय की दृष्टि से लिखे जाते हैं और उनसे सामाजिकों को शिक्षा प्रदान की जाती है इस दृष्टि से जब हम मुद्राराक्षस पर विचार करते हैं तो यत्र-तत्रनीति रत्न मिल ही जाते हैं। जैसे कि सेवक के सम्बन्ध में अतीव सुन्दर नीति बतलाते हुये कहा है कि जो सेवक बुद्धि, पराक्रम और भक्ति से परिपूर्ण होते हैं वही अपने स्वामी का कार्य सम्पादन करने में सफल होते हैं। गुणों से शून्य भृत्य ऐश्वर्य के समय और आपत्ति के समय स्त्री के समान पोष्य होते हैं। क्योंकि इस प्रकार के भृत्यों से किसी प्रकार की कार्यसिद्धि नहीं होती। जैसा कहा है-

"अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद्भक्तियुक्तेन कः
ज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत्किं भक्तिहीनात्फलम्।
प्राज्ञाविक्रमभक्तयः समुदि ता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च।।"[1]

इसके द्वारा यह नीति प्रदर्शित की गई है कि मनुष्य को गुणयुक्त सेवक या सहायक रखना चाहिये तभी उसे अपने कार्यो में सफलता मिल सकती है।

'अंगीकृतं सुकृतिना परिपालयन्ती' यह नीति वचन संस्कृत साहित्य में अतीव प्रसिद्ध है। इसी परिप्रेक्ष्य में विशाखादत्त ने भी कहा है कि शेषनाग को पृथ्वी का भार धारण करने से क्या पीड़ा नहीं होती, अवश्य होती है परन्तु वह पृथ्वी को अपने ऊपर से नहीं हटाता। इसी प्रकार सूर्य को भी चमकने से थकान अवश्य प्रतीत होती होगी परन्तु वह गतिशून्य होकर स्थिर नहीं हो जाता अपितु अपनी रश्मियों से विश्व कल्याण में लगा रहता है। इस प्रकार महान व्यक्ति स्वीकार किये हुये कार्य को कायर व्यक्ति के समान मध्य में छोड़कर लोगों में लज्जा का पात्र बनना स्वीकार नहीं करते बल्कि स्वीकृत कार्य को लक्ष्य तक पहुँचाने के लिये ही प्रयत्नरत रहते हैं। यही सज्जनों का कुल धर्म है। जैसा कि मुद्राराक्षस में कहा है-

"किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि क्ष्मां न क्षिपत्येष यत्,
किं वा नास्ति परिश्रमो दिनपतेरास्ते न यन्निश्चलः।
किं त्वङ्गोकृतमुत्सृजन्कृपणवच्छ्लाघ्यो जनो लज्जते,
निर्व्यूढं प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम्।।"[2]

संस्कृत रूपकों की परम्परा में महाकवि भास के रूपक सर्वप्राचीन माने जाते हैं। कवि ने तेरह नाटकों का प्रणयन किया है, जिनकी कथावस्तु प्राचीन कथानकों पर आधारित है, जिनमें सामाजिक एवं राजनीतिक नीतियों का सूक्ष्म विश्लेषण मिलता है। जैसे 'दूतवाक्यम्' में राजनीति से सम्बन्धित नीति 'वीरभोग्या वसुन्धरा' को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि राज्य शासन अशक्तों का कार्य नहीं, ये माँगने से नहीं मिलता अपितु पराक्रम से इसे प्राप्त किया जाता है-

"राज्यं नाम नृपात्मजैः सहृदयैर्जित्वा रिपून भुज्यते।
तल्लोके न तु याच्यते न तु पुनर्दीनाय वा दीयते।।"[1]

सम्पन्न होकर भी अपने बन्धु जनों पर बराबर स्नेह बनाये रखना चाहिये, क्योंकि इससे उभयलोकों अर्थात् इस लोक में और परलोक में लाभ ही प्राप्त होता है। जैसा कहा है-

"कर्तव्यो भ्रातृषु स्नेहो विस्मर्तव्या गुणेतराः।
सम्बन्धो बन्धुभिः श्रेयॉल्लोकयोरुभयोरपि।।"[2]

'कर्णभारम्' में धन सम्पत्ति की चंचलता को व्यक्त करते हुये धर्म अर्थात् कर्तव्य की प्रधानता का उपदेश देते हुये कहा है कि जो अपने कर्तव्यों का पालन करते हुये मृत्यु को प्राप्त करता है, वह अपने यश के साथ सदैव जीवित रहता है। जैसा कहा है-

"धर्मो हि यत्नैः पुरूषेण साध्यो भुजङ्गजिह्वाचपला नृपश्रियः।
तस्मात्प्रजापालनमात्रबुद्धया हतेषु देहेषु गुणा धरन्ते।।"[3]

'पंचरात्रम्' में भी यही कहा गया है-

"मृतेऽपि हि नराः सर्वे सत्ये तिष्ठन्ति तिष्ठति।।"[4]

दानादि की महत्ता को सिद्ध करते हुये कहा है कि इस संसार में प्राप्त की हुई शिक्षा भी समय के साथ नष्ट हो जाती है, दृढ़ मूल वाले वृक्ष भी गिर पड़ते हैं तथा सरोवर भी समय आने पर सूख जाते हैं, परन्तु हवन किया या दान में दिया हुआ कभी नष्ट नहीं होता अर्थात् पुण्य कर्म कभी नष्ट नहीं होते। जैसा कहा है-

---

[1] दूतवाक्यम्- 1/24
[2] दूतवाक्यम् -1/29
3 कर्णभारम् - 1/17
4 पंचरात्रम् -3/25

"शिक्षा क्षयं गच्छति कालपर्ययात्
सुबद्धमूला निपतन्ति पादपाः।
जलं जलस्थानगतं च शुष्यति
हुतं च दत्तं च तथैव तिष्ठति।।"[1]

'पंचरात्रम्' में प्रभावोत्पादक नीतिपरक वाक्यों का प्रयोग बहुलता के साथ किया गया है। जैसे कहा गया है कि जिस प्रकार एक सूखा वृक्ष जंगल को जला देता है ठीक उसी प्रकार एक दुराचारी मनुष्य पवित्र कुल को दूषित कर देता है–

"शुष्केणैकेन वृक्षेण वनं पुष्पितपादपम्।
कुलं चरित्रहीनेन पुरूषेणेव दह्यते।।"[2]

जंगल में झुकते हुये बाँसो को देखकर नीति उपदेशित की गई है कि जिस प्रकार वायु के वेग से बाँस नीचे ऊपर गिरते और उठते रहते हैं उसी प्रकार मनुष्य का भाग्य भी कभी नीचे और कभी ऊपर उठता रहता है अर्थात् मनुष्य का भाग्य सदैव एक जैसा नहीं रहता, उसमें उतार-चढ़ाव आता रहता है। अतः भाग्य पर कभी गर्व नहीं करना चाहिये। जैसा कहा है–

"एते वातोद्वता वंशा दह्यमाना मखाग्निना।
भाग्यानीव मनुष्याणामुन्नमन्ति नमन्ति च।।"[3]

कौलिक (कुल सम्बन्धी) विरोध होने पर समानता के आधार पर विरोध करना चाहिये। एक कुल में उत्पन्न हुये बालकों के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिये, यही नीति है। जैसा कि अभिमन्यु के अपहरण की बात सुनकर दुर्योधन कहता है कि मेरा विरोध उसके पिता के साथ है, जो कि दायादि का विरोध है, वह पहले मेरा पुत्र है बाद में पाण्डवों का, क्योंकि कौलिक विरोध की अवस्था में बालकों का अपराध नहीं माना जाता और न ही उनके साथ विरोध रखना चाहिये। जैसा कहा है–

"मम हि पितृभिरस्य प्रस्तुतो ज्ञातिभेद
स्तदिह मयि तु दोषो वक्तृभिः पातनीयः।
अथ च मम स पुत्रः पाण्डवानां तु पश्चात्
सति च कुल विरोधे नापराध्यन्ति बालाः।।"[4]

कर्म की प्रशंसा करते हुये नीति वाक्य कहा गया है कि किसी की महानता का

---

[1] कर्णभारम् -1/22
[2] पंचरात्रम् -1/12
[3] पंचरात्रम् -1/13
[4] पंचरात्रम् -3/4

कारण न तो उसका रूप सौन्दर्य होता है और न ही उसका कुल अर्थात् कोई कितना भी सुन्दर और रूपवान क्यों न हो और चाहे जितने उच्च कुल में क्यों न पैदा हुआ हो वह महान नहीं हो सकता। साथ ही चाहे वह नीच हो या उत्तम पुरूष, इनमें से कोई भी कारक उसे महान बनाने में समर्थ नहीं होता। मनुष्य का कर्म ही उसको महान बनाता है। जैसा कहा है-

''अकारणं रूपमकारणं कुलं महत्सु नीचेषु च कर्म शोभते।
इदं हि रूपं परिभूतपूर्वकं तदेव भूयो बहुमानमागतम्।''[1]

परस्पर विरोध को शान्त करने के लिये मन्त्र सदृश नीति बतलाते हुये कहा है कि उत्तम कुल में उत्पन्न होने वाले लोगों का पारस्परिक विरोध गुरूजनों के वचनों से शान्त हो जाया करता है। जैसा स्पष्ट करते हुये कहा है-

''त्वं वञ्च्यसे यदि मया न तवात्रदोष
स्त्वां पीडयामि यदि वास्तु तवैष लाभः।
भेदाः परस्परगता हि महाकुलानां
धर्माधिकारवचनेषु शमीभवन्ति।।''[2]

सन्मित्र को परिभाषित करते हुये 'अभिषेक' नाटक में कहा गया है कि सच्चा मित्र वही होता है जो अकार्यो से पुरूष को उबार लेता है और जो ऐसा नहीं करता है वह मित्र न होकर शत्रु के समान होता है-

''मज्जमानमकार्येषु पुरूषं विषयेषु वै।
निवारयति यो राजन्! स मित्रं रिपुरन्यथा।।''[3]

लोक में यह उक्ति अतीव प्रचलित है कि 'कन्या पितृत्वम् खलु नाम कष्टम्'। इसी सूक्ति का समर्थन करते हुये भास ने 'अविमारक' नाटक में बहुत ही मार्मिक बात कही है कि 'कन्या पितुरहि सततम् बहु चिन्तनीयम्'। इसी नाटक में सामाजिक दृष्टि से यह नीति प्रदर्शित की है कि कन्या का विवाह बहुत सोच समझकर करना चाहिये। जिसको कन्या दी जाये उसके सम्बन्ध में बिना विचार किये हुये अपनी रूचि के अनुसार यदि कन्या प्रदान की जाती है तो वह कन्या अपने दोष से पितृकुल तथा श्वसुर कुल दोनों को उसी प्रकार नष्ट कर देती है जैसे बाढ़ वाली नदी दोनों किनारों को नष्ट कर देती है। अतः विवाहादि सम्बन्ध अत्यन्त सोच विचार के उपरान्त ही करना चाहिये-

"विवाहा नाम बहुशः परीक्ष्य कर्तव्या भवन्ति।।"
"जामातृसम्पत्तिमचिन्तयित्वा
पित्रा तु दत्ता स्वमनोभिलाषात्।
कुलद्वयं हन्ति मदेन नारी
कूलद्वयं क्षुब्धजला नदीव।।"[1]

जो सत्पुरूष, सज्जन तथा शूरवीर होते हैं वे अपने को व्यर्थ मे सर्वत्र प्रकट नहीं करते परन्तु अवसर आने पर वे अपने गोप्य भाव को छोड़कर दूसरों की सहायता के लिये तत्पर हो जाते हैं। अतः इस प्रकार के व्यक्तियों का अस्तित्व अधिक समय तक छिपा नहीं रह सकता, क्योंकि सूर्य को हाथों से छिपाया नहीं जा सकता है उसी प्रकार तेजस्वी व्यक्ति भी अपने अस्तित्व को छिपा कर नहीं रख सकते-

"कः सक्ता सूर्यम् हस्तेन् आच्छादयितुम्।।"
"छन्ना भवन्ति भुवि सत्पुरूषाः कथञ्चित्
स्वैः कारणैर्गुरूजनैश्च नियम्यमानाः।
भूयः परव्यसनमेत्य विमोक्तुकामा
विस्मृत्य पूर्वनियमं विवृता भवन्ति।।"[2]

सामाजिक लोगों को उपदेश देते हुये शास्त्र मार्ग के आधार पर नीति मार्ग का प्रदर्शन करते हुये कहा गया है कि अकेले ही किसी दूसरे के घर में जाना चाहिये तथा मन्त्रणा केवल दो लोगों के मध्य में ही करनी चाहिये अर्थात् गुप्त बात चार कानों से अधिक में नहीं जानी चाहिये और बहुत से लोगों के साथ मिलकर युद्ध करना चाहिये, यही नीति मार्ग है-

"एकः परगृहं गच्छेद् द्वितीयेन तु मन्त्रयेत्।
बहुभिः समरं कुर्यादित्ययं शास्त्रनिर्णयः।।"[3]

'प्रतिमानाटक' महाकवि भास के नाटकों में श्रेष्ठ स्थान रखता है। इस नाटक में कवि ने अतीव सुन्दर एवं हितोपदेशक नीति वाक्यों का यत्र-तत्र समावेश करने का सफल प्रयास किया है। अत्यन्त ही व्यवहारिक नीति को स्पष्ट करते हुये कवि ने कहा है कि बाहरी शत्रु तो शरीर पर आघात करते हैं परन्तु जो स्वजन होते हैं वे तो मर्मस्थल पर आघात करते हैं। इस नीति के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि शत्रुओं के वाह्य आघात को तो सहन किया जा सकता है परन्तु अपनों के द्वारा किया गया आघात अव्यक्त होता

---

[1] अविमारकम् -1/3
[2] अविमारकम् -1/6
[3] अविमारकम् -2/10

है, जो मन को भीतर तक भेद डालता है और उसे सहन कर पाना अत्यन्त कठिन होता है–

"शरीरेऽरिः प्रहरति हृदये स्वजनस्तथा।
कस्य स्वजनशब्दो मे लज्जामुत्पादयिष्यति।।"[1]

स्त्रियों के प्रति लोगों को किस प्रकार का आचरण करना चाहिये इसको स्पष्ट करते हुये नीति वचन कहा है कि यद्यपि स्त्रियों को देखना दोष है परन्तु यज्ञ, विवाह, संकट की अवस्था और वन में स्त्रियों को देखना दोष नहीं माना जाता है। जैसा कहा है–

"निर्दोषदृश्या हि भवन्ति नार्यो यज्ञे विवाहे व्यसने वने च।।"[2]

अभिप्राय यह है कि राजवनितायें असूर्यपश्या होती थीं, इस कारण उक्त नीति के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि यज्ञ, विवाहादि के अवसर पर उनको देखना दोष नहीं माना जाता है।

राजनीति की दृष्टि से यह नीति व्यक्त की गई है कि जिस प्रकार गो रक्षकों के बिना गायें इधर–उधर होकर नष्ट हो जाती हैं उसी प्रकार राजा के बिना प्रजा भी उच्छृन्खल होकर पतन के मार्ग पर चली जाती हैं–

"गोपहीनो यथा गावो विलयं यान्त्यपालिताः।
एवं नृपतिहीना हि विलयं यान्ति वै प्रजाः।।"[3]

'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' भी राजनीतिपरक नाटक है। इस नाटक में यौगन्धरायण की राजनीतिक दक्षता को नीति वचनों के द्वारा प्रदर्शित किया गया है। कवि ने यौगन्धरायण के माध्यम से कहा है कि जिस प्रकार अतिशय रगड़ करने से काष्ठ (लकड़ी) से अग्नि निकल आती है और पृथ्वी को खोदने पर जल निकल आता है उसी प्रकार समुचित रूप से किया हुआ प्रयत्न सदैव सफल होता है, क्योंकि उत्साही पुरूषों के लिये कोई भी कार्य असाध्य नहीं होता। जैसा कहा है–

"काष्ठादग्निर्जायते मथ्यमानाद्
भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति।
सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां
मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति।।"[4]

---

1 प्रतिमानाटकम् –1/12
2 प्रतिमानाटकम् –1/29
3 प्रतिमानाटकम् 3/23
4 प्रतिज्ञायौगन्धरायण –1/18

संस्कृत साहित्य में महाकवि भास का 'चारुदत्त' नाटक भी अद्वितीय है। सामान्य जनों के कथानक को लेकर रचे गये चारुदत्त नाटक में राजनीतिक नीतियों के साथ सामाजिक नीतियों का भी बहुत ही सुन्दर एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन किया गया है। साधारण मनुष्यों की अनुभूतियों को सहज ढ़ंग से प्रस्तुत करते हुये कहा गया है कि दुःख का अनुभव करने के पश्चात् सुख की प्राप्ति बहुत ही अच्छी लगती है, परन्तु सुख के अनन्तर दुःख की प्राप्ति उसी प्रकार मनुष्य को बना देती है जैसे शरीर धारण किये हुये मृत व्यक्ति–

"सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते
यथान्धकारादिव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति दशां दरिद्रतां
स्थितः शरीरेण मृतः स जीवति।।"[1]

धन होने पर सभी मित्र और बन्धु बन जाते हैं परन्तु जब धन क्षीण हो जाता है तो उस निर्धन अवस्था में सभी मुँह मोड़ लेते हैं। इस अनुभूति को स्पष्ट करते हुये कहा है कि मनुष्य को धन नाश होने पर सम्भवतः उतना कष्ट नहीं होता होगा, क्योंकि धन तो भाग्य के क्रम से आता और जाता रहता है, जितना कि इस बात से कष्ट होता है कि निर्धन हो जाने पर वे बन्धुवर्ग साथ छोड़ देते हैं जो धन के रहने पर अपने स्वजन हुआ करते थे। जैसा कहा है कि मनुष्य को धन नाश के दुःख की अपेक्षा अपने स्वजनों के साथ छोड़ देने के कारण ज्यादा दुःख होता है। यह एक शाश्वत सामाजिक नियम है और इसका परिहार बहुत ही मुश्किल है। जैसा कहा है–

"सत्यं न मे धनविनाशगता विचिन्ता
भाग्यक्रमेण हि धनानि पुनर्भवन्ति।
एतत्तु मां दहति नष्टधनश्रियो मे
यत् सौहृदानि सुजने शिथिली भवन्ति।।"[2]

(III)
कथा साहित्य में नीति

संस्कृत कथा साहित्य का विकास अति प्राचीन काल में ही हो चुका था। उपनिषद ग्रन्थों में कथा साहित्य की रूपरेखा दखने का मिलती है। तथा पुराणों में भी कथा साहित्य का विशाल भण्डार मौजूद है। इसी समय कथा साहित्य व्यापक रूप में प्रचलित था। जातक कथाओं में समाज के विभिन्न रूपों का वर्णन बड़े ही मनोवैज्ञानिक पद्धति से किया गया है। प्राचीन भारत में कथा काव्यों का अत्यधिक प्रचार हुआ, क्योंकि ये काव्य कथायें अत्यन्त जनप्रिय थी। अध्ययन की सुगमता की दृष्टि से यहाँ पर कथा काव्य और गद्य काव्य दोनों को एक साथ लेकर नीतिपरक दृष्टि से संक्षेप में विवेचित करने का प्रयास कर रहा हूँ। इसका कारण यह है कि कथा साहित्य काव्य रूप में और गद्य रूप में दोनों में मिलता है। जैसे गुणाढ्य ने बृहत्कथा को पद्यबद्ध लिखा जिसमें वृहत्कथा श्लोक संग्रह, वृहत्कथा मन्जरी तथा कथासरित्सागर आदि कई संस्करण निकले। ये कथायें अत्यन्त सरल भाषा में लोक हितार्थ तथा मनोरंजक होने के साथ ही साथ अपने में नीति वाक्यों को भी संग्रहीत किये हुये हैं। इनके विभिन्न रूप हमें देखने को मिलते हैं, जिनमें दार्शनिक, उपदेशात्मक, मनोवैज्ञानिक तथ्यों को बड़ी सहजता के साथ अपनाया गया है। तथा इनमें नीति विषयक सूक्तियाँ व्यापक रूप से मिलती हैं, जिनका हम यथा प्रसंग विवेचन करने का प्रयास करेंगे।

सम्प्रति काव्य कथा साहित्य में पन्चतन्त्र, हितोपदेश का प्रमुख स्थान है। काव्य कथा साहित्य तथा गद्य कथा साहित्य दोनों में काव्य कथा साहित्य अधिक समृद्ध है इनकी अपेक्षा गद्य काव्य में, यत्र-तत्र प्रसंगानुसार ही सूक्ति के 'रूप में नीति वचनों को व्यक्त कर दिया गया है। इसके विपरीत काव्य कथा साहित्य में सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक, उपदेशात्मक तथा मनोवैज्ञानिक हर दृष्टि से नीतियों का प्रणयन किया गया है। इन नीति कथाओं का उद्देश्य सरस, रोचक कहानियों के द्वारा धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग के व्यवहारिक रूप की शिक्षा देना है। नीति कथाओं के द्वारा गहन, गम्भीर तथा गूढ़ विषयों को मनोरंजक कहानियों के द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि सुकुमारमति बालक भी उसका व्यवहारिक रूप समझ सकें और उनके द्वारा प्रभावित होकर धार्मिक, सदाचारी, परोपकारी तथा व्यवहार कुशल बन सकें। इन नीति कथाओं को रोचक तथा सर्वजनग्राह्य बनाने के उद्देश्य से इनमें पशु-पक्षियों आदि को माध्यम बनाकर भी नीतियों का कथन कर दिया गया है, जिससे उनकी सर्वजनग्राह्यता तथा

उनकी उपादेयता में भी वृद्धि हो गई है। ऋग्वेद में भी एक मछली और एक मनुष्य की कथा पायी जाती है। रामायण में भी नीति कथाओं का संकेत मिलता है। महाभारत में विदुर ने कई नीति कथायें कही हैं। इस प्रकार कथा साहित्य में वर्णित नीति कथाओं में उल्लिखित नीतियों का हम यहाँ संक्षेप में विवेचन कर रहें हैं। जिनमें काव्य कथा साहित्य तथा गद्य काव्य दोनों सम्मिलित हैं।

'दशकुमारचरितम्' में लक्ष्मी की चंचलता को व्यक्त करते हुये कहा है कि लक्ष्मी जल के बुलबुलों के समान होती है और विद्युत के समान सहसा इसका आगमन होता है और शीघ्र ही नष्ट हो जाती है। अतः सब कुछ भाग्य के ही अधीन है। ऐसा विचार करके ही कार्य करना चाहिये अर्थात् लक्ष्मी किसी के पास स्थायी रूप से निवास नहीं करती अपितु भाग्याधीन उसकी प्राप्ति भी होती है और भाग्यवश ही वह समाप्त भी हो जाती है। इसलिये मनुष्यों के लिये यह नीति है कि लक्ष्मी के मद में रहकर कोई कार्य न करे–

"जलबुद्बुदसमाना विराजमाना समपत्तडिल्लतेव सहसैवोदेति नश्यति च।
तन्निखिलं दैवायत्तमेवावधार्यं कार्यम्।।"[1]

भाग्य की निश्चयात्मकता को स्पष्ट करते हुये कहा है कि संसार में पण्डितजन भी उदारतावश न करने योग्य (अकरणीय) कार्यो को भी कर देते हैं। अर्थात् भाग्य की यह विडम्बना है कि सज्जन पुरूष किसी कार्य को न चाहते हुये भी कर बैठ्ते हैं और तत्पश्चात् पश्चाताप करते हैं। इसलिये यह नीति स्पष्ट होती है कि भाग्य बड़ा ही बलवान होता है। जैसा कहा है–

"लोके पण्डिता अपि दक्षिण्येनाकार्य कुर्वन्ति।।"[2]

गद्य साहित्य में आशुकवि श्री शंकर लाल विरचित 'चन्द्रप्रभाचरितम्' एक अनुपम गद्य काव्य है। कादम्बरी के समान यह भी एक गद्य कथा है इसमें चन्द्रप्रभा नायिका का अभ्युदय प्रदर्शित किया गया है तथा साथ ही विद्यादान के महत्व को प्रतिपादित करते हुये कहा गया है कि विद्यादान के समान अन्य कोई दूसरा श्रेष्ठ दान नहीं है। इस वर्णन में यत्र-तत्र जीवनोपयोगी नीतिपरक सूक्तियों का प्रयोग किया गया है। पतिव्रत धर्म को श्रेष्ठ बताया गया है। इन्हीं प्रसंगों में सरल वाणी में नीतिपरक सूक्तियों का कथन करते हुये कहा है कि महात्माओं तथा महासतियों की वाणी सहृदय व्यक्तियों के हृदयों को आह्लादित करने के साथ ही साथ असहृदय व्यक्तियों के हृदयों को भी आह्लादित कर

---

1 दशकुमारचरितम् – प्रथम उच्छ्वास
2 दशकुमारचरितम् – [illegible] उच्छ्वास

देती है। अर्थात् सज्जनों की वाणी में इतना आकर्षण होता है कि वह असहृदय व्यक्ति को भी प्रभावित करने में समर्थ होती है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह ऐसी वाणी का प्रयोग करे जो सभी को हठात् अपने आकर्षण के केन्द्र बिन्दु में ले आये। जैसा कहा है–

"असहृदयहृदयाह्लादकमपि सहृदयहृदयाह्लादकं भवति वचोवृन्दम्।।"[1]

अर्थात राग द्वेष रहित सज्जनों की वाणी में यह प्रभाव होता है कि वह सभी को अपने वश में करने में समर्थ होती है। अतः साधारण मनुष्यों को चाहिये कि वे सज्जनों की इस नीति का अनुकरण करते हुये अपने जीवन पथ को सुगम बनाने का प्रयास करें।

धैर्यशाली धीर व्यक्ति को कभी भी किसी कार्य में निराशा को नहीं स्वीकार करना चाहिये, अपितु बुद्धिबलपूर्वक स्वीकृत किये गये कार्य की सिद्धि के लिए उत्साह एवं धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते रहना चाहिये। जैसा कि कहा गया है–

"न धीधनेन धीरेण कदापि कस्मिंश्चिदपि कर्मणि निराशता स्वीकार्या,
किन्तु यावद्बुद्धिबलोदयं स्वोररीकृत सिद्धये सोत्साहं सधैर्य प्रयत्नपरम्परा एव विधेया।।"[2]

अभिप्राय यह है कि स्वीकृत किये हुये कार्य का कभी परित्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि यही नीति है कि 'अंगीकृत सुकृतिना परिपालयन्ति'। उत्तम जन किसी भी कार्य को स्वीकार कर लेने पर उसे पूर्ण किये बिना मध्य में नहीं छोड़ने और मध्यम जन कार्य को पूर्ण न करके बीच में ही छोड़ देते हैं और अधमजन विघ्नों के भय से कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करते। जैसा कहा है–

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्ध मुत्तमजना न परित्यजन्ति।।" [3]

इसी अभिप्राय के समर्थन में कवि ने सूक्ति के माध्यम से स्पष्ट किया है कि संसार में सभी मनुष्यों के लिये धैर्य ही उत्तम धन है। इसलिये कभी भी उसका परित्याग नहीं करना चाहिये। जैसा कि धैर्य धारण करने के महत्व को स्पष्ट करते हुये कहा है–

"जगत्यस्मिन् सर्वेषां मनुजनुषां धैंयमेवोत्तमतम धनं।।"[4]

कवि की दृष्टि में यह नीति है कि महात्मओं, पुरुषार्थियों, उद्यमियों का जीवन

---

1. चन्द्रप्रभाचरितम् – उपोद्धात
2. चन्द्रप्रभाचरितम्–कथामुख
3. नीतिशतक–श्लोक 27
4.

देती है। अर्थात् सज्जनों की वाणी में इतना आकर्षण होता है कि वह असहृदय व्यक्ति को भी प्रभावित करने में समर्थ होती है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह ऐसी वाणी का प्रयोग करे जो सभी को हठात् अपने आकर्षण के केन्द्र बिन्दु में ले आये। जैसा कहा है-

"असहृदयहृदयाह्लादकमपि सहृदयहृदयाह्लादकं भवति वचोवृन्दम्।।"[1]

अर्थात राग द्वेष रहित सज्जनों की वाणी में यह प्रभाव होता है कि वह सभी को अपने वश में करने में समर्थ होती है। अतः साधारण मनुष्यों को चाहिये कि वे सज्जनों की इस नीति का अनुकरण करते हुये अपने जीवन पथ को सुगम बनाने का प्रयास करें।

धैर्यशाली धीर व्यक्ति को कभी भी किसी कार्य में निराशा को नहीं स्वीकार करना चाहिये, अपितु बुद्धिबलपूर्वक स्वीकृत किये गये कार्य की सिद्धि के लिए उत्साह एवं धैर्यपूर्वक प्रयत्न करते रहना चाहिये। जैसा कि कहा गया है-

**"न धीधनेन धीरेण कदापि कस्मिंश्चिदपि कर्मणि निराशता स्वीकार्या,
किन्तु यावद्बुद्धिबलोदयं स्वोररीकृत सिद्धये सोत्साहं सधैर्य प्रयत्नपरम्परा एव विधेया।।"[2]**

अभिप्राय यह है कि स्वीकृत किये हुये कार्य का कभी परित्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि यही नीति है कि 'अंगीकृत सुकृतिना परिपालयन्ति'। उत्तम जन किसी भी कार्य को स्वीकार कर लेने पर उसे पूर्ण किये बिना मध्य में नहीं छोड़ने और मध्यम जन कार्य को पूर्ण न करके बीच में ही छोड़ देते हैं और अधमजन विघ्नों के भय से कार्य को प्रारम्भ ही नहीं करते। जैसा कहा है-

**"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहिता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्ध मुत्तमजना न परित्यजन्ति।।"[3]**

इसी अभिप्राय के समर्थन में कवि ने सूक्ति के माध्यम से स्पष्ट किया है कि संसार में सभी मनुष्यों के लिये धैर्य ही उत्तम धन है। इसलिये कभी भी उसका परित्याग नहीं करना चाहिये। जैसा कि धैर्य धारण करने के महत्व को स्पष्ट करते हुये कहा है-

"जगत्यस्मिन् सर्वेषां मनुजनुषां धैंयमेवोत्तमतम धनं।।"[4]

कवि की दृष्टि में यह नीति है कि महात्मओं, पुरुषार्थियों, उद्यमियों का जीवन

---

1 चन्द्रप्रभाचरितम् - उपोद्धात
2 चन्द्रप्रभाचरितम्-कथामुख
3 नीतिशतक-श्लोक 27

अपने लिये नहीं होता, उनका जीवन तो दूसरों की सहायता करने के लिए होता है। इसी सिद्धान्त को ये जीवन-पर्यन्त अंगीकार किये रहते हैं, क्योंकि जो दूसरों के लिये आत्मोत्सर्ग करता है उसी का जीवन सार्थक और सफल होता है-

"महाशया नात्मार्थं जीवन्नित किन्तु परार्थमेव।।"[1]

इसी अर्थ को स्वयं में समाहित किये हुये विद्धानों के मध्य यह उक्ति सर्वथा प्रसिद्ध है कि-

'काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते'।

जैसा कि पूर्व में भी इस नीति को स्पष्ट किया गया है कि सज्जनों के द्वारा अथवा किसी व्यक्ति के द्वारा न चाहते हुये भी यदि कोई अकरणीय कार्य हो जाय तो उसे दुःखी नहीं होना चाहिये। क्योंकि भाग्य के प्रतिकूल होने पर अकृत्य को भी कृत्य के समान ही मनुष्यों की मनोवृत्तियाँ समझनें लगती है। अतः भाग्य की प्रबलता को यहाँ पर भी प्रकट किया गया है-

"विपरीते हि विधावकृत्यमपि कृत्यमिवाहितमपि हितामिवाशभमपि शुभमिव-
हेयमप्युपादेयमिव पश्यन्ति मनुष्याणां मनोवृत्तय।।"[2]

दूसरे के अणुमात्र गुण को भी सज्जन अथवा महान लोग पर्वत के समान विशाल के रूप में देखा करते हैं, यह उनका स्वाभविक गुण होता है। अर्थात महान लोग यदि किसी व्यक्ति में कोई एक भी विशेष गुण का अवलोकन कर लेते हैं तो वे उसे एवं उसके उस विशेष गुण को बहुत महत्ता प्रदान करते हैं, यह उनके स्वभाव की विशेषता होती है। जैसा कहा है-

"परगुणपरमाणुपर्वतीकरणपट्वी च महतां चेतो वृत्तिः।।"[3]

मैत्रीभाव तथा सहज स्नेह के सम्बन्ध में कहा है कि मृत्यु से प्राप्त होने वाला दुःख सह्य होता है परन्तु प्रियजनों के वियोग से उत्पन्न होने वाला दुःख असह्य होता है उसे धीरतापूर्वक सहन करना बहुत ही कठिन होता है-

"सह्यं खलु मरणजन्यं दुःखं परमसह्यतरं प्रियजनवियोगानलज्वालानुभवदुःखम्।।"[4]

इस प्रकार आशुकवि श्री शंकर लाल ने अपने ग्रन्थ चन्द्रप्रभाचरितम् में

---

1 चन्द्रप्रभाचरितम्-
2 चन्द्रप्रभाचरितम्-
3 चन्द्रप्रभाचरितम्-

जीवनोपयोगी एवं शाश्वत सत्य नीतियों का उल्लेख बड़े ही सहज ढंग से किया है। इसी कड़ी में सरस्वती के भण्डार को अपनी प्रतिभा से प्रपूरित करने वाले उपासकों में पण्डित प्रवर श्री विश्वेश्वर पाण्डेय का 'मन्दारमन्जरी' नामक गद्य काव्य, गद्य साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके अध्यन के अनन्तर आचार्य की विद्वता एवं उनकी नीतिपरक सोंच दोनों ही स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं। कवि की मन्दारमन्जरी का गद्य साहित्य में वही स्थान है जो हर्षचरित, वासवदत्ता, कादम्बरी एवं दशकुमारचरितम् का है। मन्दारमन्जरी गद्य काव्य होते हुये भी स्वयं में व्याकरण तथा आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों के ज्ञान से परिपूर्ण है, जिसमें यत्र-तत्र जनहिताय उपदेशात्मक नीति वाक्य भी देखने को मिलते हैं। यथा- कवि का कथन है कि सम्पत्ति प्रायः चल होती है, भाग्यवशात् आती जाती रहती है। इसलिये उसके आने पर अत्यधिक प्रसन्न और न रहने पर ज्यादा दुःख का अनुभव नहीं करना चाहिये। इतना अवश्य है कि उसकी प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिये, क्योंकि उत्तरोत्तर उत्कर्ष करने वाले लोग ही इस संसार में श्रेष्ठ होते हैं। इस कारण स्वयं उत्कर्ष करते हुये सम्पत्ति को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये परन्तु दूसरे के उत्कर्ष को देखकर कभी ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। मनुष्य को सदैव अनिष्ट की निवृत्ति के लिये सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिये। जैसा कहा है-

"सम्पदो हि चलप्रायाः कालक्रमेण आविर्भवन्ति तिरोभवन्ति च।।"[1]

तथा

"उत्तरोत्तरोत्कर्षग्रस्ता एव हि संसारे सर्वोत्कर्षाः।।"[2]

नीति मार्ग को प्रदर्शित करते हुये सामाजिक हित में कहा है कि अग्नि, शत्रु और रोग इनका शेष नहीं रखना चाहिये। इनका समूल निवारण करना चाहिये, क्यों कि शेष रहने पर ये पुनः बढ़कर बहुत कष्ट देने वाले हो जाते हैं-

"अग्निरिपुरोगाणाम शेषोऽपि पुनर्अभिवृद्धिमासाद्य महते खेदाय कल्पते।।"[3]

नीति वचन है कि तपस्वियों की कृपा अबन्ध्य होती है। तपस्वियों के दर्शन मात्र से ही मनुष्यों को उत्तम फल की प्राप्ति हो जाती है। वस्तुतः उनकी प्रसन्नता के पूर्व ही फल प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये मन्दार मन्जरी में 'अबन्ध्यप्रसादास्तपोधनाः' कहा गया है।

इसी अभिप्राय को कालिदास ने भी स्पष्ट किया है-

"प्राग्अभिप्रेत सिद्धिः पश्चाद् दर्शनम् तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः।।"[1]

महान लोगों का सम्पर्क भी क्षुद्र लोगों को आत्मज्ञानी बना देता है अर्थात् महात्माओं के सम्पर्क से नीच एवं साधारण व्यक्ति भी उन्नति को प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं। जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है-

"सुमनोऽपि सज्जन संसर्गात् आरोहति सतां शिरः।।"

मन्दारमन्जरी में इस नीति को बिल्कुल सहज एवं सुस्पष्ट शब्दों में ही कह दिया गया है-

"महदासंगोहि जनयति क्षुद्रजनस्यापि आत्म संयोग इव मनसो ज्ञानवत्वाभिमानम्।।"[2]

महाकवि बाणभट्ट का 'हर्षचरितम्' भी गद्य साहित्य का एक अनुपम ग्रन्थ है। जिसमे स्थान-स्थान पर प्रसंगानुसार कवि ने सूक्तियों का प्रयोग किया है। ये सूक्तियाँ अधिकांश रूप से नीतिपरक हैं। हर्षचरितम् एक गद्य काव्य है अतः इसकी सूक्तियाँ लघु होते हुये भी मनुष्य के हृदय पर साक्षात् प्रभाव डालने वाली हैं। जैसे कवि ने कहा है कि जब मनुष्य विपत्ति में होता है तो विपतियाँ वृक्ष की शाखाओं के समान बढ़ती रहती हैं अर्थात् जब मनुष्य के ऊपर एक विपत्ति आती है तो अन्य ढेर सारी विपत्तियाँ स्वतः ही उपस्थित होकर मनुष्य की कठिनाइयों को और बढ़ा देती है। जैसा कहा हैं-

"अनवरतनयनजलसिच्यमानश्च तरूरिव विपल्वोऽपि सहस्रधा प्ररोहति।।"[3]

पन्चतन्त्र में भी इसी नीति को 'छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। अत्यन्त मार्मिक सूक्ति के द्वारा कवि ने नीति वचन किया है कि अपने लोगों का वियोग आरे के समान हृदय को चीर डालता है इसी नीति को पूर्व मे भी व्यक्त किया है कि अपने स्नेही और स्वजनों का वियोग अत्यन्त कठिन और हृदयाघात रूपी होता है-

"दारयति दारूणः ककचपात इव हृदयं संस्तुतजन विरहः।।"[4]

भारतीय संस्कृति को दृष्टि में रखकर नीतिपूर्ण सूक्ति कही है कि सहज लज्जाशील नारियों का पहले बोलना धृष्टता होती है-

"सहजलज्जाधनस्य प्रमदाजनस्य प्रथमाभिभाषणमशालीनता।।"[1]

इस सूक्ति के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि लज्जा स्त्रियों का सहज गुण होता है, वही उनका भूषण है। इसलिये स्त्रियों को अपने लज्जारूपी आभूषण को नहीं त्यागना चाहिये और न ही पहले बोलकर अपनी धृष्टता का ही परिचय देना चाहिये। स्त्रियों को चाहिये कि वे शालीनता की परिधि में रहकर अपने सहज, सरल संस्कारों को सदैव सुरक्षित रखने का प्रयत्न करें।

सज्जनों के सम्बन्ध में कहा है कि अत्यन्त नम्र स्वभाव वाले सत्पुरूषों में बिना प्रयत्न के ही अधिक विश्वास उत्पन्न हो जाता है–

"अयत्नेनैवातिनम्रे साधौ धनुर्षाव गुणः परां कोटिमारोपयति विस्रम्भः"[2]

यह सूक्ति इस नीति वचन को स्पष्ट करती है कि सज्जन व्यक्ति के ऊपर कभी भी अविश्वास नहीं किया जा सकता। उनका स्वभाव ही इतना सरल और विनम्र होता है कि उनकी बातों पर स्वतः ही विश्वास उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि प्रिय और हितकारी बात कहना तो सज्जनों की कुल विद्या है–

"सतां हि प्रियंवदता कुलविद्या।।"[3]

उनका दक्षिण्य का भण्डार कभी क्षीण नहीं होता। जैसा कहा है–

"अक्षीणः खलु दक्षिण्यकोशो महताम्।।"[4]

यह स्वाभाविक नीति है कि युवावस्था में चंचलता, चपलता स्वतः आ जाती है, क्योंकि यौवन का आरम्भ धैर्य को नहीं रहने देता–

"धैर्य प्रतिपक्षतया च यौवनारम्भस्य, शैशवोचितान्यनेकानि चापलान्याचरन्नित्वरो बभूव।।"[5]

अविवेकी अर्थात मन्दबुद्धियों का मन कभी स्थिर नहीं रहता ये दूसरों के बहकावे (प्रलोभन) में बहुत ही शीघ्र आ जाते हैं, क्योंकि इनमें सोचने समझने की बृद्धि परिपक्व नहीं होती। इसी तथ्य को बहुत ही सुन्दर एवं मनोरम ढंग से महाकवि बाणभट्ट ने कहा है–

"सलिलानीव गतानुगतिकानि लोलानि खलु भवन्त्यविवेकिनां मनांसि।।"[6]

---

1 हर्षचरितम्–
2 हर्षचरितम्–प्रथम उच्छ्वास
3 हर्षचरितम्–प्रथम उच्छ्वास
4 हर्षचरितम्–प्रथम उच्छ्वास

'भिन्न रूचिर हि लोकः' इस कथन को और व्यापक बनाते हुये कवि ने कहा है कि लोगों के स्वभाव और फैली हुई बातें मनमानी और तरह-तरह की होती है। जैसा कहा है-

"स्वैरिणो विचित्राश्च लोकस्य स्वभावाः प्रवादाश्च।।"[1]

इस सूक्ति का यह अभिप्राय है कि सज्जन लोगों को सुनी-सुनी बातों पर विश्वास नहीं करना चाहिये। उन्हें नीर-क्षीर विवेकी होना चाहिये, यही उनका धर्म है। अतः सज्जनों को अपनी बुद्धि एवं विवेक का प्रयोग करते हुये ही किसी बात पर विश्वास अथवा अंधविश्वास करना चाहिये, अफवाहों के आधार पर नहीं।

कहा जाता है कि भगवान अपने भक्तों के अधीन होते हैं। इसी नीति का पालन करते हुये साधु पुरूष भी अपने भक्तों के अधीन हो जाया करते हैं। इस कथन को सूक्ति में आबद्ध करते हुये कवि ने कहा है कि जैसे शरीर बिना प्रयास किये अपने अधीन रहता है उसी प्रकार सज्जन पुरूष भी अपने प्रेमीजनों के वश में हो जाया करते हैं। क्योंकि सज्जन पुरूषों के मन दूसरों के थोड़े से गुणों के कारण फूलों के समान ग्रहण करने के योग्य हो जाते हैं। जैसा कहा है-

"अनुरक्तेष्वपि शरीरादिषु साधूनां स्वामिन एव प्रणयिनः।।"[2]

तथा

"प्रतनुगुणग्राह्याणि कुसुमानीव हि भवन्ति सतां मनांसि।"[3]

सज्जनों के सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि सत्पुरूष अपने लिये नहीं अपितु दूसरों के सुख के लिए सदैव प्रयत्नशील रहा करते हैं। वे अपने कार्यों के प्रति उदासीन और दूसरों के हित के लिये सतत् तत्पर रहा करते हैं-

"स्वार्थालसाः परोपकारदक्षाश्च प्रकृतयो भवन्ति भव्यानाम्।।"[4]

शूरवीर अपने कर्मो से अपनी शक्ति को प्रदर्शित करते हैं। वे अपनी शक्ति का अनर्गल प्रलाप वाणी के द्वारा नहीं करते। जैसा कहा है-

"भुजे वीर्यम् निवसति न वाचि।।"[5]

यही नहीं वीर पुरूष परोपकार की प्रतिज्ञा करके पीछे नहीं हटा करते। अन्यत्र भी

---

1 हर्षचरितम्-द्वितीय उच्छ्वास
2 हर्षचरितम्-तृतीय उच्छ्वास
3 हर्षचरितम्-तृतीय उच्छ्वास
4 हर्षचरितम्-तृतीय उच्छ्वास
5

इसी प्रकार के कथनों का प्रयोग किया गया है। महाकवि बाणभट्ट ने भी इसी अभिप्राय को सुस्पष्ट करते हुए कहा है-

"वीराणां त्वपुनरूक्ताः परोपकाराः।।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाकवि बाणभट्ट ने 'हर्षचरितम्' में सूक्ति रुप में मनुष्य के लिये जीवनोपयोगी नीति वचनों का भण्डार रख छोड़ा है, जो पाठ्को के मन को सहसा अपनी ओर आकर्षित कर लेता है तथा उन्हें यह शिक्षा भी देता है कि किन-किन माध्यमों से मनुष्य अपने जीवन को उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर बना सकता है।

महाकवि बाणभट्ट की एक अन्य कृति 'कादम्बरी' भी गद्य काव्य का एक अनुपम ग्रन्थ है। कादम्बरी के सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'कादम्बरी रसज्ञानाम् आहारोऽपि न रोचते' यह कथन कादम्बरी पर एकदम सटीक बैठ्ता है, क्योंकि कादम्बरी में कथा को रसपेशल और जनहितकारी बनानें के लिये स्थान-स्थान पर नीति वाक्यों का सूक्ति के रूप में जो प्रयोग किया गया है वह मणिकांचन संयोग को व्यक्त करता है। जैसे कवि नें कहा है कि बिना कारण ही बैर करनें वाले दुर्जनों से सभी भयभीत रहते हैं। ऐसे दुर्जन व्यक्ति से सदैव दूर रहना चाहिये चाहें वह व्यक्ति विद्यादि से अलंकृत ही क्यों न हो।इसी सदुक्ति को स्पष्ट करते हुये कहा है-

"अकारणाविष्कृतवैरदारूेणादसज्जनात्कस्य भयं न जायते।
विषं महाहेरिव यस्य दुर्वचः सुदुःसहं संनिहितं सदा मुखे।।"[2]

नीतिशतक में भी महाकवि भर्तृहरि नें इसी प्रकार दुर्जनों से दूर रहनें की सलाह देते हुये कहा है-

"दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलंकृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्प किमसौ न भयंकरः।।"[3]

बाणभट्ट ने इसी प्रकार कादम्बरी में सहज सूक्तियों के माध्यम से नीति एवं उपदेशात्मक तथ्य प्रतिपादित किये हैं। जैसे कहा है-

"अतिकष्टास्ववस्थास्वपि जीवितनिरपेक्षा न भवन्ति खलु जगत प्राणिनां प्रवृत्तयः।।"[4]

अभिप्राय यह है कि चाहें जितनी भी कष्ट की दशा रहे प्राणों का मोह फिर भी नहीं छूटता। मनुष्य अपने जीवन की आशा मृत्यु पर्यन्त नहीं छोड़ता जबकि मृत्यु ही

शाश्वत सत्य है और मृत्यु के बाद सभी कष्टों से मुक्ति मिल जाती है। अतएव चार्वाक दर्शन में 'मृत्युः एव अपवर्गः कहा गया है।

इस संसार में सभी प्राणियों के लिये जीवन से अधिक और कोई वस्तु प्रिय नहीं है। उसे बनाये रखनें के लिये सभी प्राणी अनेकानेक संघर्षो से जूझते हुये एवं कष्टों को भोगते हुये भी सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। अतएवं कहा है-

"सर्वथा न कंचिन्न खली करोति जीवित तृष्णा।।"[1]

अभिप्राय यह है कि जीवन का लोभ सभी को दुष्ट बना देता है अर्थात् जीवन के लिये मनुष्य कर्तव्य और अकर्तव्य को भी भूल जाते हैं।

सज्जनों की विशेषता बताते हुये कहा है कि सज्जनों का मन अकारण मित्रता भाव एवं करूणा से आर्द्र होता है। सज्जनों में दूसरों के दुःखों को दूर करने की अभिलाषा निरन्तर बनी रहती है। दूसरों के कष्टों को देखकर वे स्वयं दुःखी हो जाते हैं और उनके निवारण के लिये वे प्रयास करते रहते हैं। इसी कारण उनके तेज को दैव भी तिरस्कृत करने का साहस नहीं करते। अतएवं कहा है-

"प्रायेणाकारणमित्राण्यतिकरूणार्द्राणि सदा खलु भवन्ति सतां चेतांसि।।"[2]

तथा

"प्रायो महाभूतानामपि दुरभिभवानि भवन्ति तेजांसि।।"[3]

निश्चित रूप से यही कारण है कि महामुनियों की सेवा अमोघ फल देने वाली होती है, क्योंकि महामुनियों की सेवा में लगाया गया समय कभी व्यर्थ नहीं जाता। जैसा कहा है-

"अमोघ फलाहि महामुनि सेवा भवन्ति।।"[4]

अतएव धर्मपरायण सज्जन महापुरूषों की सेवा में जो लोग श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक लगे रहते हैं और सदैव उन्हीं का सामीप्य प्राप्त किये रहते हैं, तो ऐसे मनुष्यों को सभी इच्छित फल स्वयं प्राप्त हो जाया करते हैं। क्योंकि कि सज्जन महापुरूषों का साविध्य या दर्शन मात्र ही अमोघ फलदायक होता है-

"धर्मपरायणानां हि समीपसंचारिण्यः कल्याण संपदो भवन्ति।।"[5]

---

1 कादम्बरी
2 कादम्बरी
3 कादम्बरी
4 कादम्बरी
5 कादम्बरी

पूर्व जन्म में किये हुये कर्मो का फल मनुष्य को अपने दूसरे जन्म में प्राप्त होता है, क्योंकि किये हुये कर्म कभी कष्ट नहीं होते, ऐसी प्राचीन काल से मान्यता चली आ रही है कि किये हुये कर्मों की एक परम्परा चलती रहती है और मनुष्य को उन्हें भोगना पड़ता है। जैसा कहा कि जन्मान्तर में किये गये कर्म पुरुष को इस जन्म में फल देते हैं–

"जन्मान्तरकृतं हि केर्म फलमुपनयति पुरूषस्येहजन्मनि।।"[1]

कल्याण अथवा अकल्याण की परम्परा अबाध गति से चलती रहती है अर्थात् सम्पत्ति–सम्पत्ति का अनुसरण करती है और विपत्ति–विपत्ति का। विपत्ति जब आती है तो अकेले नहीं आती अपितु एक के बाद एक निरन्तर विपत्तियाँ मनुष्य का घेर लेती हैं। जैसा अन्यत्र स्पष्ट किया गया है–

"एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहम् पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितम् मे छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति।।"[2]

और भी कहा है–

"क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्ण धनक्षये दीप्यति जाठराग्निः।
आपत्सु बैराणि समुल्लसन्ति छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति।।"[3]

इसी भाव को ही बाणभट्ट ने भी उपस्थित किया है–

"यद् विपत् विपदं सम्पत् सम्पदं अनुबधनाति इति।।"[4]

बाणभट्ट ने अपनी कृति में प्रसंगानुसार सर्वत्र मानव जीवन के समुचित दिशा निर्देश के लिये सारगर्भित उपदेश तथा नीतियों का समावेश किया है। परन्तु उपदेशात्मक नीतिपरक वचनों के लिये शुकनासोपदेश अद्वितीय है। कादम्बरी कथा के इस भाग में मानव जीवन को सुखद तथा शान्तिप्रद बनाये रखनें के लिये बहुत ही सुन्दर नीतियों का कथन किया गया है। इसी क्रम में कहा गया है कि मानव जीवन की सभी अवस्थाओं में युवावस्था एक ऐसा पड़ाव है जहाँ से विवेक और अविवेक का उदय होता है। अतएव कहा कि युवावस्था में स्वभावतः एक ऐसा अन्धकार उत्पन्न होता है जो न सूर्य की प्रभा से और न ही रत्नों तथा दीपों के प्रकाश से दूर होता है अर्थात युवावस्था एक ऐसा

अन्धकार रूपी गर्त है जो किसी भी प्रकार से प्रकशित नहीं होता इसलिये इस नाजुक अवस्था में बहुत ही विवेकपूर्वक कार्य करना चाहिये–

"निसर्गत एव अभानुभेद्यमरत्नालोकच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्"[1]

युवावस्था में ही यदि धन सम्पत्ति भी प्राप्त हो जाय तो यह अन्धकार और भी बढ जाता है, क्योंकि लक्ष्मी का मद शान्ति को भंग करने वाला होता है। वस्तुत· जन्मजात प्रभुता, अभिनव यौवन, अनुपम सौन्दर्य और असाधारण शक्ति, ये सभी अनर्थ के मूल होते हैं। यदि इनमें से एक भी रहे तो वह अकेला ही अनर्थ का जनक होता है और जहाँ चारो विद्यमान हों वहाँ तो चर्चा ही क्या। जैसा कहा है–

"गर्भेश्वरत्वमभिनवयौवनत्वमप्रतिमरूपत्वममानुषशक्तित्वञ्चेति महतीयं।
खल्वनर्थपरम्परा। सर्वाविनयानामेकैकमप्येषामायतनम्, किमुत समवायः।।"[2]

अन्यत्र भी इसी भाव को प्रकट किया गया है–

"यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।
एकैकमनवरथानं किं पुनस्तच्चतुष्टयम्।।"[3]

उच्च वंश में उत्पन्न होने पर भी एवं अच्छी शिक्षा प्राप्त कर लेने पर भी दुष्ट व्यक्ति की दुष्टता घटती नहीं है अपितु बढ़ती ही रहती है। जैसा कहा है–

"अकारणञ्च भवति दुष्प्रकृतेरन्वयः श्रुतं वा विनयस्य।।"[4]

अभिप्राय यह है कि मनुष्य के दुष्ट स्वभाव में उसके सद्वंश और शास्त्र ज्ञान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि स्वभाव को बदलना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसका कारण यह है कि सभी गुणों का अतिक्रमण करके स्वभाव सबसे ऊपर रहता है। अतएव कहा गया है–

"स्वभावो दुरतिक्रमः अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते।।"

नीतिशतक में भी कहा गया है–

"पयापानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम्।।"

जिस प्रकार अग्नि कभी काष्ठ से तृप्त नहीं होती और नदियों के जल से कभी

---

1 शुकनासोपदेश–
2 शुकनासोपदेश
3 कादम्बरी शुकनासोपदेश टीका–
4 शुकनासोपदेश–

समुद्र की तृप्ति नहीं होती, उसी प्रकार धन सम्पत्ति से किसी को सन्तोष नहीं होता। मनुष्य के पास चाहें जितनी धन सम्पत्ति हो वह कभी उससे सन्तुष्ट नहीं होता अपितु और अधिक की आशा हमेशा बनाये रखता है। जैसा कहा है-

"तोयरराशिसम्भवापि तृष्णा संवर्द्धयति।।"[1]

अभिप्राय यह है कि यह लक्ष्मी (धन-सम्पत्ति) समुद्र से उत्पन्न होनें पर भी लोगों की प्यास को और बढाती रहती है अर्थात् वे लक्ष्मी को प्राप्त कर लेने के अनन्तर भी और प्राप्त करनें की अभिलाषा से सदैव ग्रसित रहते हैं।

राजनीति की दृष्टि से नीति प्रदर्शित करते हुये कहा है कि प्रारम्भ में ही जिस राजा का प्रताप सुदृढ़ हो जाता है आगे चलकर उसके आदेश त्रिकालदर्शी सिद्ध योगियों के वचनों के समान अमोघ होते हैं-

"आरूढ प्रतापो हि राजा त्रैलोक्यदर्शी इव सिद्धादेशो भवति।।"[2]

तात्पर्य यह है कि जो राजा अपने प्रारम्भिक काल से ही अपने शौर्य को स्थापित कर देता है वह राजा अपने प्रताप को बनाये रखने मे सफल रहता है और उसके आदेशों का पालन उचित प्रकार से होता है और वह राजा दूरदर्शी माना जाता है।

इस प्रकार बाणभट्ट ने अपने कथा साहित्य में सामाजिक हित की दृष्टि से बहुविध नीतिवचनों का सूक्ति रूप में प्रयोग करके समाज के मनुष्यों को सन्मार्ग पर प्रेरित करने का सफल प्रयास किया है, जो सर्वकालिक प्रशंसनीय है।

कथा साहित्य में 'पुरूष परीक्षा' नामक ग्रन्थ भी अत्यन्त नीति परक उपदेशों का पिटारा है। इसमें वर्णित संक्षिप्त रूप से चार कथाओं में नीति कथन समाज के लिये अत्यन्त उपयोगी एवं सारगर्भित हैं। इसमें कहा गया है कि सिंह और सत्पुरूष ये दोनों अपने पुरूषार्थ पर जीवित रहते हैं, दूसरों के अधीन तो कायर, शिशु और स्त्रियाँ ही जीवन निर्वाह करते हैं-

"सिंहः सत्पुरूषाश्चैव निजदर्पोपजीविनः। पराश्रयेण जीवन्ति कातराः शिशवः स्त्रियाः।।"[3]

क्षत्रियों के लिये नीति कही गयी है कि जिसका बल अपने समतुल्य हो उससे ही युद्ध करना चाहिये और जहाँ पर विजय में संदेह हो वहाँ युद्ध नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार के युद्ध में लोग उसी प्रकार नष्ट हो जाते है जिस प्रकार आग में गिरकर

"युक्तं तुल्य बलं युद्धं यत्रास्ति जयसंशयः।
प्रबलेऽरिबले वहनौ के पतन्ति पतंगवत्"[1]

परन्तु इसके विपरीत प्राणों की रक्षा के लिये जो व्यक्ति संग्राम से भाग जाते हैं वे भी मृत्यु को प्राप्त करते है। अतः कायरता दिखाना वीर पुरूषों का शोभा नही देता। पुरूषार्थियों एवं स्वाभिमानियों के लिये यह कदापि उचित नहीं है, क्योंकि संग्राम में शहीद होना उचित है किन्तु उससे पलायन करना कायरता है। जैसा कहा है–

"प्राणत्राणाय संग्रामात् पलायन्तेऽपि ये नराः।
मृत्युरावश्यकस्तेषां कार्यण्यमतिरिच्यते।।"[2]

धन के सम्बन्ध में नीति कही है कि मनुष्य का एकमात्र परम मित्र धन ही होता है, क्योंकि जब धन होता है तो सभी मित्र हो जाते हैं और धन के न रहने पर सभी साथ छोड़ देते हैं, यहाँ तक कि धन के अभाव मे परिवार भी विघटित होने लगता है। अतः धन को ही व्यक्ति का परम मित्र माना जा सकता है–

"एकाकी पुरूषः श्रीमान् धनं तस्य परं सुहृत्।
अन्ये च सुहृदः सर्वे धनमूलं कुटुम्बकम्।।"[3]

कृपण व्यक्ति धन रहते हुये भी दान और भोग से उत्पन्न होने वाले सुख का कभी उपभोग नहीं कर पाते हैं, क्योंकि जो व्यक्ति उत्साहपूर्वक दान नहीं करता और न इच्छापूर्वक उसका उपभोग ही करता है, उसका धन दुःख तथा खेद के लिये ही हुआ करता है। क्योंकि धन की तीन स्थितियाँ होती हैं– दान, भोग एवं नाश। जैसा कहा है–

"अर्जने लभते खेदं गते शोकं च विन्दति।
नाप्नोति कृपणो वित्ते दानभोगभवं सुखम्।।"[4]

इस प्रकार यह कहा गया है कि किसी कंजूस (कृपण) व्यक्ति के हाथ में गई हुई सम्पदा कष्टदायी ही हुआ करती है। वह हृदय में खेद को ही उत्पन्न करती है। वह न तो मंगल कार्य ही करता है जिससे उसके यश का भी हरण हो जाता है तथा ग्लानि को उत्पन्न करता हुआ वह सभी भोगों से रहित हो जाता है। जैसा कहा है–

---

1 पुरूष परीक्षा– युद्धवीरकथा– श्लोक 6
2 पुरूष परीक्षा– युद्धवीरकथा– श्लोक 7
3 पुरूष पीरक्षा– कृपणकथा– श्लोक 2
4 पुरूष परीक्षा– कृपणकथा– श्लोक 5

"जनयति हृदि खेदं मङ्गलं न प्रसूते, परिहरति यशांसि ग्लानिमाविष्करोति।
उपकृतिरहितानां सर्वभोगच्युतानां कृपणकरगतानां संपदां दुर्विपाकः।।"[1]

अतः धन की तीन गतियों की ओर नीतिशतक में भी स्पष्ट संकेत किया गया है-

"दानं भोगोनाशस्तिस्त्रे गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।।"[2]

धन प्राप्ति के लिये उद्योग करना नितान्त आवश्यक है। पुरुषार्थी व्यक्तियों को ही सभी सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। आलसियों को कभी भी कार्य में सिद्धि नहीं प्राप्त होती। अतः उद्योग को ही परम पुरुषार्थ मानकर कहा है-

"उद्योगिनं पुरूषसिहमुपैति लक्ष्मी-
दैंवं हि दैवमिति कापुरूषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरू पौरूषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः।।"[3]

और भी कहा गया है-

"सुवर्ण पुष्पाम् पृथिवीम् चिन्वन्ति पुरूषास्त्रयः।
सूरश्च कृत विद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।।"

नीति की दृष्टि से कथा साहित्य के अन्तर्गत प्रमुख स्थान आचार्य विष्णुशर्मा के 'पंचतन्त्र' नामक ग्रन्थ का माना जाता है। क्योंकि इसमें कथाओं के माध्यम से ही राजपुत्रों को विभिन्न प्रकार की जीवनापयोगी नीतियों का उपदेश दिया गया है। पंचतंत्र में विभिन्न माध्यमों को आधार बनाकर नीतियों का प्रतिपादन यद्यपि राजपुत्रों को शिक्षित करने के लिये किया गया था। परन्तु अपने परवर्ती काल में वहीं नीतियाँ सर्वजनहिताय एवं लोकप्रिय हो गईं। पंचतंत्र स्वयं में नीतियों एवं उपदेशात्मक वाक्यों का आकार ग्रन्थ माना जा सकता है, जिसमें मनुष्य जीवन को सुखमय एवं शान्तिप्रद बनाये रखने के लिये जीवन के हर पहलू से सम्बन्धित नीतियों का कथन किया गया है। जैसा कि पंचतन्त्र में स्वयं आचार्य विष्णु शर्मा ने कहा है कि यदि छः महीने में आपके पुत्रों को नीतिशास्त्र का ज्ञाता न बना दूँ, तो अपना नाम त्याग दूँगा। यह वाक्य ही इसकी उपयोगिता को सिद्ध करता है। जैसा पंचतन्त्र में कहा है-

---

1 पुरुष परीक्षा- कृपणकथा- श्लोक 7

2 नीतिशतक- श्लोक 44

3 पंचतन्त्र- मित्रसम्प्राप्ति- श्लोक 135

"एतास्तव पुत्रान्मासषट्केन यदि शास्त्रज्ञान्न करोमि, ततः स्वनाम त्यागं करोमि।।"[1]

इस कथन से स्वतः सिद्ध होता है कि पंचतन्त्र नीतिपरक गद्य काव्य का एक प्रसिद्ध एवं सर्वोपयोगी ग्रन्थ है। इस सम्बन्ध में पंचतन्त्र में ही कहा गया है-

"अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं श्रृणोति च।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन्।।"[2]

नीति कही है कि इस असार ससार में धन ही एक परम सार वाली वस्तु है, क्योंकि धन से स्वर्ग का भी मार्ग खुल जाता है और संसार में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो धन के द्वारा सिद्ध न होती हो। अत. बुद्धिमान मनुष्य का यह कर्तव्य है कि धर्मानुकूल यत्नपूर्वक धन का उपार्जन करे। जिसके पास धन होता है उसी के सभी मित्र बन्धु होते हैं, वही विद्वान समझा जाता है ओर उसे ही लोग सर्वश्रेष्ठ पुरूष की संज्ञा देते हैं। अत· मनुष्य के पास धन का होना परम आवश्यक है, क्यों कि धन के बिना वह कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता है। जैसा कहा है-

"यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः।।"[3]

उक्त नीति का अभिप्राय यह है कि जो अपने नहीं होते धन होने पर वही सब अपने सगे हो जाते हैं और धनहीन पुरूष के साथ अपने भी दुर्जनों के समान व्यवहार करने लगते हैं। वस्तुतः धन की यही महिमा है कि अपूज्य भी पूजनीय और न प्रणाम करने योग्य व्यक्ति भी प्रणम्य हो जाता है।

बुद्धिमान मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि स्वल्प वस्तु की प्राप्ति के लिये अधिक का नाश न करे। उसकी यही बुद्धिमत्ता है कि थोड़ी सी वस्तु की अपेक्षा अधिक वस्तु की रक्षा करे। क्योंकि अल्प वस्तु के लिये प्रचुर का विनाश कदापि उचित नहीं। जैसा कहा है-

"न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः।
एतदेवात्र पण्डित्यं यत्स्वल्पाद्भूरिक्षणम्।।"[4]

जो मनुष्य अपने जीवन में विज्ञान, शौर्य, ऐश्वर्य आदि सद्गुणों से युक्त होकर सम्मानूपूर्वक क्षणमात्र भी इस संसार में जीवन व्यतीत करता है उसी का जीवन वास्तविक जीवन कहा जाता है अन्यथा कोआ भी बलि भक्षण करता हुआ बहुत दिनों तक जीवित

---

1 पचतन्त्र-कथामुखम् से उद्धृत
2 पचतन्त्र कथामुखम्- श्लोक 10
3 पचतन्त्र मित्रभेद- श्लोक 3
4 पचतन्त्र मित्रभेद- श्लोक 19

रहता है। जैसा कहा है–

"यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथित मनुष्यै-
विज्ञानशौर्यविभवार्यगुणैः समेतम्।
तन्नाम जीवितमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते।।"[1]

संसार का यह नियम है कि मनुष्य अपने समीप में रहने वाले व्यक्ति को ही अधिक मानते हैं एवं उन्हीं का आश्रय लेते हैं, चाहें वह विद्यारहित, अकुलीन और संस्कारहीन ही क्यों न हो। क्यों कि प्रकृति का यह नियम है कि जो समीप में होता है वही अपनाया जाता है। जिस प्रकार स्त्रियाँ और लतायें अपने समीप स्थिति पुरूष और वृक्ष पर ही परिवेष्टन करती हैं। जैसा कहा है–

"आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं विद्याविहीनमकुलीनमसंस्कृतं वा।
प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च यत्पार्श्वतो भवति तत्परिवेष्टयन्ति"[2]

मनुष्य को समय, स्थान, देश, काल को ध्यान में रखकर अपनी बात कहनी चाहिये। यदि इन सभी बातों का ध्यान न रखकर कोई बात कही जाती है तो कहने वाला व्यक्ति तिरस्कार का पात्र हो जाता है, चाहें वह व्यक्ति देवताओं के गुरू बृहस्पति ही क्यों न हों। अत· कुछ भी कहने से पूर्व अन्य पूर्वापर पर विचार करने के उपरान्त ही बोलना चाहिये। जैसा कहा है–

"अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन।
लभते बह्वज्ञानमपमान च पुष्कलम्।"[3]

राजनीति के दृष्टिकोण स पं0 विष्णु शर्मा ने कहा है कि कोई मंत्रणा दो लोगों के मध्य ही करनी चाहिये, क्योंकि दो लोगों में की गई मंत्रणा गुप्त और स्थिर रहती है। छः कानों में गई हुई मंत्रणा गुप्त नहीं रहती, क्योंकि अधिक लोगों के बीच हुई मंत्रणा के विस्तार की सम्भावना बनी रहती है। और उसकी गुप्तता के भंग होने का डर हमेशा बना रहता है इसलिये गुप्त मंत्रणा केवल दो लोगों के मध्य ही करनी चाहिये–

"षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णः स्थिरो भवेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन षट्कर्ण वर्जयेत् सुधीः।"[4]

शाश्वत नीति का कथन किया है कि भय या हर्ष के प्राप्त होने पर जो मनुष्य

किसी कार्य को करने में जल्दबाजी (शीघ्रता) नहीं दिखाता वह कभी भी अपने कार्य में असफल होकर दु:ख को प्राप्त नहीं करता। जैसा कहा है–

"भये वा यदि वा हर्षे सप्राप्ते यो विमर्शयेत्।
कृत्यं न कुरूते वेगान्न स संतापमाप्नुयात्।।"[1]

अभिप्राय यह है कि जो मनुष्य खुशी या दु:ख के उन्माद में उत्तेजित होकर कोई कार्य नहीं करता अपितु विवेकपूर्वक विचार करने के उपरान्त कोई कार्य करता है तो वह व्यक्ति कभी भी किसी कार्य में असफल नहीं होता। क्योंकि विवेकपूर्वक किये गये कार्य में मनुष्य बुद्धि का प्रयोग करता है और शीघ्रता में व्यक्ति उत्तेजित होकर कार्य करता है। इसलिये विचारपूर्वक कार्य करना ही श्रेयष्कर होता है।

अपने से शक्तिहीनों को पीड़ित करना और उनसे बैर रखना यह दुष्ट एवं नीच पुरूषों का कार्य है, क्योंकि महान लोग अपने से शक्तिहीनों की रक्षा करते हैं उनसे बैर नहीं रखते और न ही उन्हें कभी पीड़ित या दुःखी करते हैं। महान लोग सदैव अपने बराबर वालों को ही पराक्रम दिखाते हैं, वे अपने से निम्न लोगों के प्रति सदैव विनम्रता का ही व्यवहार करते हैं। जैसे शक्तिशाली वायु कोमल, नीचे झुके हुये और सभी प्रकार से नम्र घास को नहीं उखाड़ती। जैसा कहा है–

"तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः।
स्वभाव एवोन्नतचेतसामयं महान्महत्स्वेव करोति विक्रमम्।।"[2]

इसी नीति को आगे बढाते हुये कहा है कि गजराज के मस्तक पर सदैव मद के लोभी भँवरे मँडराते रहते हैं और अपने पैरों का प्रहार उसके मस्तक पर करते रहते हैं। परन्तु गजराज उन पर क्रोध नहीं करता, क्योंकि बलवान व्यक्ति अपने समान बलवान पर ही क्रोध करता है। इस प्रकार के उच्च विचार वालों का स्वभाव भी इसी तरह का होता है कि वे अपने समान व्यक्ति पर ही क्रोध अथवा प्रेम प्रदर्शित करते हैं। जैसा कहा है–

"गण्डस्थलेषु मदवारिषु बद्धराग-
मत्तभमद्भ्रमरपादतलाहतोऽपि।
कोपं न गच्छति नितान्तबलोऽपि नाग-
स्तुल्ये बले तु बलवान् परिकोपमेति।।"[3]

मनुष्य को भाग्य के प्रतिकूल होने पर भी किसी भी परिस्थिति में धैर्य का त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि धैर्य बनाये रखने पर भाग्य की प्रतिकूलता स्वयं समय आने

---

1 पचतन्त्र मित्रभेद– श्लोक 118
2 पचतन्त्र मित्रभेद– श्लोक 133
3 पचतन्त्र मित्रभेद– श्लोक 134

पर दूर हो जाती है। जैसे समुद्र में जहाज के डूबने पर भी व्यापारी अपने व्यापार करने की अभिलाषा कभी नहीं छोड़ते। वे निरन्तर उद्योग करने में लगे रहते हैं और सही वक्त का इंतजार करते हुये धैर्य को बनाये रखते हैं, तो निश्चित रूप से उन्हें अपने प्रयत्नों में सफलता अवश्य मिलती है। जैसा कहा है–

"त्याज्यं न धैर्य विधुरेऽपि दैवे धैर्यात्कदाचित्स्थितिमाप्नुयात्सः।।
याते समुद्रेऽपि हि पोतभङ्गेसायात्रिको वाञ्छति कर्म एव।।"[1]

इरी नीति में आगे कहा है कि उद्योग से ही लक्ष्मी की प्राप्ति होती है और भाग्य से ही सब कुछ प्राप्त होता है यह कापुरूष कहा करते हैं, क्यों कि जो भाग्य पर आश्रित न रहकर अपनी शक्ति के अनुसार पुरूषार्थ करते हैं, उन्हें ही जीवन में सफलता प्राप्त होती है। और यदि पुरूषार्थ करने पर भी सफलता न मिले तो इसे भाग्य का लिखा नहीं समझना चाहिये, अपितु यह अनुसंधान करना चाहिये कि मेरे प्रयत्न में तो कोई न्यूनता नहीं रह गई, यही नीति भी है। जैसा कहा है–

"उद्योगिनं सततमत्र समेति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति काव पुरूषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरू पौरूषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः।।"[2]

मूर्खो को कभी उपदेश नहीं देना चाहिये, क्योंकि उनको दिया गया उपदेश उनके क्रोध को ही बढ़ाता है, उसे शान्त नहीं करता। अत· सभी व्यक्तियों को उपदेश नहीं देना चाहिये। बल्कि यह विचार करने के पश्चात् ही किसी को उपदेश देना चाहिये कि वह उस उपदेश का पात्र है अथवा नहीं। मूर्खो एवं दुष्टों को दिया गया उपदेश उसी प्रकार है जिस प्रकार साँप को दूध पिलाना। क्योंकि साँप को कितना भी दूध पिलाया जाय इससे विष में कोई न्यूनता नहीं आती अपितु उसमें विष वृध्दि ही होती है। जैसा कहा है–

"उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम्।।"[3]

जिस स्थान पर बिना किसी प्रयोजन के ही बहुत आदर प्राप्त हो वह निश्चित रूप से संशय को जन्म देता है और इसका परिणाम भी सुख देने वाला नहीं होता है। अतः अकारण प्राप्त होने वाले सम्मान पर अवश्य ही विचार करना चाहिये, क्योंकि इस प्रकार का सम्मान मनुष्य को किसी मुसीबत में डालने वाला भी हो सकता है। अतः मनुष्य को

---

1 पचतन्त्र – मित्रभेद– श्लोक 216
2 पचतन्त्र – मित्रभेद– श्लोक 217

सतर्क रहना आवश्यक है। जैसा कहा है-

"अत्यादरो भवेद्यत्र कार्यकारणवर्जितः।
तत्र शङ्का प्रकर्तव्या परिणामऽसुखावहा।।"[1]

मनुष्य की उन्नति और हित की भावना से यह नीति कही गई है कि मनुष्य को प्रत्येक परिस्थिति में धैर्य बनाये रखना चाहिये। और साथ ही बुद्धि को भी प्रत्येक परिस्थिति मे संतुलित रखना चाहिये। कितनी भी विपत्तियाँ क्यों न आवें बुद्धि के संतुलन से एवं धैर्य धारण करने से वे विपत्तियाँ स्वयं समय के साथ दूर होती चली जाती है। जो मनुष्य इस प्रकार का आचरण करता है वही महान होता है। जैसा कहा है-

"व्यसनेष्वेव सर्वेषु यस्य बुद्धिर्न हीयते।
स तेषां पारमभ्येति तत्प्रभावादसंशयम्।।"[2]

मनुष्य के लिये यह सर्वोत्तम नीति है कि सम्पत्ति और विपत्ति दोनों परिस्थितियों में समान भाव रखना चाहिये। मनुष्य को चाहिये कि सम्पत्ति रहने पर बहुत अधिक प्रसन्न न हो और विपत्ति आने पर ज्यादा दु.खी न हो। जैसे सूर्य उदय एवं अस्त दोनों परिस्थितियों में समान लाल वर्ण का ही रहता है। जैसा कहा है-

"संपत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।
उदये सविता रक्तो रक्तश्चास्तमये तथा।।"[3]

मनुष्य को जीवन में सुख शान्ति प्राप्त करने के लिये यह अत्यावश्यक नीति कही गई है कि मित्रता और सम्बन्ध बनाने में इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये कि जो धन सम्पत्ति में समान हो और जो कुल में समान हो उन्हीं के साथ मैत्री एवं विवाहादि सम्बन्ध बनाने चाहिये। क्योंकि जो असमान व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है या मित्रता करता है, वह अन्त में अपमान का पात्र होता है। इसलिये मित्रता या सम्बन्ध अन्त में कष्ट या अपमान के जनक न बनें इस बात पर गौर करने के पश्चात् ही मनुष्यों को कोई कदम उठाना चाहिये। जैसा कहा है-

"ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम्।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः।।"[4]

नीतिकार ने दुष्टों और सज्जनों को मित्रता की तुलना शरीर की छाया से करते

---

1 पचतन्त्र - मित्रभेद- श्लोक 446
2 पचतन्त्र - मित्रसम्प्राप्ति- श्लोक 6
3 पचतन्त्र - मित्रसम्प्राप्ति- श्लोक 7
4 पचतन्त्र - मित्रसम्प्राप्ति- श्लोक 29

हुये कहा है कि दुष्टों और सज्जनों की मित्रता दिन के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध की छाया के समान हुआ करती है। जैसे दुष्टों की मित्रता पूर्वार्द्ध की छाया के समान प्रारम्भ में बड़ी और फिर धीरे-धीरे घटती जाती है परन्तु इसके विपरीत सज्जनों की मित्रता दोपहर (उत्तरार्द्ध) की छाया के समान पहले छोटी और शनैः-शनैः बढ़ती जाती है। इस उदाहरण को ध्यान में रखते हुये मित्रता की नीति को स्पष्ट करते हुये कहा है-

"आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छयेव मैत्री खल सज्जनानाम्।।"[1]

सामाजिक दृष्टि से यह नीति कही गई है कि जिस घर में जाने पर प्रसन्नता न हो, आँखों में स्नेह न हो और न कोई उठकर सम्मान करें तथा न ही मधुर वचनों से स्वागत करे, ऐसे घर में कभी नहीं जाना चाहिये, चाहें उस घर में स्वर्ण की वर्षा ही क्यों न होती हो। क्योंकि ऐसे घर में जाने पर अपमान की प्राप्ति ही होती है और अपमान से बढ़कर मनुष्य के लिये कोई अन्य ग्लानि नहीं हो सकती। इसलिये सामाजिकों के लिये यह नीति स्पष्ट की है-

"साभ्युत्थानक्रिया यत्र नालापा मुधराक्षराः।
गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्यं न गम्यते।।"[2]

जीवन में सदैव अपने सम्मान एवं स्वाभिमान को बनाये रखने के लिये यह अत्यावश्यक नीति है कि अपने परिश्रम से उपार्जित धन का उपयोग धीरे-धीरे आवश्यकतानुसार रसायन के समान करे। वाहवाही में या अति उत्साह में अनादर के साथ उसका दुरूपयोग कभी न करे। इस नीति का पालन करने से मनुष्य कभी भी जीवन में कष्ट को नहीं प्राप्त करता और समाज में सदैव उसका सम्मान बना रहता है और वह अपने स्वाभिमान की रक्षा करने में भी हमेशा समर्थ रहता है। जैसा कहा है-

"शनैः शनैश्च भौक्तव्यं स्वयं वित्तमुपार्जितम्।
रसायनमिव प्राज्ञैर्हलया न कदाचन्।।"[3]

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि सम्पत्ति की वृद्धि होने के साथ ही साथ लोगों में मदान्धता की भी वृद्धि होती जाती है और सम्पत्ति के न रहने पर वह मद ज्वर की भाँति शनैः-शनैः उतर जाता है। जो लोग इस प्रकार का आचरण करते हैं तो ऐसे व्यक्तियों के साथ मित्रता नही करनी चाहिये। मित्रता के योग्य तो वही व्यक्ति होता है जिसका मन ऐश्वर्य पाकर भी विकार को नहीं प्राप्त होता। जैसा कहा है-

---

1 पंचतन्त्र - मित्रसम्प्राप्ति- श्लोक 39
2 पंचतन्त्र - मित्रसम्प्राप्ति- श्लोक 68
3 पंचतन्त्र - मित्रसम्प्राप्ति- श्लोक 83

"विकारं याति नो चित्त वित्ते यस्य कदाचन्।
मित्र स्यात्सर्वकाले च कारयेन्मित्रमुत्तमम्।।"[1]

मित्र के सम्बनध में और भी कहा है कि जो सभी अवस्थाओं में मित्रता को निभाता रहता है और विपत्ति आने पर भी जो साथ नहीं छोड़ता, वस्तुतः इसी प्रकार का व्यक्ति मित्र बनाने के योग्य होता है। क्योंकि ऐश्वर्य युक्त दिनो में तो दुष्ट भी मित्र हो जाया करते हैं परन्तु वे विपत्ति में साथ नहीं निभाते। अत. सच्चे मित्र की मित्रता ही सफलीभूत होती है-

"आपत्काले तु संप्राप्ते यन्मित्र मित्रमेव तत्।
वृद्धिकाले तु संप्राप्ते दुर्जनोऽपि सुह्रद्भवेत्।।"[2]

जो मनुष्य स्थिर चित्त, धीर, मनस्वी और पुरूषार्थी होते हैं उनके लिये स्वदेश और विदेश दोनों समान होते हैं। वह जिस सथान पर भी रहते हैं उसी को अपने गुणों से अपने अधीन कर लेते हैं। जैसे सिंह जिस वन में प्रवेश करता है उसी वन में अपना अधिकार स्थापित कर लेता है-

"को धीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतो
यं देश श्रयते तमेव कुरूते बाहुप्रापार्जितम्।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणैः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररूधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः।।"[3]

अभिप्राय यह है कि गुणी व्यक्ति के लिये स्थान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह जहाँ भी जाता है उसी स्थान पर अपने गुणो से लोगों को पराजित करके अपना स्थान स्वयं बना लेता है।

जो व्यक्ति बुद्धिमान, उत्साही, पुरूषार्थी एवं प्रियवादी होता है लक्ष्मी स्वयं उसके पास निवास करने के लिये आ जाती है। इस नीति का तात्पर्य यह है कि सद्गुणी व्यक्ति के पास लक्ष्मी स्वयं आ जाती है, यदि वह पुरूषार्थ के साथ उद्योग में लगा रहता है। अतएव कहा है-

"उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम्।
शूरं कृतज्ञ दृढ सौहृद च लक्ष्मीः स्वयं मार्गति वासहेतोः।।"[4]

वस्तुतः जिस प्रकार एक हाथ से कभी ताली नहीं बजती ठीक उसी प्रकार उद्योग

---

[1] पंचतन्त्र - मित्रसम्प्राप्ति- श्लोक 114
[2] पचतन्त्र - मित्रसम्प्राप्ति- श्लोक 116
[3] पचतन्त्र - मित्रसम्प्राप्ति- श्लोक 124
[4] पचतन्त्र - मित्रसम्प्राप्ति- श्लोक 126

के बिना भाग्य भी फल नहीं देता–

"यथैकेन न हस्तेन तालिका सम्प्रपद्यते।
तथोद्यपरित्यक्तं न फल कर्मणः स्मृतम्।।"[1]

अभिप्राय यह है कि समस्त कार्य उद्यम से ही सफल होते हैं, केवल मन में विचार करते रहने से कभी सफलता नहीं मिलती। सफलता प्राप्ति का मूलमंत्र उद्योग ही है, क्योंकि सोते हुये सिंह के मुख मे मृग स्वयं प्रवेश नहीं करते। जैसा कहा है–

"उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सिंहस्य सुप्तस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।।"[2]

मनुष्य का यह कर्तव्य है कि जो वस्तु निश्चित हो अर्थात् जिसके मिलने में किसी प्रकार का सन्देह न हो तो उसे परित्याग करके संदिग्ध वस्तु के पीछे नहीं भागना चाहिये। जो लोग ऐसा करते हैं उनकी निश्चित रूप से प्राप्त होने वाली वस्तुयें तो नष्ट हो जाती है और अनिश्चित वस्तु तो मिलती ही नहीं है। इसलिये मनुष्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि जो वस्तुयें उसे प्राप्त हैं उन्हें ही सुरक्षित रखना चाहिये और सुरक्षित वस्तुओं को त्यागकर अप्राप्य वस्तुओं की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। जैसा कहा है–

"यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव च।।"[3]

दान की महत्ता को प्रतिपादित करते हुये कहा है कि धन को प्राप्त करके उसका दान करना ही उसकी रक्षा है। जिस प्रकार सरोवर में भरे हुये अधिक जल को निकाल देना ही उसकी रक्षा करना है। अभिप्राय यह है कि यदि सरोवर में भरे हुये जल को न निकाला जाय तो वह विकृत होकर मनुष्यों को हानि ही पहुँचायेगा और यदि उसका जल निरन्तर निकाला जाता रहे तो वह सरोवर स्वच्छ और निर्मल जल वाला रहेगा, उसमें कोई विकार उत्पन्न नहीं होगा। उसी प्रकार धन यदि दान में न दिया जाय तो पाप कर्मो में मनुष्य को लिप्त कर उसका विनाश कर देता है परन्तु दान में दिया गया धन पुण्य को प्रदान करके मनुष्य का इस लोक में तथा परलोक में कल्याण ही करता है। अतः धन का दान करना मनुष्य के कल्याणार्थ अत्यन्त आवश्यक है। जैसा कहा है–

"उपर्जिता नामर्थानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम्।।"[4]

---

1 पचतन्त्र – मित्रसम्प्राप्ति– श्लोक 133
2 पचतन्त्र – मित्रसम्प्राप्ति– श्लोक 136
3 पचतन्त्र – मित्रसम्प्राप्ति– श्लोक 142
4 पचतन्त्र – मित्रसम्प्राप्ति– श्लोक 152

वस्तुत. धन की दान, भोग और नाश यही तीन दशायें होती हैं। अत. जो मनुष्य धन का न तो दान करता है और न उसका उपभोग करता है, उसका धन तीसरी दशा अर्थात नाश को प्राप्त हो जाता है। जैसा ग्रन्थकार ने कहा है–

"दान भोगो नाशस्त्रिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।।"[1]

अतएव कहा है कि दान के समान दूसरा कोई कोष नहीं है, लोभ के समान कोई दूसरा शत्रु नहीं है, सदाचार के समान कोई दूसरा भूषण नहीं है और सन्तोष के समान कोई दूसरा धन नहीं है–

"दानेन तुल्यो निधिरस्ति नान्यो
लोभाच्च नान्योऽस्ति रिपुः पृथिव्याम्।
विभूषणं शीलसमं न चान्यत्
सन्तोषतुल्यं धनमस्ति नान्यत्।।"[2]

शास्त्र कहता है कि 'विश्वासो फलदायक.'। परन्तु नीति कहती है कि सभी के ऊपर विश्वास नहीं करना चाहिये। जो अविश्वसनीय हो उस पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये और जो अत्यन्त विश्वसनीय हो उस पर भी उतना ही विश्वास करे जितने से विश्वसनीयता बनी रहे, क्योंकि यदि कभी वह विश्वसनीय व्यक्ति किन्हीं कारणों से विपरीत हो जाता है तो गुप्त रहस्यों को प्रकट करने में कोई संकोच नहीं करता। इसी के साथ यह भी नीति है कि यदि कोई पहले विरोधी रहा हो और बाद में मित्र बन जाय तो भी उस पर ज्यादा विश्वास नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह कभी भी घात कर सकता है, यह एक शाश्वत, सामाजिक, राजनीतिक नीति है। जैसा स्पष्ट किया है–

"न विश्वसेत्पूर्वविरोधितस्य शत्रोश्च मित्रत्वमुपागतस्य।
दग्धां गुहां पश्य, उलूकपूर्णा काकप्रणीतेन हुताशनेन।।"[3]

रोग और शत्रु की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ये दोनो ज्यों–ज्यों बढ़तें जाते हैं त्यों–त्यों शक्तिशाली होकर अपना दायरा बढातें जाते हैं। यदि मनुष्य समय रहते इनका निवारण नहीं करता है तो वह रोग एवं शत्रु दोनों ही मनुष्य के लिये असाध्य हो जाते हैं और मनुष्य को नष्ट कर देते हैं। जैसा कहा है–

---

1 पचतन्त्र – मित्रसम्प्राप्ति– श्लोक 154
2 पचतन्त्र – मित्रसम्प्राप्ति– श्लोक 163
3 पचतन्त्र – काकोलूकीयम्– श्लोक 1

"य उपेक्षेत शत्रु स्व प्रसरन्तं यदृच्छया।
रोग चाऽलस्यसयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते।।"[1]

अति सुन्दर एवं स्पष्ट राजनीतिक नीति समाज तथा राष्ट्र हित में कही है कि अपने से शक्तिशाली शत्रु के साथ कभी युद्ध नहीं करना चाहिये और सन्धि भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि ये दोनो ही घातक हो सकते हैं। इस प्रकार के शक्तिशाली शत्रु से की गई सन्धि भी पुन· शत्रुता मे परिवर्तित होने की सम्भावना बनी रहती है। जैसे जल को चाहे जितना भी गर्म किया जाय अन्त में वह शीतल ही हो जाता है। जैसा कहा है–

"शत्रुणा न हि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनापि सन्धिना।
सुतप्तमपि पानीय शमयत्येव पावकम्।।"[2]

अभिप्राय यह है कि पूर्वकृत शत्रुता उसके हृदय में सदैव खटकती रहती है और अवसर आने पर या शक्तिहीन होने पर मित्रता शत्रुता में परिवर्तित हो सकती है। इसलिये शत्रुता या मित्रता बहुत ही सोंच समझकर करनी चाहिये।

संगठ्न की शक्ति का महत्व बताते हुये कहा है कि सभी व्यक्तियों को संगठित होकर रहना चाहिये। विशेषकर सजातीयों में एक साथ रहना श्रेष्ठ होता है। इसीलिये कहा गया है 'संघे शक्ति· कलौयुगे'। इसका कारण यह है कि समूह (संगठ्न) से पृथक रहकर मनुष्य दुर्बल हो जाता है और दुर्बल व्यक्ति के सभी विघातक हुआ करते हैं। जैसे वनों को जलाने वाली आग (दावानल) को वायु सहायता प्रदान करती है परन्तु वही वायु एक दीपक को बुझा देती है। जैसा कहा है–

"बनानि दहतो बह्नेः सखीभवति मारूतः।
स एव दीपनाशाय कृशे कस्यास्ति सौहृदम्।।"[3]

इस प्रकार कथा साहित्य जिसके अन्तर्गत काव्य कथा साहित्य एवं गद्य कथा साहित्य दोनों को समाहित करते हुये यहाँ पर संक्षेप में विवेचन करनें का प्रयास किया है। इस प्रयास में उन्हीं नीति वचनो को ग्रहण करने की एक सार्थक कोशिश रही है जो सर्वजन ग्राह्य एवं सर्वजनबोध्य हैं। कथा साहित्य का यही उद्देश्य भी रहा है कि इनमें नीति कथाओं के माध्यम से मनुष्यों को सन्मार्ग पर चलने एवं अपने जीवन स्तर में सुधार लाने के लिये प्रेरित किया गया है और यही कारण है कि इनमें जिन नीतियों का समावेश किया गया है वे मनुष्य के दैनन्दिन जीवन से सम्बन्ध रखती हैं, एवं उनमें

---

1 पचतन्त्र काकोलूकीयम्- श्लोक 2
2 पचतन्त्र काकोलूकीयम्- श्लोक 23
3 पचतन्त्र काकोलूकीयम्- श्लोक 58

गुणात्मक सुधार के उपायों को बतलाती हैं। जो सरल एवं सहज होने के कारण सर्वजन ग्राह्य एवं सर्वजन बोध्य हैं, यही इन नीतियो की विशेषता है।

(IV)
नीतिपरक सूक्तियाँ

संस्कृत वाङ्गमय में वैदिक युग से ही सुन्दर हितकारी उक्तियों का प्रचलन रहा हैं। ये सूक्तियाँ अति लघु रूप मे होते हुये भी स्वयं में व्यापक अर्थो को समाहित किये हुए हैं तथा अपने लघु स्वरूप के कारण शीघ्र ही लोगों को कण्ठस्थ हो जाया करती हैं। सूक्तियों की यह प्रथा वैदिक युग से ही चली आ रही है। वेदों, उपनिषदों में इन उक्तियों का प्रयोग देखा जा सकता है। जैसा वेदों मे 'सहनौभुनक्तु' 'सहनाववतु' आदि लघु वाक्य इसी ओर सकेत करते हैं। उपनिषदों मे भी इसी प्रकार की सूक्तियाँ देखने को मिलती हैं। जैसे ईशोपनिषद में 'मा गृध कस्यस्विद् धन' के द्वारा यही नीति व्यक्त की गई है कि धन का लोभ मत करो, क्योंकि यह धन किसी का नहीं होता, अत· उसकी आकांक्षा नहीं करनी चाहिये।

कठोपनिषद में नीति कही गई है कि जिस प्रकार खेत में अन्न उत्पन्न होता है और पकने के बाद गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य जन्म लेता है, वृद्ध होता है और अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। अत· मनुष्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने जीवन में शुभ कार्य करे तथा धन के लोभ में कभी दुष्कर्म की ओर न प्रवृत्त हो, क्योंकि मनुष्य की धन से कभी तृप्ति नहीं होती। जैसा कहा है-

"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः"[1]

तैत्तरीयोपनिषद की शिक्षा वल्ली मे सामाजिक कल्याण के लिये यही सूक्ति कही गई है कि अपने से श्रेष्ठ पुरुषो के जो प्रशंसनीय कर्म हैं, उन्हें ही ग्रहण करना चाहिये, अन्य निन्दित कर्मो को नहीं-

यान्यानवद्यानि कर्माणि। तानिसेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि।।[2]

इस प्रकार हम देखते है कि वैदिक युग में भी सुन्दर एवं नीतिपरक उक्तियों का प्रचलन रहा है। वैदिक उक्तियों के सन्दर्भ में डा0 चण्डिका प्रसाद शुक्ल नें विवेचन करते हुये कहा है कि काव्य सौन्दर्य के साथ उनमें संगीत सुधा का जो संयोग किया गया उससे उन्हें कण्ठस्थ करने में स्वतः बड़ी सुविधा रहती थी। इस प्रकार वेदों की उन चमत्कारपूर्ण उक्तियों को सूक्त कहा गया और यह एक रूढ़ विशेषण हो गया, जो केवल

---

[1] कठोपनिषद- 1/27
[2] तैत्रीयोपनिषद- 11/2

वेदोक्त सुभाषितो को ही दिया गया। परवर्ती लौकिक साहित्य में इस प्रकार की सरस एवं चमत्कारपूर्ण उक्तियों को सूक्ति ही कहा जाता है, जो किसी भाव को अभिव्यक्त करनें के कारण रसपेशल होती हैं एवं नीति का चमत्कारपूर्ण प्रतिपादन करती हैं। इन सूक्तियों में जिन नीतियों को व्यक्त किया गया है वे विधि तथा निषेधपरक दोनो माध्यमों के रूप मे हैं। ये सूक्तियाँ अत्यन्त ही सूत्र रूप में कही गई हैं परन्तु इनमें व्यापक अर्थ छिपा हुआ है, जो सामाजिको को जीवन पथ पर सुख शान्ति पूर्वक प्रेरित करने के निमित्त अत्यन्त उपयोगी है। जैसे महाभारत में कहा गया है कि पुरूषार्थ के बिना दैव भी सिद्ध नहीं होता अर्थात् पुरूषार्थ की महत्ता को यहाँ पर प्रतिपादित किया गया है–

"पुरूषकारेण विना दैव न सिध्यति।।"[1]

महाकवि माघ रचित 'शिशुपालवध' में बड़े ही सहज ढ़ंग से नीति कही गई है कि मानी व्यक्तियों का स्वाभिमान ही सबसे बड़ा धन होता है–

"सदाभिमानैक धना हि मानिनः"[2]

कल्याण चाहने वाले व्यक्ति को कभी भी बढते हुए रोग और उत्कर्ष को प्राप्त होते हुए शत्रु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये अन्यथा ये व्यक्ति को नष्ट कर देते हैं। जैसा कहा है–

"उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।।"[3]

महान व्यक्तियों के सन्दर्भ में कहा है कि वे स्वभाव से ही मितभाषी होते हैं, कटु वचन बोलना उनके स्वभावानुरूप नहीं–

"महीयांसः प्रकृतया मितभाषिणः।।"[4]

सामाजिक जीवन के लिये एक उत्तम नीति सूक्ति के रूप में कही है कि इस संसार में सभी व्यक्ति स्वार्थ के वशीभूत एक दूसरे से बँधे रहते है–

"सर्वः स्वार्थ समीहते।।"[5]

सार्वजनीन नीति का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि जब तक एक भी शत्रु जीवित है तब तक सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं–

---

[1] महाभारत– आनुशासन पर्व– 6/7
[2] शिशुपालवध– 1/67
[3] शिशुपालवध– 2/10
[4] शिशुपालवध– 2/13
[5] शिशुपालवध– 2/65

"ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत् कुतः सुखम्।।"[1]

इसी सन्दर्भ में कहा गया है कि उपकार करने वाले शत्रु से भी सन्धि कर लेनी चाहिये परन्तु अपकार करने वाले मित्र से सन्धि नहीं रखनी चाहिये। जैसा कहा है–

"उपकर्त्रारिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा।।"[2]

पापियों की चर्चा भी अकल्याण कारक होती है अर्थात् उससे श्रेय की प्राप्ति नहीं होती–

"कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः।।"[3]

महान लोगों की महानता को और गौरव प्रदान करते हुये कहा है कि क्षुद्र व्यक्ति भी महान लोगों की सहायता से कार्य में सफलता प्राप्त कर लेते हैं–

"बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।।"[4]

भ्रम में पड़े हुये लोगों का विवेक नष्ट हो जाता है। इसे सूक्ति के माध्यम से कहा है–

"भ्रान्तिभाजि भवन्ति क्व विवेकः।।"[5]

चतुरता या किसी कार्य को करने की दक्षता ही शीघ्र फल देने वाली होती है–

"दाक्ष्यं हि सद्यः फलदम्।।"[6]

'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य में भी अनेक सूक्तियाँ कही गयी हैं, जो अपने में गूढ़ अर्थो को छिपाये हुये हैं एवं नीति मार्ग को प्रदर्शित करने में ये सूक्तियाँ प्रकाश स्तम्भ का कार्य करती हैं। जैसा कहा गया है कि हितैषी व्यक्ति प्रिय झूठ बोलनें की इच्छा नहीं करते अर्थात् वे कटु सत्य को भी कह देते है–

"न हि प्रिंय प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः।।"[7]

इसी सन्दर्भ में आगे कहा गया है कि हितकारी भी हो और प्रिय भी लगे ऐसे

---

[1] शिशुपालवध– 2/35
[2] शिशुपालवध– 2/37
[3] शिशुपालवध– 2/40
[4] शिशुपालवध– 2/100
[5] शिशुपालवध– 10/15
[6] शिशुपालवध– 12/32
[7] किरातार्जुनीयम्– 1/2

वचन दुलभ हात हैं। क्योंकि सभी हितकर बातों को मधुर शब्दों में कहना कठिन है। जैसा कहा है-

"हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।।"[1]

महान व्यक्ति सदैव अपने बल पर भरोसा रखते हैं वे किसी अन्य व्यक्ति से ऐश्वर्य की इच्छा नहीं रखते-

"न महानिच्छति भूतिमन्यतः।।"[2]

दार्शनिक नीति को व्यक्त करते हुये कहा है कि तितिक्षा के समान शान्ति का कोई और दूसरा साधन नहीं है-

"न तितिक्षा सममस्ति साधनम्।।"[3]

दुष्ट व्यक्ति एवं उससे सम्बन्धित वस्तुओ को परित्याज्य मानते हुये सूक्ति रूप में नीति कही गई है कि दुष्ट व्यक्तियों की धन सम्पत्ति भी अन्त में विपत्ति का कारण बन जाी है। जैसा कहा है-

"विपदन्ता ह्यविनीत-सम्पदः।।"[4]

भव्य (उच्च) व्यक्तियों के प्रति सभी का पक्षपात स्वतः हो जाता है-

"भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः।।"[5]

सज्जनों के सम्पर्क में रहने पर उनके प्रति विश्वास स्वयं उत्पन्न हो जाता है अर्थात् व्यक्ति अपने में सज्जनों के प्रति अविश्वास रख ही नहीं पाता। जैसा कहा है-

"विश्वासयत्याशु सतां हि योगः।।"[6]

मन के दुखी होने पर कोई भी वस्तु रूचिकर नहीं लगती अर्थात् मन के दुःखी रहनें पर सभी वस्तुये असह्य हो जाती हैं-

"दुःखिते मनसि सर्वमसह्यम्।।"[7]

गुणों का मनुष्य के जीवन में बहुत महत्व है, क्योंकि मनुष्य के गुण ही उसको

---

[1] किरातार्जुनीयम्- 1/4
[2] किरातार्जुनीयम्- 2/18
[3] किरातार्जुनीयम्- 2/43
[4] किरातार्जुनीयम्- 2/52
[5] किरातार्जुनीयम्- 3/12
[6] किरातार्जुनीयम्- 3/31
[7] किरातार्जुनीयम्- 9/30

श्रेष्ठ बनाते हैं अर्थात् गौरव को प्राप्त कराते हैं, समूह नहीं–

"गुरूतां नयन्ति हि गुणा न संहतिः।।"[1]

सबको अच्छी लगने वाली वाणी दुर्लभ होती है। इसी भाव को किरातार्जुनीयम् में 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' के द्वारा स्पष्ट किया गया है और आगे भी कहा गया है–

"सुदुर्लभा सर्वमनोरमा गिरः।।"[2]

'नैषधीयचरितम्' में भाग्य की महत्ता का प्रतिपादन करते हुये सूक्ति रूप में नीति कही गई है कि भाग्यशाली व्यक्तियों के लिये कोई भी भोग दुर्लभ नहीं–

"क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जनः।।"[3]

विद्वान लोग शीघ्र ही इस बात को जान लेते हैं कि दूसरे व्यक्ति के मन की बात क्या है–

"झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः।।"[4]

दुष्ट व्यक्तियों के साथ सरलता की नीति शुभदायक नहीं होती। जैसा कहा है–

"आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः।।"[5]

सभी लोगो को न्याय के मार्ग पर चलना चाहिये एवं न्यायप्रिय होना चाहिये। इसलिये नैषधीयचरितम् में कहा गया है कि न्याय की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये–

"न्याय्यमुपेक्षते हि कः।।"[6]

समाज के परिप्रेक्षेय में यह कथन अत्यन्त सटीक प्रतीत होता है कि कहने वाले के मुख पर कौन हाथ रख सकता है। अर्थात् जिसे जो कहना होगा वह कहेगा ही उसे कौन रोक सकता है। अर्थात् कोई नहीं। जैसा कहा है–

"जनाऽऽनने कः करमर्पयिष्यति।।"[7]

तेजस्वी व्यक्तियों के तेज की महिमा को 'कुमारसम्भव' में प्रतिपादित करते हुये कहा गया है कि तेजस्वी व्यक्तियों का तेज किसके मन को विक्षोभित नहीं कर देता–

---

[1] किरातार्जुनीयम्– 12/10
[2] किरातार्जुनीयम्– 14/5
[3] नैषिधीयतरितम्– 1/102
[4] नैषिधीयतरितम्– 4/118
[5] नैषिधीयतरितम्– 5/103
[6] नैषिधीयतरितम्– 9/46
[7] नैषिधीयतरितम्– 9/125

"कस्य मनो न हि क्षुभ्यति धामधाम्नि।।"[1]

आवश्यक कार्यो की सफलता का मूलमंत्र शीघ्र कार्य करनें में होता है-

"कार्येष्ववश्यकार्येषु सिद्धये क्षिप्रकारिता।।"[2]

किसी कार्य को करने पर उसके फल की प्राप्ति हो जाने पर तत्सम्बन्धी कष्टों की प्रतीति नहीं होती जैसा कहा है-

"क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते।।"[3]

जो धर्मवृद्ध व्यक्ति होते है उनकी आयु पर विशेष ध्यान नही दिया जाता-

"न धर्म वृद्धेषु वयः समीक्ष्यते।।"[4]

रत्न किसी को ढूँढ़ता नही अपितु ढूँढ़ा जाता है अर्थात् उत्तम वस्तु किसी के पीछे नही भागती अपितु लोग स्वयं उस वस्तु को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं-

"न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्।।"[5]

समाज की एक अत्यन्त सुखद नीति को व्यक्त करते हुये कहा गया है कि पुत्र के उत्पन्न होने पर प्रसन्नता से कौन मतवाला नहीं हो जाता है अर्थात् सभी। जैसा कहा है-

"पुत्रोत्सवे माद्यति का न हर्षात्।।"[6]

मेघदूत में काम वासना से ग्रसित व्यक्ति की मनोदशा को प्रकट करते हुये कहा गया है कि काम वासना से पीड़ित व्यक्ति के लिये चेतन और अचेतन में भेद करना मुश्किल हो जाता है वह केवल अपने काम की तृषा को तृप्त करने के लिये ही प्रयासरत रहता है और चेतन एवं अचेतन का भेद नहीं कर पाता-

"कामार्ता हि प्रकृतिकृपाणाश्चेतनाचेतनेषु।।"[7]

निष्फल प्रयत्न करने पर कौन ऐसा है जो पराभव को न प्राप्त हो जाय अर्थात् सदैव सफल प्रयत्न ही करना चाहिये। जैसाकहा है-

---

[1] कुमार सम्भव- 12/22
[2] कुमार सम्भव- 10/25
[3] कुमार सम्भव- 5/86
[4] कुमार सम्भव- 5/16
[5] कुमार सम्भव- 5/45
[6] कुमार सम्भव- 11/17
[7] मेघदूत- पू0/5

"के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः।।"[1]

श्रेष्ट व्यक्ति से की गयी याचना असफल हो जाने पर भी श्रेष्ठ है, क्योंकि इससे सम्मान की हानि नहीं होती परन्तु नीच व्यक्ति से सफल प्रार्थना भी उचित नहीं होती-

"याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा।।"[2]

उचित एव योग्य व्यक्ति को दी गई वस्तु सफलता को देने वाली होती है-

"क्रिया हि वस्तूपहिता प्रसीदति।।"[3]

सज्जनों का धन सग्रह दान के लिये ही होता है अर्थात् सज्जन लोग धन का संग्रह लिप्सा या भोग विलास के लिये नहीं करते अपितु वे धन का संग्रह दान देने के लिये ही करते हैं-

"आदान हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।।"[4]

धन की महत्ता का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि धनरहित व्यक्तियों से कोई याचना नहीं करता, जैसे शरत् कालीन बादलों से चातक भी जल की इच्छा नहीं रखता-

"निर्गलिताम्बुगर्भ शरद्धनं नार्दति चातकोऽपि।।"[5]

इस संसार में अनेक प्रकार के प्राणी निवास करते हैं अतः विभिन्नता सर्वत्र देखने को मिलती है। इसीलिये कहा गया है कि लोगो की रूचियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं-

"भिन्नरूचिर्हि लोकः।।"[6]

भवितव्यता को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि ईश्वर की इच्छा से कभी विष भी अमृत हो जाता है और कभी अमृत भी विष बन जाता है-

"विषमप्यसृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।।"[7]

गुरूजनों अथवा श्रेष्ठ व्यक्तियों की आज्ञा के सम्बन्ध में सोंच विचार की आवश्यकता नही होती, उसे तुरन्त मान लेना चाहिये। जैसा कहा है-

---

[1] मेघदूत- पू0/54
[2] मेघदूत- पू0/ 6
[3] रघुवश- 3/29
[4] रघुवश- 4/86
[5] रघुवश- 5/17
[6] रघुवश- 6/30
[7] रघुवश- 8/46

"आज्ञा गुरूणामविचारणीया।।"[1]

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में कहा गया है कि सुन्दर आकृति वालों के लिये कौन सी वस्तु आभूषण नहीं बन जाती अर्थात् वे जो भी ग्रहण करते हैं वह सुन्दर लगने लगती है-

"किमिव हि मधुराणा मण्डनं नाकृतीनाम्।।"[2]

भवितव्यता ही बलवान हुआ करती है अर्थात् जो होने वाला होता है वह अवश्य होकर रहता है-

"भवितव्यता खलु बलवती।।"[3]

जो वस्तुये संदेह उत्पन्न करती हैं तो ऐसी स्थिति में सज्जनों का जो अन्त.करण कहता है वही प्रमाण होता है जैसा कहा है-

"सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः।।"[4]

दु·ख की अवस्था में यदि वह दु.ख अपने प्रिय लोगों के मध्य में विभक्त हो जाता है अर्थात् बँट जाता है तो दु·ख की वेदना सह्य हो जाती है-

"स्निग्धजनसविभक्त हि दुःखं सह्यवेदनं भवति।।"[5]

'मुद्राराक्षस' मे कहा गया है कि जहाँ पर अतिशय आदर हो वह शंका का स्थान होता है, क्योंकि इस संसार में सभी स्वार्थ से एक दूसरे से बँधे रहते हैं-

"अत्यादर शङकनीयः।।"[6]

इस संसार के सभी प्राणी कुछ न कुछ अवेश्य ज्ञान रखते हैं परन्तु सभी व्यक्ति सब कुछ नहीं जानते-

"नहि सर्वः सर्व जानाति।।"[7]

मूर्ख व्यक्ति ही भाग्य को प्रमाण मानते है, ज्ञानी नहीं। जैसा कहा है-

---

[1] रघुवश- 14/46
[2] अभिज्ञान शाकुन्तलम्- 1/20
[3] अभिज्ञान शाकुन्तलम्- 6/गद्य
[4] अभिज्ञान शाकुन्तलम्- 1/22
[5] अभिज्ञान शाकुन्तलम्- 3/गद्य
[6] मुद्राराक्षस-
[7] मुद्राराक्षस-

"दैवम् अविद्वांसः प्रमाणयन्ति।।"[1]

धन की महत्ता का प्रतिपादन करते हुये कहा गया है कि धनरहित स्वामी को प्रायः उसके सेवक त्याग दिया करते हैं-

"प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेवमानाः।।"[2]

'उत्तररामचरित' में कहा गया है कि अपने बन्धु जनों का वियोग अत्यन्त दुःखदायी होता है-

"सन्तापकारिणो बन्धुजन विप्रयोगा भवन्ति।।"[3]

सज्जनों का सज्जनों के साथ सम्पर्क बड़े ही पुण्य से मिलता है-

"सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति।।"[4]

गुणी व्यक्तियों के सन्दर्भ में कहा गया है कि गुणी व्यक्ति अपने गुणों के कारण ही पूजित होते हैं, लिङ्ग अथवा आयु के आधार पर नहीं-

"गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।।"[5]

किसी भी वस्तु की अतिशयता सदैव दोषकारक होती हैं जैसा कहा है-

"सर्वमतिमात्रं दोषाय।।"[6]

धन की अस्थिरता के सम्बन्ध में मृच्छकटिक में कहा गया है कि धन तो भाग्य के क्रम से आता और जाता रहता है-

"भाग्यक्रमेण हि धनानि भवन्ति यान्ति च।।"[7]

धन के न रहने पर विपत्तियाँ मनुष्य को चारो ओर से घेर लेती हैं। इसी लिये निर्धनता को सभी आपत्तियों का घर कहा गया है-

"अहो निर्धनता सर्वापदामास्पदम्।।"[8]

---

[1] मुद्राराक्षस-
[2] मुद्राराक्षस-
[3] उत्तररामचरित- 1/8/गद्य
[4] उत्तररामचरित- 2/1
[5] उत्तररामचरित- 4/11
[6] उत्तररामचरित- 6/5/गद्य
[7] मृच्छकटिक-1/13
[8] मृच्छकटिक-1/14

द्यूत क्रीड़ा को सदैव निन्दनीय कहा गया है इसमें पल भर में मनुष्य राजा से रंक हो जाता है। इसीलिये द्यूत क्रीड़ाकी तुलना सुमेरु पर्वत के गिरने के समान कही गई है–

"सुमेरुशिखर-पतनसन्निभं द्यूतम्"[1]

जहाँ पर साहस होता है वहीं पर लक्ष्मी का निवास भी होता है, आलसी व्यक्तियों के पास लक्ष्मी कभी नहीं टिकती। जैसा कहा है–

"साहसे श्रीः प्रतिवसति।।"[2]

जड़ से काटकर वृक्ष की रक्षा कैसे की जा सकती है–

"मूलेछिन्ने कुतः पादपस्य पालनम्।।"[3]

सदाचार का कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिये–

"अनुल्लङ्घनीयः समुदाचारः।।"[4]

घड़े के कुँये में गिर जाने पर रस्सी को भी कुँये में नहीं डाल देना चाहिये अर्थात् एक वस्तु के नष्ट हो जाने पर अन्य वस्तुओं को भी नहीं नष्ट कर डालना चाहिये। जैसा कहा है–

"न घटस्य कूपपाते रज्जुरपि तत्र प्रेक्षेप्तव्या।।"[5]

मणि, मन्त्र और औषधि का प्रभाव अचिन्त्य होता है अर्थात् ये अचूक कार्य करते हैं–

"अचिन्त्यो हि मणिमन्त्रौषधीनां प्रभावः।।"[6]

इस संसार में कोई भी मनुष्य भाग्य की गति को नहीं जान सकता–

"दुखगाहा गतिर्दैवस्य।।"[7]

मृत्यु की अशवयम्भाविता को प्रकट करते हुए 'स्वप्नवासवदत्तम्' में कहा गया है कि मृत्यु के उपस्थिति हो जाने पर कोई किसी की रक्षा करने में समर्थ नहीं होता–

---

[1] मृच्छकटिक–2/6
[2] मृच्छकटिक–1/गद्य
[3] मृच्छकटिक–9/गद्य
[4] वेणीसंहार– 5/26
[5] वेणीसहार– 5/3
[6] रत्नावली–
[7] रत्नावली–

"कः कं शक्तो रक्षितं मृत्युकाले।।"[1]

स्त्रियाँ स्वभाव से ही कातर हुआ करती हैं-

"स्त्रीस्वभावस्तु कातरः।।"[2]

न्यास अर्थात् धरोहर की रक्षा करना अत्यन्त कष्ट साधक होता है। जैसा कहा है-

"दुःखं न्यासस्य रक्षणं।।"[3]

सुशिक्षित होने पर भी सभी उपदेश देनें में निपुण नहीं होते-

"सुशिक्षितोऽपि सर्व उपदेशदर्शने न निपुणो भवति।।"[4]

'कर्पूरमंजरी' में कहा गया है कि चन्द्रमा के अतिरिक्त समुद्र को बढ़ाने में कौन समर्थ हो सकता है अर्थात् समर्थवान ही किसी कठिन कार्य को करने में समर्थ होता है-

"कोऽन्यश्चन्द्रात् समुद्रवर्धनविदग्धः।।"[5]

घोड़े की चाल के विषय में साक्षी की आवश्यकता नहीं होती अर्थात् प्रत्यक्ष को प्रमाण की कोई जरूरत नहीं होती। जैसा कहा है-

"तुरगस्य शीघ्रत्वे किं साक्षिणः पृच्छ्यन्ते।।"[6]

हाथ कंगन को आरसी क्या-

"हस्ते कङ्कणं किं दर्पणेन।।"[7]

पंचतन्त्र में सामाजिक एवं राजनैतिक हित की दृष्टि से नीति कही गई है कि यदि कोई बात गुप्त रखनी हो तो उसे तीसरे व्यक्ति के कानों तक नहीं पहुँचना चाहिये, क्योंकि छः कानों में गई मन्त्रणा गुप्त नहीं रहती-

"षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः।।"[8]

महान लोग अपने समान लोगों पर ही पराक्रम दिखाते हैं साधरण एवं दीन हीन व्यक्तियों पर वे क्रोध नहीं करते। जैसा कहा है-

---

[1] स्वप्नवासवदत्ता-6/10
[2] स्वप्नवासवदत्ता-4/8
[3] स्वप्नवासवदत्ता-1/10
[4] मालविकग्निमित्रम्-
[5] कर्पूरमजरी-
[6] कर्पूरमंजरी-
[7] कर्पूरमंजरी-
[8] पचतन्त्र-मित्रभेद- श्लोक 108

मूर्ख व्यक्ति के क्रोध को उपदेश देकर शान्त नहीं किया जा सकता। अत· विद्वान व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि मूर्खो से दूर रहे एवं न ही उन्हें उपदेश दे अन्यथा उनका क्रोध और भी बढ़ेगा जैसा कहा है–

"उपदेशो हि मूर्खाणाम् प्रकोपाय न शान्तये।।"[2]

पेट की अग्नि की शान्ति के लिये मनुष्य कोई भी पाप कर सकता है–

"बुभुक्षिता किम् न करोति पापम्।।"[3]

अपने से अधिक शक्तिशाली के साथ युद्ध करना या शत्रुता रखना बुद्धिमान लोगों का कार्य नहीं, क्योंकि इससे पराभव का मार्ग ही प्रशस्त होता है–

"बलिना सायोध्वयम् इति नास्ति निदर्शनम्।।"[4]

इस प्रकार संस्कृत साहित्य नीतिपरक सूक्तियों का आगार हैं। इनमें प्रयुक्त सूक्तियाँ सामाजिकों के लिये इतनी हितकर हैं कि इनका प्रयोग सर्वत्र देखने को मिलता है। आज भाषा में जितनी भी लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ अथवा कहावतें सुनाई पड़ती हैं उनका मूलाधार ये सूक्तियाँ ही है। ये सूक्तियाँ यद्यपि सूत्र रूप में कही गई हैं परन्तु इनमें व्यापक अर्थ समाहित रहता है। जैसा दीपक की लौ तो छोटी ही दिखाई पड़ती है परन्तु उसका प्रकाश दूर–दूर तक के अन्धकार को नष्ट कर देता है उसी प्रकार ये सूक्तियाँ भी अपने प्रकाश से लोगों के मनो–अन्धकार को दूर करनें में समर्थ होती हैं। जिनका विवेचन सक्षेप में करने का प्रयास किया है। क्योंकि विस्तार अधिक हो जाने के भय से मात्र दिग्दर्शन कराने का ही प्रयास कर रहा हूँ। सूक्तियों की व्याख्या इसीलिये नहीं की जा सकी है।

*** *** *** *** ***

---

[1] पचतन्त्र–मित्रभेद– श्लोक 133
[2] पचतन्त्र–मित्रभेद– श्लोक 420
[3] पचतन्त्र–मित्रभेद–लब्धप्रणाश श्लोक 16
[4] पचतन्त्र–मित्रभेद–काकोलूकीयम् श्लोक 22

पञ्चम् अध्याय

(I)
छन्द

जैसा कि हम पहले ही कह चुके है कि भारतीय ज्ञान विज्ञान का विकास वेदों से प्रारम्भ होता है और वेद वस्तुतः ज्ञान राशि हैं। हम जिस ज्ञान की ओर उन्मुख होना चाहे उसके बिन्दु वैदिक साहित्य में स्पष्ट रूप से अपनी प्रभा को बिखेरते हुए मिल जाते है। अत· हमे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि समस्त भारतीय वाङ्गमय के उद्‌गम स्रोत वेद ही है जिनमें विज्ञान, गाणित, रस, अलंकार, व्याकरण आदि सभी शास्त्र समाविष्ट हैं। अतएव महाभाष्यकार पतंजलि ने 'षडङ्गोवेदो ज्ञेयो अध्ययेश्च' का उद्‌घोष किया है । वेद के छः अंगो में शिक्षा, व्याकरण, ज्योतिष आदि के साथ ही साथ छन्द को भी प्रमुखता दी गई है। फलतः छन्द को भी वेद का अंग माना गया है । वेद मंत्रों की शुद्धता एवं लयबद्धता के लिए छन्द शास्त्र का अध्ययन एवं ज्ञान नितान्त आवश्यक माना गया है। वेद मंत्र जहां गद्यमय हं वही उनका अधिकाश भाग गेय होने के कारण छन्दोबद्ध है। छन्द की लयबद्धता के कारण गेयता में मधुरता आ जाती है। यही छन्द का वैशिष्ट्य है। व्याकरण के अनुसार छन्द शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी ओर संकेत करती है, जैसे–

"छन्दयति प्रीणाति रोचते इति छन्दः"

अथवा

"छन्दयति आह्लादयति इति छन्दः"

इस प्रकार रूचिकर, श्रुतिप्रिय लयबद्ध रचना को छन्द कहा जा सकता है अर्थात जिसको सुननें के अनन्तर मन आह्लादित हो जाय, उसे छन्द कहते है।

छन्द की उक्त परिभाषा के रूप हमें नीति परक काव्यों में भी देखने को मिलते हैं। वेदों में जिन छन्दों का प्रयोग देखने को मिलता है उनका प्रयोग लौकिक साहित्य में नहीं हुआ है। इस दृष्टि से वैदिक एवं लौकिक छन्दों में विभाजन प्रतीत होता है। पिङ्गल का छन्द शास्त्र आदि माना जाता है, इसके अतिरिक्त छन्द शास्त्र से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थों मे केदारभट्ट का वृत्तरत्नाकर अतीव प्रसिद्ध है, जिससे छन्दो की रचना का तथा छन्दों से सम्बन्धित विधानों का विस्तार के साथ निर्वचन किया गया है। जिसमें एक अक्षर से लेकर छब्बीस अक्षरों वाले छन्दों का विवेचन मिलता है जिनमें से श्रुतिप्रिय और लयबद्ध छन्दों का नीतिपरक और उपदेशात्मक काव्यों में बहुलता के साथ प्रयोग किया गया है। नीति विषयक रचनायें अधिकांशतया अनुष्टुप छन्द मे की गई हैं। यह छन्द आदि लौकिक छन्द माना जाता है। यह सरल, सुबोध छन्द होता है तथा लोगों के मन मस्तिष्क पर सीधा

प्रभाव डालता है। छन्द के संबंध में क्षेमेन्द का कहना है कि कवि को छन्द योजना रस और वर्णनीय विषयों के अनुकूल ही करना चाहिये जिससे नाद सौन्दर्य के साथ-साथ रस की भी अभिव्यक्ति सुस्पष्ट हो -

''काव्ये रसानुसारेण वर्णनानुगुणेन च।
कुर्वीत सर्ववृत्तानां विनियोगं विभागवित्।।''[1]

जैसे वियोगिनी छन्द अपने नाम के अनुसार पढ़ते समय पाठ्क को एकान्त अभिभूत कर देता है तथा करूणा और वेदना के सागर में डुबो देता है। छन्द की इसी महत्ता को नीति काव्यकारों ने अपनें नीति काव्यों में स्वीकार किया है। यही कारण है कि नीति परक पद्य पाठ्क के मन को झटिति आलोडित कर देते है। वस्तुतः छन्द के बंधन के सर्वथा त्याग से अनुभूत नाद सौन्दर्य की प्रेषणीयता का प्रत्यक्ष ह्रास दिखायी पड़ता है। छन्द काव्य का संगीत है। संगीत में जो संयम ताल से आता है वही संयम कविता में छन्द से आता है। कालिदास प्रभृति उच्च कोटि के काव्यकारों ने छन्द के इसी अभिप्राय को अपने काव्यों में उतारने का सफल प्रयास किया हैं। जैसे मेघदूत में प्रयुक्त मन्दाक्रान्ता छन्द विरही की अवस्था को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। जिस प्रकार कोई दुखी व्यक्ति अपनी भावना को रुक-रुक कर अभिव्यक्त करता है उसी प्रकार मन्दक्रान्ता छन्द में -4,6,7 की यति इसी ओर संकेत करती है यही भाव नीति काव्यों में भी देखने को मिलता है। जैसे-

''रवि निशाकरयो र्ग्रहपीडनं
गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो! बलवानिति मे मतिः।"[2]

इस पद्य में प्रयुक्त द्रुतविलम्बित छन्द उपर्युक्त अभिप्राय को प्रकट करता है। इसमें संगीतात्मकता के साथ ही साथ विधि की विडम्बना का भी बोध कराया गया है।

नीति काव्यों में विविध माध्यमों से नीतियों का प्रतिपादन किया गया है। इनमे प्रायः उन्ही छन्दों का प्रयोग किया गया है। जो सरलता के साथ अपने भावों को व्यक्त कर सकें, क्योकि नीति काव्य किसी विशिष्ट वर्ग के लिये ही नही अपितु जन साधारण को शिक्षित करने के लिखे गये हैं। यदि इनमें सरलता तथा सुबोधता न हो तो सामान्य जन की रूचि इनके प्रति नही होगी, जब कि नीति वचन पाठ्क के मन पर सद्यः प्रभाव डालने वाला होना चाहिये। जैसे अभिज्ञान शाकुन्तलम् में यह नीति व्यक्त की गई है कि अच्छी

[1] सुवृत्ततिलक
[2] नीतिशतक-श्लोक 92

प्रकार से परीक्षण करके ही संबंध स्थापित करना चाहिये। यदि ऐसा नही किया गया तो उसका परिणाम सुखद नही होगां। जैसा कहा है-

''अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेव वैरीभवति सौहृदम्।।''[1]

कवि ने इस छोटे से पद्य में जीवनोपयोगी गूढ़ तत्व को समाहित कर दिया है और यह भाव व्यक्त किया है कि किसी भी प्रकार की मित्रता अथवा संबंध सम्यक् रूपेण परस्पर परीक्षा करने के अनन्तर ही करना चहिये। गुप्त मैत्री अथवा एकान्त में किया गया किसी प्रकार का संबंध विशेष रूप से एक दूसरे के हृदयों की अच्छी प्रकार परीक्षा कर लेने तथा भली भाँति परिचित हो जाने पर ही किया जाना चाहिये अन्यथा उक्त रीति से किया गया संबंध कालान्तर में दु खदायी ही हुआ करता है। इस प्रकार हम देखते है कि नीति परक काव्यों में अधिकांशतया अनुष्टुप छन्द का प्रयोग बहुलता से किया गया है, इसके अतिरिक्त कर्णप्रिय, लयबद्ध छन्दों का प्रयोग भी नीति काव्यों में विषयानुसार किया गया है।

आचार्य कुसुमदेव ने अपने दृष्टान्तशतक की रचना अनुष्टुप छन्दो में ही की है जो कि अत्यन्त सरल एवं हृदयावर्जक हैं। इसमें दृष्टान्त देते हुये नीतियाँ व्यक्त की गई है जिससे पाठकों को नीति समझने में विलम्ब नहीं होता। जैसे लोक में यह कहावत प्रचलित है कि घर का भेदी लंका को ढहा सकता है। इसी नीति को सरल शब्दों में व्यक्त करते हुये कहा गया है कि सजातीय के बिना कभी भी शत्रु पर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती, जैसे वज्रमणि के बिना मुक्तामणि का भेदन नहीं किया जा सकता अर्थात् हीरा ही हीरे को काटने में समर्थ होता है, अन्य कोई नहीं। इसी भाव को अनुष्टुप छन्द के माध्यम से व्यक्त करते हुये कहा गया है-

''स्वजातीयं विना वैरी न जय्यः स्यात्कदाचन्।
बिना वज्रमणिं मुक्तामणिर्भेद्यः कथं भवेत्।।''[2]

भर्तृहरि ने भी अनुष्टुप छन्द के माध्यम से गूढ़ नीति को व्यक्त करते हुये कहा है कि किन्हीं भी परिस्थितियों में अनेक सुख साधनों के रहते हुए भी मूर्खो के साथ नहीं रहना चाहिये, क्योंकि मूर्ख पग-पग पर कष्ट देता रहता है। बड़ी सरलता के साथ अल्प शब्दों में उक्त नीति को अनुष्टुप छन्द में व्यक्त किया गया है-

---

[1] अभिज्ञान शाकुन्तलम्-5/24
[2] दृष्टान्तशतक - श्लोक 11

"वर पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सहः।
न मूर्खजन सम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि।।"[1]

छन्दों की परम्परा में कुछ छन्द अतीव ललित होने के कारण मधुरता के साथ उनका गान भी किया जाता है। ये छन्द लयबद्ध तथा संगीत से परिपूर्ण हैं। जैसे शिखरिणी, द्रुतविलम्बित, मालिनी, भुजङ्गप्रयात. मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित, वंसततिलका तथा वंशस्थ आदि अतिशय प्रसिद्ध हैं। शिखरिणी छन्द श्रुतिप्रिय होने के कारण कवियों का प्रिय छन्द है। महाकवि भवभूति तो शिखरिणी छन्द का प्रयोग करने के कारण कवियों में अतिशय प्रसिद्ध हैं। जैसा कि क्षेमेन्द्र ने सुवृत्ततिलक नामक ग्रन्थ में कहा है–

"भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
रूचिरा धनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति।।"[2]

दृष्टान्त शतक में शिखरिणी छन्द का प्रयोग करते हुए नीति व्यक्त की गई है कि जिस कार्य को करने की जो व्यक्ति क्षमता रखता है वही उस कार्य को करने में समर्थ होता है। जैसे शुक ही श्लोक पाठ कर सकता है, काक नहीं–

"नराः संस्कारार्हा जगति किल केचित् सुकृतिनः
समानायां जात्यामपि वयसि सत्यां परधियः।
अयं दृष्टान्तोत्र स्फुटकरणतोप्यभ्यसनतः
शुकः श्लोकान् वक्तुं प्रभवति न काकः क्वचिदपि।।"[3]

काव्यों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि काव्य सौन्दर्य में श्रीवृद्धि छन्दों के प्रयोग से अत्यधिक हो जाती है। छन्द गहनता में भी सरलता का बोध कराते है। इनसे काव्य में चारूता और निखार आ जाता है। जिसे भर्तृहरि के नीतिशतक में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। भर्तृहरि ने स्वल्पज्ञानाभिमानी व्यक्ति की ओर सीधे संकेत न करते हुए बड़ी विनम्रता के साथ इसकी धारा को स्वयं अपनी ओर मोड़ते हुये शिखरिणी छन्द के माध्यम से कहा है–

"यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदववलिप्तं मम मनः।
यदा किञ्चित्किञ्चिद बुधजन सकाशादवगतं
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इवमदो में व्ययगतः।।"[4]

---

[1] नीतिशतक – श्लोक 15
[2] सुवृत्ततिलक – 3/33
[3] दृष्टान्तशतक – श्लोक 97
[4] नीतिशतक – श्लोक 9

पद्य संग्रह में भट्ट कवि द्वारा प्रयुक्त शिखरिणी छन्दों की छटा दर्शनीय है। जिनमें नीति के साथ ही साथ ज्योतिष शास्त्र का भी स्पर्श किया गया है। मनस्वी व्यक्तियों से सम्बन्धित नीति को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है–

"वरं मौनं कार्य्यं नच वचनमुक्तं यदनृतं
वरं क्लैवं पुंसां नच परकलत्राभिगमनम् ।
वरं भैक्ष्याशित्वं नच परधनास्वादनसुखं
वरं प्राणत्यागो नच पिशुनवादेष्वभिरतिः।।"[1]

शिखरिणी छन्द के अतिरिक्त द्रुतविलम्बित छन्द भी श्रुतिप्रिय होने के कारण गेय है। भ्रमराष्टक में प्रयुक्त द्रुतविलम्बित छन्द अतीव रमणी है–

"अलिरसौ नलिनीवनवल्लभः
कुमुदिनी कुलकेलिकलारसः।
विधिवशेन विदेशमुपागतः
कुटजपुष्परसं बहु मन्यते।।"[2]

भवभूति विरचित गुणरत्न नामक नीति काव्य देखने को मिलता है, जिसमें कुल तेरह श्लोक विविध छन्दों में प्रयुक्त हुये हैं। यद्यपि गुणरत्न नीति काव्य भवभूति के नाम से प्रसिद्ध है तथापि इसके सभी पद्य नीतिशतक आदि नीति काव्यों से संग्रहीत किये गये प्रतीत होते है। इनमें शिखरिणी के साथ ही साथ अन्य छन्दों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। जैसे वंशस्थ छन्द के माध्यम से नीति को प्रदर्शित करते हुये कहा गया है कि गुणवान व्यक्ति ही गुणों की परख रखता है, निर्गुण को गुणों की परख नहीं होती–

"गुणी गुणं वेत्ति न वेत्ति निर्गुणो ।
बली बलं वेत्ति न वेत्ति निर्बलः।
पिको वसन्तस्य गुणं न वायसः
करी च सिंहस्य बलं न मूषिकः।।"[3]

वंशस्थ छन्द में प्रयुक्त भर्तृहरि रचित नीतिशतक का यह श्लोक भी अत्यन्त रमणीय एवं अतिशय प्रसिद्ध है–

" भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-
र्नवाम्बुभिर्दूरविलम्बिनो घनाः।
अनुद्धताः सत्पुरूषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम्।।"[4]

---

[1] पद्यसंग्रह – श्लोक 11
[2] भ्रमराष्टक – श्लोक 7
[3] गुणरत्न – श्लोक 4
[4] नीतिशतक – श्लोक 72

पद्यसंग्रह में प्रयुक्त इन्द्रवज्रा छन्द का प्रयोग अपनी मधुरता के साथ लोगों को उपदेशित भी करता है कि समय पर चूकना नही चाहिये। सावधानी बरतना ही समय का सदुपयोग है। यदि सावधानीपूर्वक समय का सदुपयोग नही किया जाता तो हानि के अतिरिक्त कभी लाभ नहीं प्राप्त नहीं होता। अवसर के निकल जाने पर सावधान होने से कोई लाभ नहीं होता। अतः कहा गया है-

''निर्वाणदीपे किमु तैलदानं
चौरे गते वा किमु सावधानम्।
वयोगते किं वनिताविलासः
पयोगते किं खलु सेतुबन्धः।।"[1]

पंचतन्त्र में भी इसी छन्द (इन्द्रवज्रा) का प्रयोग करते हुये नीति कही गई है कि महान लोग अपने समान व्यक्तियों पर ही अपना पराक्रम दिखाते है। उन्नत स्वभाव वालों का यही विचार होता है कि अपने से दुर्बल पर अपना पराक्रम प्रदर्शित न किया जाय क्योंकि इससे उनके सम्मान में वृद्धि नहीं होती । जैसा कहा है-

'' तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः।
स्वभाव एवोन्नतचेतसामयं महान्महत्स्वेव करोति विक्रमम्।।''[2]

उक्त परिप्रेक्ष्य में वसंततिलका छन्द में प्रयुक्त यह नीति वचन सीधे मानस पटल पर अंकित हो जाता है। जैसा कहा है कि बलवान प्राणी अपनी बराबर बल वालों पर ही क्रोध करते हैं, निर्बलों पर नहीं, जैसे मदमस्त हाथी मंडराते हुये भ्रमरों के चरण तलो से पीड़ित होकर भी उन पर क्रोध नहीं करता-

"गण्डस्थलेषु मदवारिषु बद्धराग
मत्तभ्रमद्भ्रमरपादतलाहतोऽपि।
कोपं न गच्छति नितान्तबलोऽपि नाग-
स्तुल्ये बले तु बलवान् परिकोपमेति।।''[3]

समय की सावधानता के संबंध में बेताल भट्ट ने 'नीति प्रदीप' काव्य में नीति संबंधी प्रयोग मन्दाक्रान्ता छन्द में बड़ी कुशलता के साथ किया है-

''शीते तीते वसनमशनं वासरान्ते निशान्ते
क्रीडारम्भः कुवलयदृशां यौवनान्ते विवाहः।
सेतोर्बन्धः पयसि गलिते प्रस्थिते लग्नचिन्ता
सर्वञ्चैतद्भवति विफलं स्वस्वकाले व्यतीते।।''[4]

---

[1] पद्यसग्रह-श्लोक 8
[2] पंचतन्त्र-मित्रभेद - श्लोक 133
[3] पचतन्त्र-मित्रभेद - श्लोक 134
[4] नीतिप्रदीप - श्लोक 14

'धर्म विवेक' में महाकवि हलायुध ने अधिकांश रूप से शार्दूलविक्रीडित नामक छन्द का प्रयोग किया है। अपने 20 पद्यों में 10 में शार्दूलविक्रीडित तथा शेष में अनुष्टुप छन्द आदि का प्रयोग किया है। शार्दूलविक्रीडित छन्द की यही विशेषता है कि जैसे सिंह अन्य जीवों पर अपना प्रभाव स्थापित कर लेता है वैसे ही शार्दूलविक्रीडित छन्द भी श्रोताओं को हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। जैसे राम के चरित को माध्यम मानते हुये जो विधि की विडम्बना प्रदर्शित की गई है वह अत्यन्त स्पृहणीय होते हुये श्रोता के मन पर सहसा अपना प्रभाव डाल देता है-

"जातः सूर्य्यकुले पिता दशरथः क्षौणीभुजामग्रणीः
सीता सत्यपरायणा प्रणयिणी यस्यानुजो लक्ष्मणः।
दौर्दण्डेन समो न चास्तिभुवने प्रत्यक्षविष्णुः स्वयं
रामो येन विडम्बितोऽपि विधिना चान्ये परे काकथा।।"[1]

उद्‌भट सागर में नस्य अर्थात सिंहनी की प्रशंसा करते हुये शार्दूलविक्रीडित छन्द अतीव प्रभावोत्पादक बन पड़ा है तथा श्रोता के मन में विशेषता के साथ मधुर हास्य भी उत्पन्न कर देता है-

" नस्यं भूसुरसूरिसेवितमलं नस्यं सुसेवे स्वयं
नस्येनैव विकाशते कविकुलं नस्याय तस्मै नमः।
नस्यात् शस्यतरं न चास्ति भुवने नस्यस्य वश्योऽस्माहं
नस्ये मे नियतं विराजतु मनो हो नस्य मामुद्धर ।।"[2]

नीलकण्ठ दीक्षित विरचित अन्यापदेशशतक में शार्दूलविक्रीडित छन्द की अद्‌भुत छटा दर्शनीय है। इसका प्रत्येक पद्य स्वयं में उत्कृष्ट तथा सारगर्भित है। जैसे कोकिल के संबंध में कही गई यह अन्योक्ति अत्यन्त मधुर एवं हृदयग्राही है-

केनाध्यापितमास्थितं क्व नु कदाचीतं क्व वा वर्तितं
तद्विश्राम्यतु कुत्र जातमथ कैः पुष्टं तदालोच्यताम्।
काले सोऽपि कुहूमुखो यदि जगत्कर्णामृतं कूजति
प्राग्जन्मार्जितभाग्यवैभवमिदं कः स्तोतुमीष्टे कविः।।"[3]

मालिनी छन्द भी नीतिकारों का प्रिय छन्द रहा है। महाकवि भर्तृहरि ने इसका प्रयोग बड़ी ही कुशलता के साथ किया है। जैसे ज्ञानियों और राजाओं को ध्यान में रखकर कहा है कि जिस धन के मद से राजा लोग अभिमानी हो जाया करते है, उसी धन को ज्ञानी लोग तुच्छ समझते हैं। ये परम तत्व ज्ञानी लोग धन के लोभ में कभी नही पड़ते। अतः जिस प्रकार हाथी के कमल नाल सूत्र बाँधने में समर्थ नहीं हो सकते, उसी प्रकार

---

[1] धर्मविवेक - श्लोक 10
[2] उद्‌भट सागर - 2/252
[3] अन्यापदेशशतक - श्लोक 84

ज्ञानियों को भी कोई अपने अधीन नही कर सकता। जैसा मालिनी छन्द का प्रयोग करते हुये कहा है-

"अधिगत परमार्थान्पण्डितान्माऽवमंस्था-
स्तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैव तानसंरूणद्धि।
अभिनवमदरेखाश्यामगण्डस्थलानां
न भवति विसतन्तुर्वारणं वारणानाम्।।"[1]

आर्या छन्द का भी प्रयोग नीति काव्यों में बहुलता के साथ मिलता है। 'आर्या सप्तशती' को आर्या छन्द में ही उपनिबद्ध किया गया है। 'भामिनी विलास' में प्राय· प्रसिद्ध तथा मनोहारी सभी छन्दों का प्रयोग पण्डितराज जगन्नाथ ने किया है। कहीं-कहीं पर ऐसे छन्दों का प्रयोग भी देखने को मिलता है जिसका प्रयोग प्रायः अन्य कवियों ने नहीं किया है, जैसे कवि भट्ट ने अपने पद्य संग्रह में ऐसे छन्द का प्रयोग किया है कि जो कि अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। यह कवि की प्रतिभा एवं छन्द ज्ञान का परिचायक है। कुसुमविचित्रा छन्द इसी कोटि में आता है, जो 12 अक्षर के छन्द जगती नामक छन्द के अन्तर्गत 976वॉ भेद है। उदाहरण तथा प्रयोग भी रमणीय है। जैसे-

"वरमसिधारा तरूतलवासो
वरमिह भिक्षा वरमुपवासः।
वरमपि घोरे नरके पतनं
नच धनगर्व्वितबान्धवशरणं।।"[2]

इस प्रकार नीति कव्यों का अध्ययन करने के अनन्तर यही निष्कर्ष निकलता है कि नीतिकारों ने प्रायः अपने नीति संबंधी विचारों को प्रस्फुट्ति करने के लिये उन्हीं छन्दों का प्रयोग बहुलता के साथ किया है जो वह्निस्फुलिंगवत पाठक को प्रभावित करते हैं। लयबद्धता के साथ नीतिपरक पद्यों का पाठ करने पर नीति स्वयं साकार रूप में उपस्थित हुई सी प्रतीत होने लगती है, साथ ही पाठ्कों के मन-मस्तिष्क को प्रभावित कर देती है। यही नीति काव्यों में प्रयुक्त छन्दों की विशेषता है। काव्य के लिये छन्द एक ऐसा बंधन है जिसके अन्तर्गत रहकर ही निज अनुभूतियों का वर्णन किया जा सकता है। छन्द, कवि के मनोभावों को प्रकट करने में स्वतः समर्थ होते हैं। नीतिपरक काव्यों में छन्दों के विवेचन में हमने प्रसिद्ध एवं मनोहारी छन्दों का ही विश्लेषण करने का प्रयास किया है और छन्दों की महत्ता और उस छन्द में प्रयुक्त नीति का विवेचन प्रसंगतः करने का प्रयास किया है जिससे छन्द और भाव का तारतम्य बना रह सके।

[1] नीतिशतक - श्लोक 18
[2] पद्य सग्रह - श्लोक 9

(II)
अलंकार

काव्य को सुगठित स्वरूप देने वाले छन्दों का विवेचन हम इसके पूर्व कर चुके हैं। छन्द के अतिरिक्त काव्य को अलंकृत करने वाले अलंकार माने जाते हैं। अतएव काव्य शास्त्रकारों ने काव्य की शोभा बढ़ाने वाले को अलंकार कहा है–

"काव्य शोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।।"[1]

चन्द्रालोककार आचार्य जयदेव ने स्पष्ट रूप से अलंकारों के महत्व को प्रतिपादित करते हुये कहा है कि जो काव्य को अलंकाररहित मानते हैं, उनका यह मानना अग्नि को शीतल मानने के समान है–

"अंगीकरोति यः काव्य शब्दार्थवनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलं कृती।।"[2]

वस्तुतः अलंकार शब्द स्वयं इसी ओर संकेत करता है– **'यः काव्यं अलं परियाप्तं पूर्णतां नयति सोऽलंकारः'**। इस व्युत्पत्ति से भी यही सिद्ध होता है कि अलंकारों के बिना काव्य में चारुता नहीं आ पाती। अतएव प्राचीन अलंकारिकों ने अलंकार को विशेष महत्व दिया है। काव्य को शब्द और अर्थ का योग माना गया है, जैसा कि– 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' से स्पष्ट होता है। इस दृष्टि से अलंकार भी शब्द और अर्थ भेद से दो प्रकार के होते हैं– शब्दालकार एवं अर्थालंकार।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भामह आदि काव्य शास्त्रकारों ने अलंकार को काव्य की आत्मा माना है। जिसका अभिप्राय यह है कि जैसे आत्मा के बिना शरीर की पूर्णता नहीं होती उसी प्रकार अलंकार के बिना काव्य में पूर्णता नहीं आती। यह उसी प्रकार है जैसे कोई स्त्री कितनी भी सुन्दर क्यों न हो अलंकारों के बिना उसकी शोभा अधूरी ही रह जाती है। जैसा कि काव्यालंकार में कहा गया है–

"रूपादिरलंकारस्तस्यान्यैर्वहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता मुखम्।।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य शास्त्र में अलंकारों का सर्वाधिक महत्व माना गया है। यही कारण है कि काव्य शास्त्र को अलंकार शास्त्र भी कहा जाता है। राजशेखर ने अलंकारों को वेद का सातवाँ अंग माना है। अलंकार वेदार्थ के उपकारक हैं, क्योंकि इनके बिना वेदार्थ की अवगति नहीं हो सकती। जैसा कहा है–

---

[1] काव्यालकारसूत्र – 3/1/1,2
[2] चन्द्रालोक – 1/8

उपकारकत्वात् अलंकारः सप्तममङ्गमिति यायावरीयः।

ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानात् वेदार्थानवगतिः।।"[1]

वस्तुतः काव्य के सौन्दर्याधायक तत्व तो अनेक हैं परन्तु उन सबमें अलंकारों का सर्वाधिक प्राधान्य है। अतएव दण्डी ने काव्यादर्श में कहा है-

'काव्य शोभा करान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते'

रुय्यक ने भी अलंकार सर्वस्व में कहा है-

'अलंकारा एव काव्ये प्रधानम्'

अतः यही सिद्ध होता है कि काव्य के सौन्दर्याधायक तत्वों में अलंकार प्रमुख स्थान रखते हैं। भरत मुनि ने अलंकारों की गणना करते हुये जिन चार अलंकारों का उल्लेख किया उन्हें मुख्य मानते हुये परवर्ती अलंकारिकों ने उनें परिवर्द्धन किया है। वस्तुतः अलंकार मानवीय विचारों के अधीन हैं, इनके साथ सामीप्य, साधर्म्य और विरोध ये तीन नियम एक साथ रहा करते हैं। इसी दृष्टि को नीति काव्यों में देखा जा सकता है। अलंकार, काव्य या भाषा को अलंकृत करते हैं और भाषा या काव्य जब तक अलंकृत नहीं होते तब तक पाठकों को आकृष्ट करने में समर्थ नहीं हो पाते। अतएव काव्यालंकारसूत्र में वामज ने कहा है कि अलंकार के कारण ही काव्य ग्राह्य होते हैं, और सौन्दर्य ही अलंकार है -

"काव्यं ग्राह्यम् अलंकारात्। सौन्दर्य अलंकारः।।"[2]

इस प्रकार अलंकार काव्य को उत्कृष्ट बनाते हैं और अलंकारों का प्रयोग काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने के लिये किया जाता है। अलंकार भाव तथा अभिव्यक्ति को प्रकट करने में समर्थ होते हैं। यही अभिप्राय नीति काव्यों में देखने को मिलता है और इसी को आधार मानते हुये नीति काव्यों में अलंकारों का प्रयोग हुआ है। नीति काव्यकारों ने उन्हीं अलंकारों को प्रमुख रूप से प्रयोग किया है जो नीति के लिये विशेष उपयोगी सिद्ध हुये हैं; जैसे- उपमा, रूपक, वक्रोक्ति, अर्थान्तरन्यास, समासोक्ति और विशेष रूप से अन्योक्ति अलंकार नीति काव्यों उें देखने को मिलते हैं। ऐसे अलंकारों का प्रयोग नीति काव्यों में प्रायः देखने को नहीं मिलता जो द्विअर्थी हों, जैसे- श्लेष। इसी प्रकार भ्रान्तिमान, व्यतिरेक, अपह्नुति, संदेह आदि अलंकारों का प्रयोग भी नीति काव्यों में देखने को नहीं मिलता। इसका कारण यही प्रतीत होता है क़ि नीति सटीक एवं स्पष्ट होनी चाहिये। नीति में अन्योक्ति या अन्यापदेश तो हो सकता है परन्तु दो अर्थो को प्रकट करने वाले

---

[1] काव्यमीमांसा

[2] काव्यालंकार सूत्र 1/1/1,2

अतः महाकाव्यों, रूपकों, मुक्तकों तथा नीति परक काव्यों में नीति के अनुकूल जिन अलंकारों का प्रयोग बहुधा किया गया है उनका दिग्दर्शन कराने का प्रयास हम यहाँ कर रहे हैं। अलंकारों में मनोवैज्ञानिक आधार भी विद्यमान रहता है, जैसे महाकवि कालिदास ने लौकिक मनोवैज्ञानिकता के आधार पर अभिज्ञान शाकुन्तलम् में उत्प्रेक्षा अलंकार का प्रयोग किया है-

"अर्थो हि कन्या परकीय एव
तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः।
जातो ममायं विशदः प्रकामं
प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा।"[1]

इस पद्य में इव शब्द का प्रयोग उत्प्रेक्षा का वाचक है जिसके द्वारा उपमेय में उपमान की सम्भावना प्रकट की गई है। यहाँ उपमा का स्थान नहीं क्योंकि उपमा में उपमेय और उपमान की समानता दिखलायी जाती है। उत्प्रेक्षा, वाच्य और प्रतीयमा दो प्रकार की होती है- जहाँ वाचक शब्द का प्रयोग किया जाय वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा और जहाँ वाचक शब्द का प्रयोग न हो वहाँ पर प्रतीयमानोत्प्रेक्षा होती है। यहाँ वाचक शब्द इव का प्रयोग हुआ है, अतः यहाँ पर वाच्योत्प्रेक्षालंकार स्पष्ट है। इस अलंकार के द्वारा कवि ने कण्व के माध्यम से कहा है कि सामाजिक प्राणी की यह मनोवैज्ञानिकता रहती है कि वह दूसरां की सम्पत्ति की रक्षा को भार स्वरूप समझता है। यह भाव यहाँ कवि ने न्यास पद से व्यक्त किया है। यह न्यास पद कन्या की ओर इंगित करता है। इससे यह ध्वनित होता है कि न्यास के समान कन्या को गृहीता के हाथ में समर्पित कर मानो पिता भार से मुक्त हो गया है। इसी प्रकार अभिज्ञान शाकुन्तलम् का यह नीति वचन भी दृष्टव्य है -

"अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेव वैरीभवति सौहृदम्।।"[2]

यहाँ सामान्य जन के लिये यह नीति कही गई है कि किसी भी प्रकार की मित्रता अथवा सम्बन्ध सम्यक रूप से परीक्षण करने के अनन्तर ही करना चाहिये क्योंकि एकान्त में एक दूसरे को बिना जाने किया गया सम्बन्ध अन्त में दुःखदायी ही हुआ करता है। इस नीति को कवि ने अर्थान्तरन्यास अलंकार के माध्यम से व्यक्त किया है। यहाँ विशेष का सामान्य के द्वारा वैधर्म्य से समर्थन किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत को न

---

[1] अभिज्ञान शाकुन्तलम् - 4/22
[2] अभिज्ञान शाकुन्तलम् - 5/24

बताकर अप्रस्तुत मात्र को बतलाये जाने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार भी प्रतीत होता है, क्योंकि जहाँ प्रासंगिक बात को छोड़कर अप्रासंगिक बात के वर्णन द्वारा उसका बोध कराया जाय वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है। यहाँ प्रस्तुत को न बतलाकर अप्रस्तुत को व्यक्त किय गया है, अतः अप्रस्तुतप्रशंसा की भी सम्भावना प्रतीत होती है परन्तु जहाँ विशेष से सामान्य का या सामान्य से विशेष का साधर्म्य अथवा वैधर्म्य के अनुसार समर्थन किया जाय वहाँ अर्थान्तर न्यास अलंकार होता है। यहाँ प्रथम पंक्ति में वर्णित विशेष का द्वितीय पंक्ति में वर्णित सामान्य के द्वारा वैधर्म्य से समर्थन किया गया है, अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार की स्पष्ट प्रतीति होती है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने दर्पदलनम् नीति काव्य में मनुष्यों में प्रधान रूप से उत्पन्न होने वाले मद के सात कारणों का उल्लेख किया है, जिससे दृष्टान्त के साथ ही साथ उपमा तथा अर्थान्तरन्यास अलंकार के प्रयोग से उक्त नीति काव्य की विशेषता के साथ सौन्दर्यात्मकता भी प्रकट होती है। इस सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है कि मनुष्यों में कुल, वित्त, श्रुत, रूप, शौर्य, दान तथा तप के आधार पर गर्व उत्पन्न हो जाता है परन्तु इन सभी पर मनुष्य को कभी गर्व नहीं करना चाहिए, ये सब क्षणिक हैं। कुल का महत्व गुणों के अधीन रहता है, अतः सद्गुण ही मनुष्य को श्रेष्ठ बनाते हैं, कुल नहीं। गुणों का प्रभाव नष्ट हो जाने पर कुलाभिमान स्वतः समाप्त हो जाता है, अतः गुणों के प्रति सदैव आदर भाव रखना चाहिए। अपने इस कथन को दृष्टान्तालंकार में पिरोते हुये क्षेमेन्द्र ने कहा है–

"गुणेष्वनादरं पुत्र प्राप्तश्रीरपि मा कृथाः।
संपूर्णोऽपि घटः कूपाद्गुणच्छिन्नः पतत्यधः।।"[1]

अभिप्राय यह है कि जल सम्पत्ति से परिपूर्ण घट गुण अर्थात् रस्सी के सहारे ही उन्नति को प्राप्त करता है अर्थात् ऊपर को उठता है। यदि गुण अर्थात् रस्सी का आश्रम टूट जाये तो निश्चित रूप से उसका अधः पतन हो जाता है। यह दृष्टान्त मनोवैज्ञानिक तथा नितान्त लौकिक होने के कारण हृदयावर्जक है, और इससे यही सिद्ध होता है कि सद्गुणों से रहित होने पर मनुष्य का पतन निश्चित रूप से हो जाता है।

धन के सम्बन्ध में दिया गया उपमालंकार का उदाहरण अत्यन्त सटीक है कि जो धन का न तो दान करते हैं और न भोग करते हैं, उनका धन मूषकों के समान स्वयं क्षय को प्राप्त हो जाता है। जैसा कहा है–

[1] दर्पदलनम् – 1/38

"अदत्तभुक्तमुत्सृज्य धनं सुचिररक्षितम्।
मूषका इव गच्छन्ति कदर्याः स्वक्षये क्षयम्।।"[1]

कुसुमदेव रचित 'दृष्टान्तशतक' नीति काव्य में दृष्टान्तालंकार का प्रयोग अतिशय चारुता के साथ के साथ किया गया है। प्रत्येक दृष्टान्त लोकार्हत होने के कारण सहजगम्य है। जैसा कहा है कि मनुष्य के दोष जितनी सरलता के साथ दिखलायी पड़ते हैं, उतनी सहजता के साथ गुण नहीं दिखायी पड़ते, दृष्टान्त के रूप में चन्द्रमा को प्रस्तुत करते हुये कहा है कि चन्द्रमा का कलंक ही स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है –

"यथा दोषो विभात्यस्य जनस्य न तथा गुणः।
प्रायः कलङ्कएवेन्दोः प्रस्फुटो न प्रसन्नता।।"[2]

प्राप्त हुआ उत्सव जितना आनन्ददायक होता है उतना उसके समाप्त हो जाने पर आनन्द नहीं मिलता। इस कथन को दृष्टान्त अलंकार के माध्यम से व्यक्त करते हुये कहा है कि जैसे, उदय को प्राप्त होता सायंकालीन चन्द्रमा जितना आह्लादकारी होता है उतना उषाकाल में नहीं होता–

"आगच्छदुत्सवो भाति यथैव न तथा गतः।
हिमांशोरूदयः सायं चकास्ति न तथोषसि।।"[3]

इस दृष्टान्त के द्वारा यह नीति प्रदर्शित की गई है कि मनुष्य को उन्नति की ओर ही अग्रसर होते रहना चाहिए। क्षीण होता हुआ व्यक्ति जब उन्नति को प्राप्त करने का प्रयास करता है तो उस व्यक्ति का सभी सम्मान करते हैं, साथ ही यह भी नीति है कि उन्नति के अनन्तर यदि कोई अवनति को प्राप्त करता है, तो वह अनादर का पात्र हो जाता है। इसी अभिप्राय को महाकवि भारवि में उपमा अलंकार के माध्यम से व्यक्त करते हुये कहा है–

"क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधते धाम शिवं समृद्धये।
प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम्।।"[4]

महाकवि भारवि का अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग सर्वोत्कृष्ट माना गया है, इसके अतिरिक्त उपमालंकार के द्वारा प्रदर्शित नीति भी अत्यन्त स्पृहणीय है। इनकी नीति यद्यपि राजनीति से पूर्ण है फिर भी सामान्य जनों के लिये भी उतनी ही लाभदायक है। भारवि ने कहा है कि जो व्यक्ति समवृत्ति का अर्थात् समय पर कोमलता और समय पर

---

[1] दर्पदलनम् – 2/71
[2] दृष्टान्तशतक – श्लोक 4
[3] दृष्टान्तशतक – श्लोक 86
[4] किरातार्जुनीयम् – 2/11

कठोरता का आश्रयण करता है वह व्यक्ति सूर्य के समान अपने तेज से सभी को अभिभूत कर देता है–

"समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम्।
आधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः।।"[1]

अधिकांश रूप से अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास तथा अन्योक्ति आदि अलंकारों का प्रयोग नीति परक उपदेशों में देखने को मिलता है। मृच्छकटिक में अप्रस्तुतप्रशंसा का प्रयोग दर्शनीय है–

"सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम्।
सुखात्तु यो याति नरो दरिद्रतां धृतः शरीरेण मृतः स जीवति।।"[2]

यहाँ पर अप्रस्तुत नर सामान्य कथन से प्रस्तुत चारुदत्त व्यक्ति विशेष की प्रतिपत्ति होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है, साथ ही पूर्वार्द्ध 'घनान्धकारेष्विव' में उपमा अंगाङ्गि भाव से संकर अलंकार की भी प्रतीति होती है। यहाँ पर सामान्य रूप से यही नीति व्यक्त की गई है कि सुख के अनन्तर जब दुःख की प्राप्ति होती है तो वह मृत्यु तुल्य होती है।

काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग भी मृच्छकटिक में दर्शनीय है –

"दारिद्रयान्मरणाद्वा मरणं मम रोचते न दारिद्रयम्।
अल्पक्लेशं मरणं दारिद्रयमनन्तकं दुःखम्।।"[3]

उक्त पद्य में सामान्य से विशेष का समर्थन करते हुये यह नीति व्यक्ति की गई कि दरिद्रता और मृत्यु में मृत्यु ही श्रेष्ठ है, क्योंकि मृत्यु में अल्प ही कष्ट होता है,. जबकि दरिद्रता जीवन पर्यन्त दु.ख देती रहती है।

'उत्तररामचरित' में अर्थान्तरन्यास अलंकार का उदाहरण अत्यन्त सटीक है, जहाँ यह नीति व्यक्ति की गई कि तेजस्वी व्यक्ति दूसरों के व्यापक तेज को सहन करने में समर्थ नहीं होते, क्योंकि उनका यह स्वाभाविक गुण होता है। जैसे सूर्य के तेज को सहन न करते हुये सूर्यकान्तमणि अपने को अपमानित समझकर स्वयं आग उगलने लगती है, क्योंकि यह उसका स्वभाव है। यहाँ स्पष्ट रूप से अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग हुआ है। निकृत शब्द के साथ इव शब्द का प्रयोग होने के कारण उत्प्रेक्षालंकार भी प्रतीत होता है। इव शब्द जब क्रियापरक शब्द के साथ होता है तो वहाँ वाच्योत्प्रेक्षा होती है। इस प्रकार यहाँ अर्थान्तरन्यास और उत्प्रेक्षा दोनों अलंकारों का प्रयोग हुआ है–

---

[1] किरातार्जुनीयम् – 2/38
[2] मृच्छकटिक – 1/10
[3] मृच्छकटिक – 1/11

"न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते,
न तस्य स्वो भावः प्रकृतिनियतत्वादकृतकः।
मयूखैरश्रान्तं तपति यदि देवो दिनकरः,
किमाग्नेयो ग्रावा निकृत इव तेजांसि वमति।।"[1]

अर्थान्तरन्यास अलंकार के माध्यम से भवभूति द्वारा कही गई नीति कवि के सौन्दर्यबोध के साथ ही साथ नीतिज्ञता को भी प्रकट करती है-

"व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन्प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदिते पुण्डरीकं,
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः।।"[2]

यहाँ उक्त अलंकार के माध्यम से कवि ने सामान्य जन हेतु नीति प्रदर्शित की है कि मित्रता अथवा शत्रुता किन्हीं वाह्य कारणों पर अवलम्बित नहीं रहती, इनका हेतु अव्यक्त रूप से हृदय में विद्यमान रहता है। प्रीति बाहरी कारणों पर नहीं अपितु आन्तरिक कारणों पर आश्रित रहती है। इस कथन के समर्थन में कहा है कि सहस्त्रों चन्द्रमा के उदय होने पर भी कमल विकसित नहीं होता और उसी प्रकार सहस्त्रों सूर्य भी चन्द्रकान्त मणि को द्रवित नहीं कर सकते। कमलों का आन्तरिक स्नेह सूर्य से और चन्द्रकान्त मणि का चन्द्रमा से होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शत्रुता अथवा मित्रता का कोई अनिर्वचनीय कारण होता है, जिसके आधार पर लोगों में मित्रता और शत्रुता हुआ करती है।

अर्थान्तरन्यास अलंकार का अतीव सुन्दर प्रयोग महाकवि भारवि के किरातार्जुनीयम में देखने को मिलता है, जहाँ भारवि ने कहा है कि लोग भस्म समूह के तो पैरों तले रौंद देते हैं परन्तु जलती हुई अग्नि को रौंदने का साहस नहीं करते। इस कथन के समर्थन में यह नीति व्यक्त की गई है कि स्वाभिमानी लोग अनादर के भय से अपने प्राणों का बलिदान सुखपूर्वक कर देते हैं परन्तु किसी भी परिस्थिति में स्वाभिमान का त्याग नहीं करते, क्योंकि मानियों के लिए स्वाभिमान त्याग की अपेक्षा प्राणों का उत्सर्ग कर देना श्रेष्ठ माना गया है -

"ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः।।"[3]

---

[1] उत्तररामचरितम् - 6/14
[2] उत्तररामचरितम् - 6/12
[3] किरातार्जुनीयम् - 2/20

अर्थान्तरन्यास अनुप्राणित उपमालंकार से युक्त भारवि का प्रयोग विद्वानों आदि के लिये ही नहीं अपितु जन सामान्य के लिये भी हितकर है। जहाँ कहा है कि वे मूर्ख व्यक्ति निरन्तर पराभव को प्राप्त करते हैं जो कपट करने वाले व्यक्तियों के साथ वैसा ही कपटपूर्ण व्यवहार नहीं करते, क्योंकि ऐसा न करने वाले व्यक्तियों के साथ धूर्तो का व्यवहार उसी प्रकार होता है, जैसे कवचरहित शरीर में तीखे बाण प्रवेश करके कष्ट पहुँचाते हैं। मायावियों के साथ सरलता का व्यवहार करन उचित नहीं। वस्तुतः 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीति को व्यक्त करते हुये कवि ने कहा है-

"व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः।।"[1]

'बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछ्ताय' की नीति महाकवि भारवि के निम्नोक्त कथन में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। यहाँ प्रथम कथन का दूसरे से समर्थन किया गया है, अतः अर्थान्तरन्यास अलंकार का एक अतीव सुन्दर उदाहरण है, जैसा कहा है-

"सहसाविदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।।"[2]

महाकवि माघ ने भी शिशुपालवध में अर्थान्तरन्यास अलंकार के साथ अन्य अलंकारों का भी प्रयोग बड़ी सहजता के साथ किया है। अर्थान्तरन्यास अलंकार का प्रयोग करते हुये यह नीति व्यक्त की है कि जब तक एक भी शत्रु शेष रहे तब तक सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं जैसे राहु देवताओं के सामने ही सोम अर्थात् चन्द्रमा का ग्रहण कर लेता है। इस कथन से यह नीति झलकती है कि शेष रह जाने पर रोग और शत्रु सदैव दुःखदायी हुआ करते हैं, इस नीति को विशेष से सामान्य का समर्थन करते हुये महाकवि माघ ने कहा है-

"ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुतः सुखम्।
पुरः क्लिश्नाति सोमं हि सैंहिकेयोऽसुरद्रुहाम्।।"[3]

महाकवि माघ ने व्यतिरेकालंकार का भी प्रयोग नीति के लिये किया है। व्यतिरेक का अभिप्राय उल्टा होता है अर्थात् जहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय का अधिक उत्कर्ष बतलाया जाय वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है। इसी का पालन करते हुये कवि ने कहा है कि धूलि पैरों से आहत होने पर उड़कर आहत करने वाले सिंर पर आक्रमण कर देती है और आँखों में पड़कर पीड़ा को उत्पन्न कर देती है। धूलि अचेतन है फिर भी वह अपने

---

[1] किरातार्जुनीयम् - 1/30
[2] किरातार्जुनीयम् - 2/30
[3] शिशुपालवध - 2/35

अपमान को सहन नहीं करती, अतः अपमान सहकर भी सन्तुष्ट रहने वाले चेतन व्यक्ति से वह धूलि कहीं श्रेष्ठ है। जैसा कहा है–

"पादाहत यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः।।"[1]

उक्त कथन से धूलि के माध्यम से कवि ने सभी लोगों के लिये यह नीति व्यक्ति की है कि अपमानित होकर जीवन व्यतीत करना श्रेयष्कर नहीं, क्योंकि जब धूलि अचेतन होकर अपमान न सहन करते हुये आहत करने वाले को यदि और कुछ कष्ट नहीं दे सकती तो भी उसे धूल–धूसरित तो कर ही देती है। अतः अचेतन धूलि से यही शिक्षा लनी चाहिये कि अपमानित करने वाले को यथा सम्भव दण्डित अवश्य करना चाहिये।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भामिनी विलास नामक ग्रन्थ के प्रथम विलास में आधे से अधिक पद्यों में अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का प्रयोग किया है। अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार वहाँ होता है, जहाँ अप्रस्तुत व्यवहार के द्वारा प्रस्तुत व्यवहार का वर्णन किया जाय। जैसे शिशुपाल वध में अप्रस्तुतप्रशंसालंकार का प्रयोग करते हुये यह नीति व्यक्त की गई है जो मृदु अर्थात् सरल होता है वह सदा पीड़ित रहा करता है, जैसे चन्द्रमा और सूर्य दोनों को तुल्य अपराधी होने पर भी मृदु होने के कारण चन्द्रमा को ही राहु ग्रसता रहता है। यहाँ प्रस्तुत, अप्रस्तुत सूर्य और चन्द्रमा के कथन के द्वारा सारूप्य अप्रस्तुतप्रशंसालंकार है, जो नीति का सुन्दर उदाहरण माना गया है–

"तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण् यत्।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम्।।"[2]

प्रायः अधिकांश अलंकारिकों ने अर्थान्तरन्यास के उदाहरण में माघ के निम्नोक्त उदाहरण को श्रेष्ठ माना है–

"बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा।।"[3]

यहाँ विशेष रो सामान्य का समर्थन करते हुये यह नीति व्यक्त की गई है कि छोटे से छोटा मनुष्य भी महान व्यक्तियों की सहायता से अपने कार्य को उसी प्रकार सफल कर लेता है जिस प्रकार छोटी–छोटी नदियाँ बड़ी नदियों का सहारा पाकर समुद्र तक पहुँच जाती है। इस प्रकार महान लोगों का सम्पर्क ही उन्नति के मार्ग को प्रशस्त करता है, जैस–

---

[1] शिशुपालवध – 2/46
[2] शिशुपालवध – 2/49
[3] शिशुपालवध – 2/100

'कीटोऽपि सुमन सम्पर्कात् आरोहति सतां शिरः'

भर्तृहरि ने अपने नीतिशतक में अर्थान्तरन्यास अलंकार का सर्वाधिक प्रयोग किया है, परन्तु इसके अतिरिक्त काव्यलिङ्ग तथा उपमालंकार का भी प्रयोग किया है तथा रूपक और अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार का भी प्रयोग देखने को मिलता है। अर्थान्तरन्यास अलंकार के माध्यम से नीति व्यक्त करते हुये कहा है-

"शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं
महीध्रादुंत्तुङ्गादषनिभवनेश्चापि जलधिम्।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।।"[1]

यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार के माध्यम से यह नीति व्यक्त की गई है कि जो विवेक से भ्रष्ट हो जाते हैं, उनका अधः पतन अनेक प्रकार से होता रहता है। अतः मनुष्य को कभी अपने विवेक का परित्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि मनुष्य को उसका विवेक ज्ञान ही श्रेष्ठ बनाता है।

काव्यलिङ्ग अलंकार का भी प्रयोग अधिकांश नीति काव्यकारों ने अपने नीति परक काव्यों में किया है। काव्यलिङ्ग अलंकार का लक्षण करते हुये आचार्य विश्वनाथ ने कहा है-

"हेतार्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गम् निगद्यते।"[2]

अभिप्राय यह है कि वाक्यार्थ अथवा पदार्थ जहाँ किसी का हेतु हो वहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार होता है। जैसे भर्तृहरि ने काव्यलिङ्ग अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण देते हुये कहा है कि मनुष्य को कुशलतापूर्वक जीवन यापन करने के लिये पृथक-पृथक स्तर के व्यक्तियों के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार का व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकार का आचरण करने वाला व्यक्ति ही सफल होता है। अपने इस कथन के समर्थन में हेतु भी प्रदर्शित कर दिये हैं, अतः यह काव्यलिङ्ग अलंकार का उत्कृष्ट उदाहरण बन पड़ा है-

"दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने शाठ्यं सदा दुर्जने,
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जने चार्जवम्।
शौर्य शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने घृष्टता,
ये चैवं पुरूषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः।।"[3]

---

[1] नीतिशतक - श्लोक 11
[2] साहित्य दर्पण - परिच्छेद 10
[3] नीतिशतक - श्लोक 23

भामिनी विलास में पण्डितराज जगन्नाथ में यद्यपि नीति तथा अन्यापदेश वर्णन करते हुये अनेक अलंकारों का प्रयोग किया है परन्तु यहाँ पर अप्रस्तुतप्रशंसा का उदाहरण अत्यन्त उत्कृष्ट एवं दर्शनीय है–

"पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्-
परागसुरभीकृते पयसि यस्य वीतं वयः।
स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले
मरालकुलनायकः कथय रे! कथं वर्त्तताम्।।"[1]

यहाँ राजहंस के माध्यम से ऐसे व्यक्ति का उल्लेख किया गया है कि जिसने अपना जीवन ऐश्वर्य के साथ व्यतीत किया, परन्तु भाग्यवश वृद्धावस्था में विपन्नता का जीवन व्यतीत करने को विवश है। यहाँ राजहंस का वर्णन अप्रस्तुत है। इस प्रकार यहाँ यह नीति भी अन्योक्ति के माध्यम से प्रस्तुत की है कि ऐश्वर्यवान होने पर धन का उच्छ्रन्खलतापूर्वक दुरूपयोग नहीं करना चाहिये, क्योंकि जीवन की अवधि का कोई भरोसा नहीं रहता। अतः शेष धन का सदुपयोग करते रहने पर वृद्धावस्था में कभी धन के अभाव में कष्टानुभूति नहीं होती।

इस प्रकार नीतिपरक काव्यों का अध्ययन करने के अनन्तर यही प्रतीत होता है कि इनमें अप्रस्तुतप्रशंसा, अर्थान्तरन्यास, उपमा, दृष्टान्त, रूपक, उत्प्रेक्षा, दीपक तथा अन्योक्ति परक अलंकारों का विशेष रूप से प्रयोग किया गया है। परन्तु इनमें भी अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुतप्रशंसा, दृष्टान्त तथा काव्यलिङ्ग अलंकारों का प्रयोग बहुलता के साथ किया गया है। नीति काव्यकारों ने उन्हीं अलंकारों को अपनाने का प्रयास किया है जिनका नीति प्रतिपादन करने में सार्थकता है और जो प्रचलित एवं बोधगम्य हैं क्योंकि नीतियाँ विलक्षण विद्वानों के लिये कम और सामान्य जनों के लिये अधिक उपयोगी हुआ करती है। अतः नीतिवचनों को यदि अलंकारादि के भार से बोझिल कर दिया जाय तो उनकी सहजता, सरलता और बोधगम्यता नष्ट हो सकती है। यही कारण है कि इन सबके अतिरिक्त नीति काव्यकारों ने अन्योक्ति अलंकार को अधिक प्रयुक्त किया है, क्योंकि अन्योक्ति ही एक ऐसा अलंकार है जिसका प्रयोग कवि सहजता के साथ कर सकता है। इसी कारण अन्योक्ति और अन्यापदेश नाम से अनेक नीति काव्य लिखे गये। कवि अपने काव्य में समाज का यथार्थ चित्रण अन्योक्ति के माध्यम से करने में अधिक समर्थ होता है। जैसा कि डा० राजेन्द्र मिश्र ने कहा है–

---

[1] भामिनीविलास – 1/2

"काव्य क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली ऐसी भी अभिव्यञ्जन परिपाटियाँ हैं जो समाज का चित्र तो वही खीचेंगी जैसा कि वह अथवा उसके व्यक्ति स्वयं होंगे किन्तु उनकी अभिव्यक्ति का मार्ग दूसरा ही होगा। वही मार्ग अन्योक्ति शैली का विषय है जो कि लक्षणा, व्यञ्जना से पल्लवित होता है।"[1]

अन्योक्ति के द्वारा कटु और यथार्थ दोनों को एक साथ प्रस्तुत किया जा सकता है क्योंकि इसक माध्यम विशेष व्यक्ति न होकर अन्य हुआ करते हैं, यही इसकी विशेषता है। अन्योक्ति की विशेषता को व्यक्त करते हुये डा० राजेन्द्र मिश्र ने यथार्थ ही कहा है-

"अन्योक्ति शैली उस कोटि के काव्य की जनयित्री है जो वस्तुतः सहृदयों को अभीष्ट है। किसी व्यक्ति का दोष अथवा गुण उसके मुँह पर ही बेधड़के कहना वक्ता और बोधव्य दोनों के लिये शुभकारक नहीं क्योंकि बोधव्य दोनों तथ्यों को सुनकर क्रमशः या तो क्रुद्ध होकर या तो कुछ गलत काम कर बैठेगा और या तो आत्म प्रख्यापन से अभिभूत होकर घमण्ड के नशे में चूर होकर पथ भ्रष्ट होगा। इसी प्रकार वक्ता भी या तो मार खायेगा या फिर किसी भले व्यक्ति को विनाश पथ पर ले जाने का कारण बनेगा।"[2]

इन सभी दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर नीति काव्यकारों ने अलंकारों का प्रयोग किया है, जिनका कि हमने यथा सम्भव संक्षेप में दिग्दर्शन कराने का प्रयास किया है।

---

[1] संस्कृत साहित्य में अन्योक्ति - पृष्ठ 297
[2] संस्कृत साहित्य में अन्योक्ति - पृष्ठ 298

(III)
रस एवं गुण

छन्दों के अनुसार काव्य का ढाँचा तैयार हो जाता है अथवा काव्य की प्रतिकृति तैयार हो जाती है और उस प्रतिकृति को सुन्दर और आकर्षक बनाने के लिये विविध रंगो से उसे रंजित किया जाता है अर्थात् छन्दों के ढाँचे से तैयार की गई प्रतिकृति को जब अलंकारों से अलंकृत कर दिया जाता है तो वह काव्य सुन्दर प्रतीत होने लगता है अर्थात उसके सौन्दर्य में वृद्धि हो जाती है। अतएव काव्यकारों ने कहा है कि शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं और अलंकार, कटक कुण्डलादि के समान उस काव्य रूपी शरीर को अलंकृत कर देते है। ये अलंकार काव्य के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले होते हैं जिनका पूर्व में हम विवेचन कर चुके हैं। परन्तु रस के बिना काव्य में प्राणत्व की प्रतीति नहीं होती। जैसा कि अग्नि पुराण में कहा गया हैं–

''वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।।''

वस्तुतः काव्य का चरम फल रस को ही माना गया है, क्योंकि उसकी परिणति सहृदयों को रसानुभूति में ही होती है। रस का आस्वादन वाह्य इन्द्रियों से न होकर अन्तरेन्द्रिय से होता है। यद्यपि सौन्दर्य आदि को देखकर आनन्द की प्राप्ति होती है परन्तु वह आनन्द भी आन्तरिक ही होता है। इसी कारण रस को काव्य क्षेत्र में ही नहीं अपितु वैदिक ग्रन्थों में भी महत्व देते हुये ब्रह्म को रसस्वरूप ही कहा गया है, जिसकी पुष्टि 'रसो वै सः' से हो जाती है। सर्वाधिक पुष्टि 'रस एव लब्ध्वा आनन्दी भवति' वाक्य से हो जाती है। जहाँ रस को ही आनन्द की चरम सीमा माना गया है। रस के महत्व को व्यक्त करते हुये भरत मुनि ने यहाँ तक कह दिया है कि रस शून्य कोई काव्य हो ही नहीं सकता–

"न हि रसादृते कश्चिद् अर्थः प्रवर्तते"

अतएव आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' कहकर रसात्मक वाक्य को ही काव्य माना है। इस प्रकार उत्तम काव्य वही माना जाता है जो रसात्मक हो, अतएव रस को ब्रह्मानन्द सहोदर भी कहा गया है। क्योंकि रस का आनन्द ब्रह्मानन्द के समान ही होता है। अतएवं उद्भट सागर में कहा गया है–

''धन्याः कवीश्वरास्ते हि रससागरपारगाः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।''[1]

---

[1] उद्भट सागर 1/115

इसी कथन की पुष्टि के समर्थन में आचार्य भर्तृहरि ने श्लेष का पुट देते हुए अपने उद्गार व्यक्त किये हैं–

"जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।"[1]

इसी कारण साहित्य शास्त्र में रस का महत्व सर्वोकृष्ट माना गया है। नीति काव्यकारों ने भी रसों को अपने नीति वचनों में अपनाया है, परन्तु नीति प्रधान होने के कारण उनमें रस के साथ हो साथ रसाङ्गों की अर्थात् गुणों की प्रधानता है।

उद्भट सागर में शान्त रस का प्रयोग करते हुये कहा गया है कि इस संसार मे कर्म का फल बड़ी विषमता के साथ देखने को मिलता है अर्थात् कोई मनुष्य अपने कर्म फलों के आधार पर पालकी को ढ़ोता है और कोई अपने कर्म फल के अनुसार पालकी पर सवारी का सुख भोंगता है। इस सबको देखकर यही शान्त रस अनुप्राणित नीति स्पष्ट होती है कि कर्म फल ही प्रधान होता है–

"सुमहत् फलवैषम्यं कर्म्मणामिह दृश्यते।
वहन्ति शिविकां केचिदारोहन्त्यपरे सुखम्।।"[2]

विषयासक्त मनुष्य मृत्यु की चिन्ता से विरत रहा करता है, उसे यह चिन्ता कभी भी नहीं होती कि उसकी कभी मृत्यु भी होगी। अतएव वह बाल्यावस्था में माता और पिता के आश्रय में रहता है और युवावस्था में दयितामय हो जाता है और वृद्धावस्था में वह पुत्रमय हो जाता है, जीवन इसी प्रकार व्यतीत करते हुए कभी भी वह आत्ममय नहीं हो पाता, यही सबसे बड़ी विडम्बना है। जैसा कि शान्त रस के माध्यम से कहा गया है–

"मातापितृमयो बाल्ये यौवने दयितामयः।
शेषेऽपत्यमयो मूढो हन्त नात्ममयः क्वचित्।।[3]

नीलकण्ठ दीक्षित ने शान्त रस का प्रयोग शान्तिविलास में बड़ी ही गम्भीरता के साथ किया है। जैसे कहा है कि पेट की अग्नि शान्त हो गई है, काम की वार्ता स्थगित है, प्रत्येक दिशाओं में दौड़ते हुये इन्द्रिय रूपी अश्व श्रान्त हो गये हैं, इस प्रकार मेरे समस्त बैरी शान्त हो चुके हैं, परन्तु इतना होने पर भी मेरा चित्त मेरे वश में नहीं हो पा रहा है–

---

[1] नीतिशतक – श्लोक 25
[2] उद्भट सागर – 1/141
[3] उद्भट सागर 1/147

"शान्तो वह्निर्जठरपिठरे संस्थिता कामवार्ता
धावं धावं दिशि दिशि शनैरिन्द्रियाश्वा निपेतुः।
एवं दैवीदुपरममगादेष मे वैरिवर्ग-
श्चेतस्त्वेकं न वशमयते किं करोमि क्व यामि।।"[1]

यहाँ पर यह नीति व्यक्त की गई है कि मनुष्य जीवन पद्धति अपने शरीर के सुख के लिये अनेक प्रकार के यत्न किया करता है और अन्त में जब सभी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और मनुष्य को विषयासक्त नहीं कर पाती परन्तु तब भी मन उसके वश में नहीं हो पाता। नीति यह कहती है कि मन को अपने वश में रखना ही सर्वश्रेष्ठ होता है। अतएव यह लोकोक्ति कही जाती है कि 'मनसि च परितुष्टे को अर्थवान को दरिद्रः'। इस प्रकार मन को ही वश में रखकर सभी इन्द्रियों को वश में रखा जा सकता है, क्योंकि यदि मन वश में नहीं रहेगा तो वह इन्द्रियों को कभी भी विषयों की ओर प्रवृत्त कर सकता है। अतः सुख प्राप्ति के लिए मन को वश में रखना परम आवश्यक है। जैसा कि शंकराचार्य ने "यतिपञ्चक में कहा है–

"स्वानन्द भावे परितुष्टिमन्तः
सुशान्तसर्वेन्द्रियतुष्टिमन्तः।
अहर्निशं ब्रह्मसुखे रमन्तः
कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः।।"[2]

नीतिकारों ने सुख शान्ति का साधन वैराग्य को माना है। वैराग्य का अभिप्राय त्याग से है। जो त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करता है उसे ही परम शान्ति की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त जीवन में भोग, धन, मान, रूप आदि से भय का लेश बना रहता है। जैसा कि सूक्तिगंगाधर में कहा गया है–

"भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं
सर्व वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्।।"[3]

भर्तृहरि रचित वैराग्यशतक भी शान्त रस से परिपूर्ण है, जिसमें कवि ने शान्त रस अनुप्राणित नीतियों का कथन किया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नीतिकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से सांसारिक हित के लिए शान्त रस को मुख्य आधार बनाकर विविध

---

[1] शान्ति विलास - श्लोक 12
[2] यतिपञ्चक - श्लोक 4
[3] सूक्तिगंगाधर 4/943

नीतियों का प्रस्फुटन किया है। स्तोत्रों तथा भक्ति काव्यों में भी जो उपदेशात्मक नीतियाँ व्यक्त की गई हैं वे भी शान्त रसानुप्राणित ही है।

शान्त रस के अतिरिक्त भर्तृहरि का श्रृंगार शतक नामतः ही श्रृंगार रस की ओर संकेत करता है जिसमें श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति नहीं प्रतीत होता, केवल श्रृंगारिकता से सम्बन्धित विषयों का परित्याग करने के लिये मनुष्यों को प्रेरित किया गया है। अतः ऐसी नीतियों को श्रृंगार रस से परिपूर्ण नीतियाँ तो नही कहा जा सकता केवल वे श्रृंगाराभास की ही प्रतीति कराती हैं। इसी आधार पर श्रृंगार शतक में भी कहीं-कहीं पर श्रृंगार की प्रतीति होती है। यथा-

"यद्वृत्तस्तनभार एष तरले नेत्रे चले भ्रूलते
रागान्धेषु तदोष्ठपल्लवमिदं कुर्वन्तु नाम व्यथाम्।
सौभाग्यक्षरपंक्तिरेव लिखिता पुष्पायुधेन स्वयं
मध्यस्थापि करोति तापमधिकं रोमावली केनसा।।"[1]

वस्तुतः श्रृंगार रस नीति के अनुकूल नही बन पाता, क्योंकि नीति की दृष्टि से उक्त रस का समापन प्राय. शान्त रस में ही हो जाया करता है। इससे विरतता के अतिरिक्त अन्य किसी स्पष्ट नीति की प्रतीति नहीं होती, अतः नीति से श्रृंगार रस का विशेष सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

वीर रस का प्रयोग भी नीति काव्यों में बहुशः देखने को नहीं मिलता, क्योंकि वीर रस का स्थायी भाव उत्साह माना गया है। अतः स्वाभिमान की रक्षा तथा अन्य कार्यो में उत्साहवर्द्धन सम्बन्धी नीतियाँ इस रस के अर्न्तगत आ जाती है। वीर रस,युद्धवीर, धर्मवीर, दानवीर आदि भेद से अनेंक प्रकार का माज लिया जाता है, जिसके आधार पर सामाजिकों के हित के लिये तथा उनका उत्साह बढ़ाने के उद्देश्य से इस रस के माध्यम से नीति वचनों का प्रयोग कर दिया गया है। जैसे जटायु के मरते समय श्रीराम ने अपने वीरत्वपूर्ण उत्साह के आधार पर कहा कि हे तात स्वर्ग में स्थित मेरे पिताजी से सीताहरण आदि के सम्बन्ध में कुछ मत कहना, क्योंकि यदि मै राम हूँ तो कुछ ही दिनों में रावण स्वयं जाकर यह प्रसंग स्वर्ग में कहेगा-

''तात त्वं निजकर्मणैव गमितः स्वर्ग यदि स्वस्ति ते
ब्रूमस्त्वेकमिदं वधूहृतिकथां तातान्तिकं मा कृथाः।
रामोऽहं यदि तद्दिनैः कतिपयै र्व्रीडानमत्कन्धरः
सार्ध बन्धुजनैः सुरेन्द्रविजयी वक्ता स्वयं रावणः।।[2]

---

[1] श्रृगारशतक -श्लोक 17

[2] सूक्तिगंगाधर - 4/925

उक्त कथन से यही नीति ध्वनित होती है कि किसी भी परिस्थिति में उत्साह का त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि उत्साह के न रहने पर कभी सफलता नहीं मिलती। उत्साह ही वीरता का प्रतीक है।

सूर्य का यह उत्साह उसके वीरत्व को ही प्रकट करता है कि एक पहिये वाले रथ पर विकलांग सारथी और विषम अश्वों के रहते हुये भी सूर्य आकाश मण्डल पर विचरण करता रहता है–

''एकचक्रो रथो यन्ता विकलो विषमा हयाः।
अखिलं व्योम तेजस्वी तथाप्याक्रमते रविः।।[1]

यहाँ भी यही नीति व्यक्त की गई है कि विषम परिस्थितियों के रहते हुये भी उत्साह से ही मनुष्य को सफलता प्राप्त होती है। अतएव कहा जाता है–

"क्रिया सिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे"

शिशुपालवध में महाकवि माघ ने उत्साह को बढ़ाने वाली वीरतापूर्ण जिन नीतियों का प्रतिपादन किया है, वे वीर रस का ही प्रतिपादन करती हैं, क्योंकि वे नीतियाँ मनुष्य का उत्साहवर्द्धन करने वाली हैं। जैसा कहा है कि शत्रु जब आपद्ग्रस्त हो तब उस पर आक्रमण करना चाहिये यह नीति महत्वाकांक्षी वीर विजेता के लिये लज्जास्पद है। वस्तुतः स्वाभिमानी विजयेच्छु के लिये शक्ति सम्पन्न शत्रु पर विजय प्राप्त करना ही उसके आनन्द को बढ़ाने वाली होती है। क्योंकि स्वस्थ सबल तथा मित्रों की सहायता से परिपूर्ण शत्रु पर ही महत्वाकांक्षी वीर योद्धा आक्रमण करते हैं–

"नीतिरापदि यद्गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रिये।
विधुर्विधुन्तुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः।।"[2]

महाकवि भारवि ने भी यही नीति कही है कि बलवान ही विजय को प्राप्त करनें में समर्थ होते हैं, बलहीन नहीं। युद्धस्थल में प्राप्त विजयश्री ही उत्कर्ष (उत्साह) को बढ़ाने वाली होती है। जैसा कहा है–

"लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जय श्रीः।।"[3]

भर्तृहरि ने भी कहा है कि सिंह शिशु यद्यपि छोटा होता है, परन्तु उसमें वीरत्व की कमी नहीं होती। वह अपने वीरतापूर्ण उत्साह के कारण ही स्वयं से कई गुना विशाल गजों पर प्रहार करता है–

---

[1] उद्भट सागर – 1/133
[2] शिशुपाल वध – 2/61
[3] किरातार्जुनीयम् – 3/17

"सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।
प्रकृतिरियं सत्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतु।।"[1]

उक्त विवेचन के आधार पर यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि वीर रस को भी कुछ नीतिकारों ने अपने नीति काव्यों में अंगीकार करते हुये नीतियों का प्रतिपादन किया है, जिसमें उत्साह को ही प्रमुख स्थान दिया गया है, जो कि उचित ही प्रतीत होता है। क्योंकि उत्साह के बिना वीरता का कोई महत्व नहीं। कोई कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो यदि वह उत्साह सम्पन्न नहीं है तो उसकी वीरता निष्प्रयोजन है। जैसा कि भारवि ने कहा है-

"अबन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः।।"[2]

महाकवि भवभूति ने सभी रसों में करूण रस को सर्वश्रेष्ठ मानते हुये कहा है कि एकमात्र करूण रस ही प्रधान है, अन्य सभी रस करूण रस में ही समाहित हो जाते है। जैसे जल, भँवर बुलबुले तथा तरंगो का रूप धारण कर लेता है परन्तु अन्त में जल के रूप में परिवर्तित हो जाते है, इसी प्रकार अन्य सभी रस करूण के ही विभिन्न रूप है।-

"एको रसः करूण एव निमित्तभेदा-
द्भिन्नः पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुद्तरङ्गमयान्विकारा-
नम्भो यथा, सलिलमेव हि तत्समस्तम्।।"[3]

करूण रस का स्थायी भाव शोक माना गया है। महाकवि शूद्रक ने करूण रस से सम्बन्धित नीति को मृच्छकटिक में अपनाते हुये कहा है कि शोकाकुल व्यक्ति विवेक शून्य हो जाता है, उसकी बुद्धि विकृत हो जाती है। फलतः वह विषम प्रकृति के वशीभूत होकर दुःखी होता है। जैसा कि दरिद्रता को सभी आपत्तियों का मूल मानते हुये कहा है-

"दारिद्रयादिध्रयमेति ह्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजसो
निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते।
निर्विण्णः शुचमेति शोकमिहितो बुद्धया परित्यज्यते
निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो निधनता सर्वापदामास्पदम्।।"[4]

'मृच्छकटिक' में करूण रस की अभिव्यक्ति में कहा गया है कि इस संसार में सभी मनुष्य सुखी व्यक्तियों के ही शुभ चिन्तक होते है, आपत्तिग्रस्त मनुष्यों का हित करने

---

[1] नीतिशतक - श्लोक 39
[2] किरातार्जुनीयम् - 1/33
[3] उत्तररामचरित - 3/47
[4] मृच्छकटिक - 1/14

वाला दुर्लभ होता है। वस्तुतः सुख की दशा में अपरिचित व्यक्ति भी अपने हो जाया करते हैं परन्तु विपत्ति में पड़े हुये व्यक्ति का कोई मित्र नहीं होता, यही संसार की रीति है–

"सर्वः खलु भवति लोके लोकः सुखसंस्थितानां चिन्तायुक्तः।
विनिपतितानां नराणां प्रियकारी दुर्लभो भवति।।"[1]

एवम्

"अमी हि वस्त्रान्तनिरूद्धवक्त्राः प्रयान्ति मे दूरतरं वयस्याः।
परोऽपि बन्धुः सुखसंस्थितस्य मित्रं न कश्चिद्विषमस्थितस्य।।"[2]

करूण की स्थिति हृदय में तभी उत्पन्न होती है जब मन में अनुताप उत्पन्न होता है। अनुताप की स्थिति किसी भी अवस्था में उत्पन्न हो सकती है। परन्तु जब कोई व्यक्ति वृद्धावस्था के पूर्व कोई अच्छे कृत्य नहीं करता है तो वृद्धावस्था में पश्चात्ताप या अनुताप करना ही पड़ता हैं इसी नीति को व्यक्त करते हुये उद्भट सागर में कहा गया है–

"गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता दन्ताः समुन्मूलिता
दृष्टिर्नश्यति रूपमेव चलितं वक्त्रञ्च लालाकुलम्।
आलापं न करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते
हा कष्टं स्थविरः पिताऽपि बहुभिः पुत्त्रैरवज्ञायते।।"[3]

'नीति प्रदीप' में बेताल भट्ट ने करूण रस का प्रयोग करते हुये कहा है कि जो भालपट्ट पर विधाता के द्वारा लिख दिया जाता है, उसको मिटाने में कोई भी समर्थ नहीं होता,यही विधि का विधान है–

"येनाकारि मृणालपत्रमशनं क्रीडा करिण्या सह
स्वच्छन्दं भ्रमणञ्च कन्दरगणे पीतं पयो निर्झरम्।
सोयं वन्यकरी नरेषु पतितः पुष्णाति देहं तृणैर
यद्दैवेन ललाटपत्रलिखितं तत्प्रोज्झितुं कः क्षमः।।"[4]

महाकवि लोष्टक रचित दीनाक्रन्दन स्तोत्र यद्यपि स्तोत्र काव्य है तथापि करूण रस में जो आक्रन्दन वर्णित है वह सान्सारिक नीति की ओर भी संकेत करता है। जहां कहा है कि मै यद्यपि भ्रष्ट हूँ फिर भी सज्जनों के गुणो से परिपूर्ण भगवन आप यम के भय से मेरी रक्षा करने में समर्थ हैं। मैं आपकी शरणागत हूँ, आप मेरी रक्षा कीजिये, क्योंकि शरणागत की रक्षा करने मे साधु लोग सद्-असद् का विवेक नही करते–

---

[1] मृच्छकटिक – 10/15
[2] मृच्छकटिक – 10/16
[3] उद्भट सागर – 3/369
[4] नीति प्रदीप – श्लोक 3

"भ्रष्टोऽस्मि यद्यपि सतां चरितात्तथापि
मां त्रातुमर्हसि कृतान्तभिया श्रयन्तम्।
प्रह्वेषु विह्वलतया शरणागतेषु
ना साधवो विदधते सदसद्विवेकम्।।"[1]

इस प्रकार नीति प्रतिपादन में करूण रस भी उपयोगी सिद्ध हुआ है।

नीति काव्यकारों ने हास्य रस का प्रयोग भी विभिन्न रूपों में किया है, जिसमें जीवन के भिन्न-भिन्न रूपों को भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को निरूपति करते हुये कहीं शुद्ध हास्य और कहीं व्यङ्ग्य रूप हास्य के आधार पर नीतियों का प्रतिपादन किया है। जैसे जामाता को ध्यान में रखकर तथा उसके परिवार जनों के द्वारा सदैव कुछ न कुछ पाने की इच्छा रखने के कारण कवि ने हास्यपूर्ण नीति व्यक्त करते हुये कहा है कि ज्योतिष में नौ ग्रह होते है और कन्या राशि पर स्थित रहने वाला जामाता दसवॉ ग्रह होता है। अतएवं अन्य ग्रहों की अपेक्षा इस दसम ग्रह को प्रसन्न रखना ही कन्या के पिता के लिये सुखकर होता है। जैसा कहा है-

"सदा क्रूरः सदा वक्रः सदापूजामपेक्षते
कन्याराशिस्थितो नित्यं जामाता दशमो ग्रहः।।"[2]

लक्ष्मी को प्राप्त करके साधारण पुरूष मदान्ध हो जाते है इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि जब लक्ष्मी के सम्पर्क में आने पर साक्षात् विष्णु भगवान भी मोहान्ध होकर सांपो की शैय्या पर शयन करने लगे तो अन्य जनों की क्या बात -

"लक्ष्मि क्षमस्व वचनीयमिदं मयोक्त-
मन्धीभवन्ति पुरूषास्त्वदुपासनेन।
नो चेत् कथं कमलपत्रविशालनेत्रो
नारायणः स्वपिति पन्नगभोगतल्ये।।"[3]

यहाँ हास्य रस के माध्यम से यही नीति व्यक्त की गई है कि धन सम्पति को पाकर लोग मदान्ध हो जाया करते हैं और मदान्धता में उनकी आँखें बन्द रहती है, अतः मुकुलित नयनों से ही वे सभी को देखते है, यह उनका स्वभाव बन जाता है। इसका कारण बतलाते हुये कवि ने कहा है कि मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि हे लक्ष्मी समुद्र से तुम्हारे साथ धूलि भी उत्पन्न हुई है, इसी कारण श्री सम्पन्न लोग उस धूलि से ढ़की हुई आँखो के कारण देखते हुये भी नहीं देख पाते हैं-

---

[1] दीनाक्रन्दन स्तोत्र - श्लोक 19
[2] सूक्ति गगाधर 4/931
[3] उद्भट सागर 1/11

"मन्ये लक्ष्मि त्वया सार्द्धं समुद्राद धूलिरूत्थिता।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति श्रीमन्तो धूलिलोचनाः।।"[1]

नीतिकारों, शास्त्रकारों तथा स्मृतिकारों, सभी ने 'धन्यो गृहस्थाश्रमः' कहकर गृहस्थ आश्रम की प्रशंसा की है, परन्तु जब गृहस्थ आश्रम के सभी व्यक्ति भिन्न-भिन्न रूचि तथा आचरण वाले हो जाते हैं तो वह परिवार अशान्त हो जाता है और सबसे अधिक पीड़ा परिवार के मुखिया को होती है। अतः परिवार में शान्ति बनाये रखने पर ही सुख तथा समृध्दि की वृध्दि होती है। अशान्त परिवार सदैव दुःखदायी हुआ करता है। अपनी इस नीति की पुष्टि मे भगवान शंकर के परिवार को ध्यान में रखकर हास्य समन्वित नीति को प्रतिपादित करते हुये कहा है-

"एका भार्य्या समररसिका निम्नगा च द्वितीया
पुत्त्रोऽप्येको द्विरदवदनः षण्मुखश्च द्वितीयः।
नन्दी भृङ्गी च कपिवदनो वाहनं पुङ्गवेशः
स्मारं स्मारं स्वगृहचरितं भस्मदेहो महेशः।।"[2]

इस नीति को समर्थित करते हुये महाकवि हलायुद्ध ने भगवान विष्णु के परिवार को ध्यान में रखकर उक्त नीति की पुष्टि की है-

"एका भार्य्या प्रकृतिमुखरा चञ्चला च द्वितीया
पुत्रस्त्वेको भुवनविजयी मन्मथो दुर्निवारः।
शेषः शय्या शयनमुदधौ वाहनं पन्नगारिः
स्मारं स्मारं स्वगृहचरितं दारूभूतो मुरारिः।।"[3]

कौटुम्बिक कलह अशान्तिदायक हुआ करती है, जिससे दुखी होकर लोग प्राणान्त तक कर लेते हैं, यह कोई नई बात नहीं है, यह तो पुरातन प्रथा चली आ रही है। कवि ने इस नीति को हास्य रस के अर्न्तगत भगवान शंकर के परिवार को ध्यान में रखते हुये शिव के द्वारा हलाहल पिये जाने का कारण पारिवारिक कलह को मानते हुये कहा है कि शिव के ऊपर स्थित सर्प गणेश वाहन मूषक को खाने की इच्छा रखता है और उस सर्प की षडानन वाहन मयूर खाने को दौड़ता है, इसी प्रकार पार्वती वाहन सिंह शंकर के वाहन नन्दी बैल पर आक्रमण करने को तत्पर रहता है, सिर पर स्थित गंगा से गौरी ईर्ष्या करती हैं और ललाट पर स्थित तृतीय नेत्र रूपी अग्नि से चन्द्रमा ईर्ष्या करता है। इस प्रकार पारिवारिक कलह से दुखी होकर भगवान शंकर ने इन सबसे मुक्ति पाने के लिये ही मानो हलाहल का पान कर लिया हो-

---

[1] उद्भट सागर 1/12
[2] उद्भट सागर 1/26
[3] धर्मविवेक - श्लोक 11

"अत्तुंवाञ्छातेवाहनं गणपते राखुंक्षुधार्तः फणी
तं च क्रौञ्चपतेः शिरवी स गिरिजासिंहोऽपि नागाननम्।
गौरी जहनुसुताभसूयति कलानाथं कपालानलो
निर्विण्णः स पपौ कुटुम्बकलहादीशोऽपि हालाहलम्।।"[1]

इसी प्रकार नीति काव्यकारों ने हास्य रस में बड़ी सरलता एवं सहजता के साथ मनोवैज्ञानिक तथा सटीक नीतियों का प्रतिपादन अपने काव्यों मे करने का सफल प्रयास किया है। इसी क्रम में नीतिकार कहता है कि खिलाने पिलार्ने से सभी संतुष्ट हो जाते है मुँह मीठा कर देने से ऐसा कौन है जो वश मे न हो जाय। जब मृदंग (निर्जीव) के मुख पर लेप लगा दिया जाता है वह भी मधुर ध्वनि करने लगता है तब चेतन व्यक्तियों के सम्बन्ध मे कहना ही क्या। जैसा कहा है–

"को न याति वशम् लोके पिण्डेन मुख पूरितै।
मृदंगो मुख लेपेन करोति मधुर ध्वनिः।।"

युवावस्था में जो व्यक्ति भोग विलास में व्यस्त रहता है परन्तु वृद्धावस्था में युवतियों उससे दूर रहा करती हैं, तब उसकी मनोदशा का अतीव सुन्दर एवं सटीक वर्णन हास्य रस मे करते हुये कहा है कि जब सिर के बाल सफेद हो जाते है तो यही स्थिति होती है–

"आपाण्डुराः शिरसिजास्त्रिवलीकपोलेदन्तावलीविगलिता न च मे विषादः।
एणीदृशो युवतयः पथि मां विलोक्य तातेति भाषणपराः खलु वज्रपातः।।"[2]

विशाल परिवार को सम्भवतः प्राचीन काल में भी अच्छा नही माना जाता था। सीमित परिवार का ही भरण पोषण सम्यक प्रकार से किया जा सकता है, इसी ओर संकेत करते हुये हास्य के व्याज से कवि ने कहा है–

"स्वयं पञ्चमुखः पुत्रौ गजाननषडाननौ।
दिगम्बरः कथं जीवेदन्नपूर्णा नचेद् गृहे।।"[3]

यहाँ बहुवचन का प्रयोग पारिवारिक आधिक्य की ओर संकेत करता है और दिगम्बर शब्द दारिद्रय का सूचक है। इस प्रकार के वर्णन से यही नीति व्यक्त की गई है कि परिवार की अधिकता उवित नहीं। क्योंकि जो स्वयं पंचमुख है, गजानन और षडानन जिनके पुत्र हैं और जो स्वयं नग्न हैं, ऐसे शंकर के घर में यदि अन्नपूर्णा न हों तो उनका परिवार का भरण–पोषण किस प्रकार हो सकेगा। हास्य के माध्यम से यही नीति स्पष्ट होती है कि सीमित परिवार ही सुख का साधन होता है।

---

[1] सूक्ति गंगाधर – 4/937
[2] सूक्ति गंगाधर – 4/935
[3] सूक्ति गंगाधर – 4/932

नीच व्यक्ति की नीचता का वर्णन वीभत्स रस के माध्यम से करते हुये भर्तृहरि ने बड़ा ही सजीव चित्रण किया है कवि ने श्वान को माध्यम बनाते हुये कहा है कि यदि श्वान के सामने हड्डी पड़ी हो और पास में इन्द्र खड़े हों तो कुत्ता इन्द्र की परवाह न करके हड्डी को प्राप्त करने की युक्ति बड़े ही घृणित तरीके से सोचता है, जब कि इन्द्र के पास में रहते हुये कुत्ते को किस वस्तु की कमी रहेगी। किन्तु वह अपने स्वभावनुरूप तुच्छ वस्तु की ओर ही आकर्षित होगा, उसे ऊँच-नीच, अच्छे-बुरे का बोध ही नहीं रहता। क्योंकि नीच व्यक्तियों की प्रवृत्ति सदैव तुच्छ एवं घृणित कार्यो के प्रति ही सदैव हुआ करती है वे अच्छाई की ओर कम ही प्रवृत्त होते है। जैसा कहा है-

"कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं,
निरूपमरसप्रीत्या रवादन्नरास्थि निरामिष्म्।
सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्थं विलोक्य च शंकते,
न हि गणयति क्षुद्रो जन्तु परिग्रहफल्गुताम्।।"[1]

रसों की दृष्टि से 'गाथा सप्तशती' नीतिकाव्यों में अनुपम ग्रन्थ है। क्योंकि काव्य शास्त्रकारों ने रस विवेचन करते हुये गाथा सप्तशती से ही अनेक उदाहरण दिये हैं, जिनमें व्यड्ग की प्रधानता है। नीति के लिये सभी रस अनुकूल नहीं माने जाते इसी कारण अन्य रसों के माध्यम से यदा-कदा ही नीतियों का कथन किया गया है और जिनसे नीतियों का कोई पोषण भी नहीं होता। नीति काव्यों का विवेचन करने पर यही प्रतीत होता है कि शान्त और करूण रस के अतिरिक्त अन्य रस नीति के लिये कोई विशेष प्रमुखता नही रखते। अन्य रसों के प्रयोग से केवल रसाभास की ही प्रतीति होती है। वस्तुतः श्रृंगार, वीर, वीभत्स हास्य आदि रसों की परिसमाप्ति करूण अथवा शान्त रस मे ही हो जाती है । यही कारण है कि अन्य रस नीति परक काव्यों में स्पष्ट रूप से देखने को नहीं मिलते।

नीतिपरक काव्यों के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अंगी रस के उत्कर्ष को बढ़ाने वाले 'गुण' नीति काव्य में स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं। जिनमें प्रायः सभी गुणो का समावेश हो जाता है। वस्तुतः गुण रस के ही धर्म होते हैं जो योग्य वर्णो से अभिव्यक्त होते हैं। आचार्य मम्मट ने भी गुणों को अंगी रस का धर्म माना है और कहा है-

"माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैः वर्णैः व्यज्यन्ते।।"[2]

---

[1] नीति श्लोक - श्लोक 10

[2] काव्य प्रकाश - अष्टम उल्लास

प्राचीनोक्त दश गुणो का अन्तर्भाव माधुर्य, ओज, एवं प्रसाद इन तीन गुणों में ही कर दिया गया है। अतः उक्त तीन गुण ही मुख्य रूप से काव्यकारों ने प्रयोग किये हैं और यही तीनों गुण ही नीति काव्यों में भी बहुलता से देखने को मिलते हैं। उक्त तीन गुणों मे से माधुर्य और प्रसाद गुण ही मुख्य रूप से नीति काव्यों के अनुकूल प्रतीत होते हैं, क्योंकि नीति परक काव्यों के लिये यही गुण प्रभावशाली हैं। परन्तु ओज गुण का भी प्रयोग यत्र-तत्र देखने को मिलता है।

गुणों से कविता में सौन्दर्य वृद्धि हो जाती है और पाठ्कों का मन आकृष्ट करने में भी गुण सहायक होते हैं, साथ ही मधुरता के साथ जो नीति कही जाती है वह अधिक प्रभावशाली होती है। सम्भवतः इसी उद्देश्य से काव्य के प्रयोजनो का उल्लेख करते हुये आचार्य मम्मट ने 'कान्ता राम्मितततयोपदेशयुजे' कहा है।

इस प्रकार जिस नीति परक पद्य में तथा जिस नीति काव्य में जिस गुण का प्राधान्य प्रतीत होता है उसका संक्षिप्त रूप से विवेचन करने का हम यहाँ प्रयास कर रहे हैं कि किस प्रकार नीति काव्यों में रसों के साथ ही साथ उनके उत्कर्षाधायक गुणों का भी प्रयोग किया गया है।

माधुर्य पूर्ण पद्धति से भर्तृहरि ने वैराग्यशतक में नीति व्यक्त करते हुये कहा है कि सन्तोष रूपी धन प्राप्त होने पर अन्य किसी धन की पुनः आवश्यकता नहीं पड़ती-

"वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
समइह परितोषो पिर्विशेषो विशेषः।
सतु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोर्थनान् को दारद्रः।।"[1]

माधुर्य गुण की यह विशेषता है कि इसमें अन्तःकरण द्रवित हो जाता है। जैसा कि साहित्य दर्पण में कहा गया है-

"चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।"

रस की भावना के समय चित्त का काठिन्य, दीपतत्व, विच्छेप, द्रुति ये चार दशाओं का उल्लेख आचार्य विश्वनाथ ने किया है। जिनमें काठिन्य वीर रस, दीपतत्व रौद्र रस, विच्छेप अद्भुत और हास्य रस, द्रुति माधुर्य गुण में माना गया है। जिसकी परिभाषा करते हुये कहा है-

"मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः।।"[2]

---

[1] वैराग्यशतक - श्लोक 54

2 साहित्य दर्पण - 8/3

"अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।"

अभिप्राय यह है कि मूर्ध्नि वर्णो से भिन्न तथा वर्गो के अन्तिम वर्ण से युक्त होने पर माधुर्य गुण व्यंजक होता है। 'र' और 'ण' वर्ण भी व्यंजक माने गये हैं। समास रहित अथवा छोटे समास से युक्त मधुर रचना माधुर्य गुण की व्यंजक होती है। इसी आधार पर माधुर्य गुण का प्रयोग नीति काव्यों में देखने को मिलता है।

'नीति प्रदीप' में माधुर्य गुण का सहज प्रयोग दृष्टव्य है–

"हंसाः पद्मवनाशया मधुलिहः शौरभ्यलाभाशया
पान्या स्वादुफलाशया वलिभुजो गृध्राश्च मांसाशया।
दूरादुन्नतपुष्परागनिकरैर्निःसारमिथ्योन्नतै
रे रे शाल्मलिपादप प्रतिदिनं केन त्वमावञ्चितः।।"[1]

सूक्तिगंगाधर में प्रयुक्त नीति वाक्य में पंचम अक्षर प्रयुक्त माधुर्य गुण का प्रयोग अतीव सुन्दर बन गया है–

"काकस्य गात्रंयदि काञ्चनस्य माणिक्यरत्नं यदि चन्चुदेशे।
एकैकपक्षे ग्रथिंत मणीनां तथापि काको नतु राजहंसः।।"[2]

उद्भट सागर में नीति व्यक्त की गई है कि अत्यधिक अथवा आवश्यकता से अधिक धन होने पर भी दान न करने वाले व्यक्ति को चन्दन के माध्यम से इंगित करते हुये माधुर्य गुण का प्रयोग अपनी मनोहरता को स्वयं प्रकट करता है–

"मूलं भुजङ्गैः शिखरं प्लवङ्गैः
शाखा विहङ्गैः कुसुमञ्च भृङ्गैः।
श्रितं सदा चन्दनपादपस्य,
परोपकाराय सतां विभूतिः।।"[3]

वस्तुतः माधुर्य गुण शान्त रस के अनुकूल माना गया है। माधुर्य के अनन्तर प्रसाद गुण को नीति काव्यकारों ने विशेष रूप से प्रयुक्त किया है। क्योंकि प्रसाद गुण चित्त को शीघ्र ही प्रभावित कर देता है। जैसे शुष्क ईंधन में अग्नि अतिशीघ्र लग जाती है उसी प्रकार प्रसाद गुण भी चित्त में शीघ्र ही व्याप्त हो जाता है। इसका प्रयोग अधिकतर सभी रसों में किया गया है। जैसा कि आचार्य विश्वनाथ ने कहा है–

"चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।।"[4]

"स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।।"[5]

---

[1] नीति प्रदीप – श्लोक 11
[2] सूक्तिगगाधर – 3/781
[3] उद्भट सागर – 1/72
[4] साहित्य दर्पण – 8/7
[5] साहित्य दर्पण – 8/8

अभिप्राय यह है कि जिनके सुनते ही अर्थ की प्रतीति हो जाय तो ऐसे सरल और सुबोध पद प्रसाद गुण के व्यंजक होते हैं। जैसे–

"वरमसिधारा तरूतलवासो
वरमिह भिक्षा वरमुपवासः।
वरमपि घोरे नरके पतनं
न च धनगर्व्वितबान्धवशरणं।।"[1]

यहाँ पर सरल एवं सुबोध पदों के द्वारा नीति का प्रदर्शन कर दिया गया है। इसमें यह नीति बतलायी गई है कि संसार के सभी दुःख सह्य हैं परन्तु अपने बान्धवों के मध्य में धनहीन होकर जीवन व्यतीत करना असह्य है।

परोपकार की प्रशसा करते हुये कहा गया है कि धन के होने पर परोपकार करना ही सज्जनों का गुण होता है। जैसे रत्नाकर अपने रत्नों का स्वयं उपभोग नहीं करता और मलयपर्वत चन्दन का उपयोग स्वयं नहीं करता, बल्कि दूसरों के हितार्थ ही उन्हें प्रदान करता रहता है। इसी कथन को अतीव सुबोध एवं सरल शब्दों में प्रसाद गुण से परिपूर्ण शब्दों में व्यक्त करते हुये कहा गया है–

"रत्नाकरः किं कुरूते स्वरत्न
विन्ध्याचलः किं करिभिः करोति।
श्रीखण्डखण्डैर्मलयाचलः किं
परोपकाराय सतां विभूतिः।।"[2]

भर्तृहरि का नीति शतक प्रसाद गुण का भण्डार है। इसका प्रत्येक पद्य सरल एवं सुबोध पदों से युक्त नीति का आकर है। नीति की दृष्टि से इसका प्रत्येक पद्य जीवन का मार्ग स्तम्भ एवं व्यवहारिक ज्ञान से परिपूर्ण है। वस्तुतः भर्तृहरि की नीति सरल, सुग्राह्य, अनुकरणीय और समाज के कल्याण की भावना रखते हुये पूर्णतः व्यवहारिक है। जैसे कहा है कि इस संसार में वही पुरुष कुलीन और विद्वान माना जाता है जिसके पास धन होता है, क्योंकि सभी गुण धन में ही विद्यमान रहते हैं। समाज में धन की ही प्रधानता रहती है–

"यस्यास्ति वित्त स नरः कुलीनः,
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः,
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्तिः।।"[3]

महाकवि घटकर्पर का 'नीतिसार' भी नीति का आकर ग्रन्थ है। कवि ने अतीव सरल तथा मधुर पद के द्वारा यह नीति व्यक्त की है कि वही व्यक्ति बुद्धिमान और पण्डित है

---

[1] पद्यसग्रह – श्लोक 9
[2] उद्भट सागर – 3/333
[3] नीतिशतक – श्लोक 42

जो अपने कार्य को प्रत्येक दृष्टि से सफल बनाने में प्रयत्नशील रहता है। जो ऐसा नहीं कर पाता उसे बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता। इस नीति की पुष्टि में जो दृष्टान्त दिये हैं, वे बहुत ही सटीक एवं हृदयग्राही हैं। जैसे भगवान त्रिविक्रम को भी अपनी कार्य सिद्धि के लिये वामन का रूप धारण करना पड़ा और वही भगवान फलसिद्धि के लिये शूकर और नृसिंह के रूप में प्रकट हुये। अत. जब भगवान ही अपने कार्य की सफलता के लिये इस प्रकार के रूप धारण कर लेते हैं तो साधारण मनुष्यों का यह कर्तव्य है कि वह सभी उपायों से अपने कार्य को सिद्ध करने का प्रयास करें-

"त्रिविक्रमोऽभूदपि वामनोऽसौ
स शूकरश्चेति स वै नृसिंहः।
नीचैरनीचैरतिनीचनीचैः,
सर्वैरुपायैः फलमेव साध्यम्।।"[1]

उपर्युक्त पद्य में प्रसाद गुण स्पष्टतः झलकता प्रतीत होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भामिनी विलास में प्रसाद गुण को स्पष्ट रूप से अपनाया है। जैसे प्रसाद गुण अनुप्राणित नीति व्यक्त की है कि स्वार्थ के लिये जो दूसरों के धन का हरण करता है तो यदि उसका मुँह काला होता है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि जब मेघ जल का ही हरण करता है रत्नों का नहीं और वह भी दूसरों के लिये तो उसका सारा शरीर कालिमा से युक्त हो जाता है। अतः दूसरों की कोई भी वस्तु हरण करने पर कलंक ही लगता है। जैसा कहा है-

"स्वार्थन्धनानि धनिकात् प्रतिग्रहतो यद्
आस्यम्भजेन्मलिनताड्िकमिदं विचित्रम्?
गृहन् परार्थमपि वारिनिधेः पयोऽपि
मेघोऽयमेति सकलोऽपि च कालिमानम्?।।"[2]

अन्यत्र भी जहाँ नीति को महत्व दिया गया है वहाँ मुख्य रूप से प्रसाद गुण को ही अंगीकार किया गया है। क्योंकि नीति सरल एवं सुबोध होनी चाहिये, यदि उसमें कठिनता और श्लेषात्मकता आ जाती है तो नीति का महत्व क्षीण हो जाता है। अतएव कवियों ने प्रसाद गुण को ही वरीयता दी है, जो नीतिगत वचनों में सर्वत्र देखनें को मिलती है। जैसे पञ्चतन्त्र में यह नीति व्यक्त की गई है कि जो पुरूषार्थी, स्थिरचित्त महापुरूष होते हैं उनके लिये स्वदेश और परदेश सभी समान होते हैं, जैसे सिंह जिस वन में प्रवेश करता है उसमें स्वयं अपना अधिकार स्थापित कर लेता है-

[1] नीतिसार - श्लोक 5
[2] भामिनीविलास - 1/99

"को धीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतो
य देश श्रयते तमेव कुरूते बाहुप्रतापार्जितम्।
यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणैः सिंहो वनं गाहते
तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररूधिरैस्तृष्णां छिनत्त्यात्मनः।।"[1]

जो मनुष्य ऐश्वर्य और कीर्ति को प्राप्त करने की इच्छा रखता है उसे विश्वस्त मित्रों के द्वारा विवेचित और स्वयं अपनी बुद्धि से पोषित कार्यों को करना चाहिये, यही बुद्धिमत्ता है। जो ऐसा नहीं करता वह पराभव को प्राप्त होता है और उसका धन एवं यश भी क्षीण हो जाता है। अतएव सम्यक विचारपूर्वक ही कार्य करना चाहिये। जैसा कहा है-

"सुहृद्भिराप्तैरसकृद्विचारितं स्वयं च बुद्धया प्रविचारिताश्रयम्।
करोति कार्य खलुयः स बुद्धिमान् स एव लक्ष्म्या यशसां च भाजनम्।।"[2]

प्रसाद गुण के अनन्तर ओज गुण भी यत्र-तत्र नीति परक काव्यों में देखने को मिलता है। क्योंकि ओज गुण तीक्ष्ण होता है, जो कि वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में देखने को मिलता है। इसी कारण इस गुण का प्रयोग बहुत ही अल्प पद्यों एवं अल्प नीति काव्यों में हुआ है अधिकतर माधुर्य एवं प्रसाद गुण का ही प्रयोग नीति काव्यकारों ने किया है। भर्तृहरि ने नीतिशतक में कहीं-कहीं पर ओज गुण को भी स्थान दिया है। जैसा कहा है-

"एकेनापि हि शूरेण पादाक्रान्तं महीतलम्।
क्रियते भास्करेणेव स्फारस्फुरित तेजसा।।"[3]

इसी प्रकार नीतिशतक में ही एक अन्य पद्य में भी ओज गुण का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यथा-

"लज्जागुणौघ जननीं जननीमिव स्वा-
मत्यत्न शुद्धहृदयामनुवर्तमानाम्।
तेजस्विनः सुखमसूनपि सन्त्यजन्ति
सत्यव्रतव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम्।।"[4]

यहाँ पर ओज गुण के माध्यम से यही नीति व्यक्त की गई है कि जो तेजस्वी होता है वह स्वयं अपनी शक्ति से ही सभी को अपने वश में कर लेता है। जैसे सूर्य अकेले ही अन्धकार समूह को नष्ट कर देता है। इसी प्रकार जो तेजस्वी होते हैं वे बड़ी सहजता के साथ अपने प्राणों का त्याग कर देते हैं परन्तु अपनी प्रतिज्ञा या अपने वचनों का परित्याग कभी नहीं करते।

---

[1] पञ्चतन्त्र - मित्र सम्प्राप्ति - श्लोक 124
[2] पञ्चतन्त्र - काकोलूकीयम् - श्लोक 115
[3] नीतिशतक - श्लोक 108
[4] नीतिशतक - श्लोक 110

इस प्रकार नीति काव्यों का आलोडन करने के अनन्तर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रसो के साथ गुणों का जो प्रयोग किया गया है वह अतीव रमणीय एवं मनोहारी है। गुणों के प्रयोग से नीतिगत सारल्य स्वतः प्रकट हो जाता है। यही कारण है कि नीति काव्य पाठकों के कण्ठहार बन गये हैं। क्योंकि ये नीति काव्य सामान्य जनों से अत्यधिक निकट का सम्बन्ध रखते हैं। जिन्होंने शास्त्रादि का अध्ययन नहीं किया है, उनके लिये भी उक्त गुणों से युक्त ये नीति काव्य परम हितकारी है। इनके अध्ययन से अज्ञानी भी ज्ञानी हो सकता है, और अपने व्यवहार को सफल बनाने में समर्थ हो सकता है। यदि समुचित रूप से वर्णित इन नीतियों का पालन किया जाये तो मनुष्य कभी भी पराभव को नहीं प्राप्त कर सकता है। अतएव नीति काव्यकारों ने अपने नीति काव्यों में उन्हीं छन्दों, अलंकारों और रसों के साथ उन्हीं गुणों का प्रयोग किया है, जो सर्वजनग्राह्य एवं सरल होने के साथ ही साथ सर्वजन बोद्धय हैं। यही नीति काव्यों का वैशिष्ट्य है।

(IV)
नीतियों में ध्वनि

काव्य मर्मज्ञों ने काव्य की आत्मा के विषय में भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। अलंकारवादी अलंकार को, रीतिवादी रीति गुण को काव्य की आत्मा मानते हैं परन्तु आचार्य आनन्दवर्द्धन काव्य की आत्मा व्यंग्य अर्थ को मानते हुये 'काव्यस्य आत्मा स एव अर्थः' कहा है। ध्वनि के अतिरिक्त अलंकार, रीति आदि काव्य रूप शरीर के अवयव मात्र हैं, उन्हें काव्य की आत्मा की कोटि में नहीं रखा जा सकता। वस्तुतः व्यंग्यार्थ को ही ध्वनि नाम दिया गया है। जब व्यंजक शब्द किसी विशिष्ट अर्थ को व्यक्त करता है तो वह व्यंग्यार्थ कहा जाता है अर्थात् व्यंग्य के प्रधान रूप से व्यंजक को ध्वनि कहते हैं। इसी अभिप्राय से आचार्य आनन्दवर्द्धन ने व्यंग्य अर्थ को प्रधान रूप से व्यंजित करने वाले शब्द, अर्थ को ध्वनि कहा है। जैसा कि कारिका के माध्यम से व्यक्त किया है-

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।"[1]

अर्थात् वह ध्वनि व्युत्पत्ति निमित्तक अर्थ में व्यंजक कहलाता है और प्रवृत्ति निमित्तक अर्थ में व्यंजक काव्य। काव्य के विविध प्रकारों में ध्वनि इतना प्राणवान तत्व होता है कि वह उसमें आत्मा रूप में माना जाता है- 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः इति'। अर्थात् वह व्यंजक अंश उस काव्य का सर्वश्रेष्ठ अंश होता है और वह अपने व्यंग्य अर्थ के कारण पूरे काव्य की आत्मा कहा जाता है। जबकि व्यंग्य अर्थ उस ध्वनि का भी आत्म रूप है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि जहाँ वाक्यार्थ और वाचक शब्द अपने अर्थो को गौण बनाकर व्यंग्यार्थ को व्यंजित करते हैं तो उसे प्रधान रूप से ध्वनि कहते हैं। ध्वनि के मुख्य रूप से असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि ये दो भेद किये गये हैं। जहाँ लक्ष्यक्रम प्रतीत नहीं होता उसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि और जहाँ लक्ष्यक्रम प्रतीत होता है उसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि कहते हैं जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है-

"स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिदलक्ष्यक्रमतया प्रकाशते, कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः।।"

इसका प्रभाव नीति काव्यों में भी देखने को मिलता है। जैसे नीतिशतक में महाकवि भर्तृहरि ने 'रे रे चातक सावधान मनसा' के द्वारा चातक को सम्बोधित करते हुये कहा कि हे चातक मेरी बात को ध्यानपूर्वक सुनो। इस कथन में चातक पद अपने मुख्यार्थ चातक

---

[1] ध्वन्यालोक - 1/13

पक्षी को छोड़कर किसी दीन-हीन याचक की ओर संकेत करता है। यहाँ जिस नीति का प्रतिपादन किया गया है वह किसी सज्ञान प्राणी के लिये कही गई है और चातक पक्षी होने के कारण ज्ञानरहित है और वह वक्ता के कथन को समझने में भी असमर्थ है। अत. यहाँ यही व्यंग्य अर्थ निकलता है कि दीन-हीन व्यक्ति को अपनी दीनता प्रकट करते हुये सभी के सामने हाथ नहीं फैलाना चाहिये। पण्डितराज जगन्नाथ ने भामिनी विलास में अन्योक्ति के माध्यम से जितनी भी नीतियाँ कही हैं उनमें व्यंग्यार्थ की प्रतीति सर्वत्र होती है। जैसे कहा है-

"प्रारम्भे कुसुमाकरस्य परितो यस्योल्लसन्मञ्जरी
पुञ्जे मञ्जुलगुञ्जितानि रचयंस्तानातनोरूत्सवान्।
तस्मिन्नद्य रसालशाखिनि दशान्दैवात् कृशामञ्चति।
त्वञ्चेन्मुञ्चसि चञ्चरीक! विनयन्नीचस्त्वदन्योऽस्ति कः?।।"[1]

यहाँ चंचरीक (भ्रमर) पद उस कृतघ्न व्यक्ति की ओर संकेत करता है जिसने किसी ऐश्वर्यशाली व्यक्ति के साथ आनन्द में समय बिताया और उसके सम्पत्तिहीन हो जाने पर उसका परित्याग कर दिया। इसी प्रकार अधोलिखित पद्य में भी व्यंग्य का चमत्कार देखने को मिलता है-

"नीरान्निर्म्मलतो जनिर्मधुरता वामामुखस्पर्द्धिनी
वासो यस्य हरेः करे परिमलो गीर्वाणचेतोहरः।
सर्वस्वन्तदहो! महाकविगिराड्कामस्य चाम्भोरूह!
त्वञ्चेत् प्रीतिमुरीकरोषि मधुपे तत्त्वाङ्किमाचक्ष्महे।।"[2]

यहाँ पर कवि ने कमल को स्वच्छ, मधुर, कुलीन, मनोहर तथा ऐश्वर्य सम्पन्न कहा और भँवरे को गन्दा और काला कहा परन्तु फिर भी जब भँवरा कमल के पास जाता है तो वह उसे दुत्कारता नहीं अपितु प्रेमपूर्वक उसे आश्रय देता है। इस प्रकार कमल की महानता सूचित होती है। ऐसा व्यंग्य मानने पर ऐसे ऐश्वर्यशाली व्यक्ति का बोध होता है जिसे अपने ऐश्वर्य का जरा भी मद नहीं और जो लोगों पर अत्यधिक सहानुभूति रखता है।

भामिनी विलास का ही एक अन्य व्यंग्यपूर्ण नीति पद्य दर्शनीय है-

---

[1] भामिनी विलास - 1/47
[2] भामिनी विलास - 1/62

"दीनानि प्रति परिहाय शुष्कशस्या-
न्यौदार्य्यम्प्रकटयतो महीधरेषु।
औन्नत्यम्परममवाप्य दुर्म्मदस्य
ज्ञातोऽयञ्जलधर! ते यथा विवेकः।।"[1]

यहाँ पर कवि ने 'यथा विवेक.' पद के द्वारा अज्ञानता की ओर संकेत किया है जो कि चमत्कारी है। यदि सीधे मूर्ख कह दिया जाता तो चमत्कार न रह जाता। कवि ने यही व्यंग्य प्रस्तुत करते हुये कहा कि मेघ तुम सूखे क्षेत्रों को छोड़कर पर्वतों पर वर्षा करते रहते हो तो तुम्हारा जैसा ज्ञान है वह मैंने समझ लिया है।

यद्यपि मैंने नीति काव्यों में ध्वनि तत्व का अन्वेषण करने का प्रयास किया है क्योंकि वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ इन तीनों में व्यंग्यार्थ को काव्यकारों ने उत्तमता की संज्ञा दी है। जैसा कि आचार्य मम्मट ने कहा है–

"इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।।"

तथापि नीति काव्यकारों ने अपने–अपने नीति काव्यों में व्यंग्यार्थ के साथ ही साथ अभिधा में भी नीतियों का प्रणयन किया है। जैसे कि नीतिशतक सहित अन्य नीति काव्यों में अभिधा का प्रयोग बहुलता से मिलता है। इसका एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि अभिधा में कही गई नीति साधारण जन गम्य होती है। जैसे नीतिकार ने कहा कि अनेक सुविधाओं से सम्पन्न होने पर भी मूर्ख के साथ रहना क्षेमकारक नहीं। इस सीधी सपाट नीति को भर्तृहरि ने–

"वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसम्पर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि।।"[2]

के द्वारा कह दिया है। इस कथन में यदि मूर्ख के स्थान पर अन्य किसी शब्द का प्रयोग किया जाता और अभिधयार्थ बाधित होकर लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ से उक्त अर्थ की प्रतीति होती तो नीति का तात्कालिक महत्व ही समाप्त हो जाता। इसी प्रकार चाणक्य, विदुर तथा अन्य नीतिकारों ने भी अभिधा के द्वारा नीतियों का कथन किया है, जो कि सहज बोध्य तथा सरल हैं।

दुर्बलों के सभी विघातक होते हैं इस नीति को अभिधा के माध्यम से बड़ी सहजता के साथ व्यक्त किया गया है–

---

1 भामिनी विलास – 1/94
2 नीतिशतक – श्लोक 15

"व्याघ्रं नैव गजं नैव सिंहं नैव च नैव च।
अजापुत्त्रं बलिं दद्याद् देवो दुर्बलघातकः।।"[1]

मधुर वचनों से सर्वत्र सुख मिलता है और कटुवचन दुःख तथा अनादर के कारण बन जाते हैं। इसे ही उद्भटसागर में बड़ी सहजता के साथ समझाया गया है–

"वाड्माधुर्य्यात् सर्वलोकप्रियत्वं
वाक्पारूष्यात् सर्वलोकाप्रियत्वम्।
कि वा लोके कोकिलेनोपनीतं
किं वा लोके गर्दभेनापनीतम्।।[2]

अन्य नीति काव्यकारों ने भी अभिधा का बहुलता के साथ प्रयोग किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र के 'दर्पदलनम्' में भी अभिधा का प्रयोग व्यापक रूप से देखा जा सकता है। जैसे–

"द्वेषः कस्य न दोषाय प्रीतिः कस्य न भूतये।
दर्पः कस्य न पाताय नोन्नत्यै कस्य नम्रता।।"[3]

मनुष्य की आशायें इतनी प्रबल होती है कि वे कभी पूरित ही नहीं होती, एक की पूर्ति होने पर दूसरी स्वतः उत्पन्न हो जाती है। इसी लोभ में फँसकर लोग आशा को ही प्रधान समझने लगते हैं और आशा की मृगमरीचिका में ही अपने बहुमूल्य जीवन को नष्ट किया करते हैं परन्तु उनकी आशाओं की पूर्ति जीवन पर्यन्त पूरी नहीं हो पाती। जैसा कि काव्य संग्रह में बड़े ही सहज शब्दों में व्यक्त किया गया है–

"निःस्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो
लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेशतां वाञ्छति।
चक्रेशः पुनरिन्द्रतां सुरपतिर्ब्राह्मं पदं वाछति।
ब्रह्मा शैवपदं शिवोहरिपदम् आशावधिं कोगतः।।"[4]

आशा के स्पष्ट रूप को और उसकी बलवती शक्ति को व्यक्त करते हुये महाभारत में भी यही कहा गया है कि आशा अत्यधिक बलवती होती है, जैसे भीष्म, द्रोण तथा कर्ण जैसे महारथियों के युद्ध स्थल में वीर गति प्राप्त हो जाने के अनन्तर जब शल्य को सेनापति बनाया गया तो संजय ने धृतराष्ट्र से कहा कि–

---

[1] उद्भट सागर 2/98
[2] उद्भट सागर 2/209
[3] दर्पदलनम् – 1/32
[4] अष्टरत्नम् – श्लोक 8

"हते भीष्मे गते द्रोणे कर्णे च विनिपातिते।
आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान्।।"

कुसुमदेव रचित दृष्टान्त शतक में जितने भी नीतिपरक दृष्टान्त दिये गये हैं उनमें से अधिकतर अभिधा के द्वारा ही व्यक्त किये गये हैं। जैसे सहस्त्रों व्यक्तियों के मध्य में गुणवान व्यक्ति की ही पूजा होती है, उसका प्रत्येक स्थान पर सम्मान होता है। जैसे गुणवान मणि चाहे सिर पर धारण की जाय, गले में पहनी जाय या हाथ में ग्रहण की जाय, वह सर्वत्र शोभनीय होती है-

"सर्वत्र गुणवानेव चकास्ति प्रथिते नरे।
मणिर्मूर्ध्नि गले बाहो पादपीठेपि शोभते।।"[1]

अतएव कहा जाता है कि 'गुणाः पूजा स्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः'। यह नीति साधारण शब्दों में स्पष्ट कर दी गई है, जिसे समझने के लिये लक्षणा या व्यंजना की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नीतिकारों ने अभिधा के द्वारा भी नीतियों का व्यापक रूप से प्रतिपादन किया है। इनमें व्यंग्य अर्थ को प्रधानता न देते हुये वाच्यार्थ को ही प्रधानता दी गई है जो सरल एवं सद्य. बोधगम्य हैं। नीति बोध के लिये अर्थवाध, अर्थयोग तथा प्रयोजन ईप्सित नहीं, क्योंकि यदि ऐसा होता है तो नीति का तात्कालिक महत्व समाप्त हो जाता है एवं लक्षणा अथवा व्यंजना के द्वारा कही गई नीति अनेकार्थक हो जाती है। अतः उसका अभिप्राय मनमाना भी निकाला जा सकता है। सम्भवतः यही कारण है कि नीति काव्यों में सीधा सरल एवं सद्यः बोध गम्य मार्ग नीतिकारों ने अपनाया है जिसका स्वरूप हमें पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, नीतिशतक, चाणक्य नीति, विदुर नीति तथा अन्य अनेक मुक्तकों में देखने को मिलता है। जिनमें सरल एवं वाच्यार्थ प्रधान काव्य रचना के द्वारा नीतिकारों ने नीतियों का प्रयोग किया है। वस्तुतः नीति परक काव्यों का मुख्य उद्देश्य सामान्य जन को नीति बोध कराना है, काव्य शास्त्रीय विद्वता प्रदर्शन नहीं।

अभिधा के अतिरिक्त कुछ अलंकारों का भी प्रयोग नीति काव्यकारों ने किया है, जैसे अन्योक्ति या अन्यापदेश के रूप में भी जनजीवन का यथार्थ रूप प्रस्तुत करने का प्रयास नीतिकारों ने किया है जिनमें नीतिगत व्यंग्य प्रतिभाषित होता है। जैसा कि व्यंजना के महत्व को प्रतिपादित करते हुये डा0 राजेन्द्र मिश्र ने कहा है-

"वस्तुतः संस्कृत काव्य शास्त्र में एक ऐसी शक्ति है जिसके आगे समस्त काव्य शक्तियाँ अथवा काव्यतत्व हीन एवं अप्रतिभ हो जाते हैं। यह एक ऐसी महाशक्ति है

---

[1] दृष्टान्तशतक - श्लोक 79

जिसके दरबार में महान ही आ सकते हैं। यदि कोई दीन भी आना चाहेगा तो सर्वप्रथम उसका महान बनने का संस्कार अवश्य होगा। इसी कारण जहाँ भी व्यंजना रहेगी, वहीं ध्वनि होगी, वहीं वैदर्भी रीति होगी, वहीं प्रसाद माधुर्य (ओजस् भी) गुण होंगे, वहीं वक्रोक्ति तथा स्वभावोक्ति जैसे रमणीय काव्य तत्व रहेंगे और वहीं रहेगी कवि की शक्ति या प्रतिभा।"[1]

अन्योक्ति में जिस व्यंग्य की प्रतीति होती है उसकी आधार भित्ति भी अमिधा ही होती है क्योंकि अन्योक्ति में मुख्यतः संकेतित अर्थ की ही प्रतीति सर्वप्रथम होती है परन्तु अभीष्ट भिन्न होता है।

इस प्रकार नीति के लिये ध्वनि पर कोई विशेष जोर न डालते हुये नीतिकारों ने अपने काव्यों में अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना तीनों माध्यमों में नीतियों का प्रतिपादन किया है। इस क्रम में जहाँ पर व्यङ्ग्य की आवश्यकता महसूस हुई वहाँ पर तत्सम्बन्धी नीति का कथन कर दिया और जहाँ पर व्यङ्य की आवश्यकता महसूस हुई वहाँ पर तत्सम्बन्धी नीति का कथन कर दिया और जहाँ पर नीतिकार को व्यंजकत्व की आवश्यकता नहीं महसूस हुई वहाँ पर अभिधा के माध्यम से सीधी सपाट एवं सरल नीति का कथन कर दिया है। नीतिकारों ने किसी आडम्बर या बन्धन में न बँधते हुये स्वतन्त्रतापूर्वक नीतियों का कथन कर दिया है, फिर चाहे वह अभिधा के माध्यम से कहा हो, लक्षणा के माध्यम से कहा हो या व्यङ्ग्य को प्रधानता दी हो। परन्तु नीतिकार का उद्देश्य सदैव नीति का सम्यक रूपेण प्रतिपादन करना ही रहा है। इसी उद्देय को ध्यान में रखते हुये 'चालनी न्याय' से मैंने ध्वनि आदि का अति संक्षेप में निरूपण करने का प्रयास किया है।

*** *** *** *** ***

---

[1] सस्कृत साहित्य में अन्योक्ति – डा0 राजेन्द्र मिश्र – पृष्ठ 41

षष्ठम् अध्याय

उपसंहृति

(I)

नीति परक काव्यों का महत्व

नीति काव्य संस्कृत वाड्गमय के अमूल्य रत्न माने गये हैं, अतएव उन्हें भारती का अनुपम श्रृंगार माना जाता है। जिनकी तुलना संस्कृत साहित्य के अन्य किसी काव्य से नहीं की जा सकतीं। यही कारण है कि नीतिपरक काव्य न केवल सुधीनर्नो के अपितु सामान्य जनों के भी कण्ठहार बन गये हैं। नीतिपरक काव्यों के मुक्तक पद्यों में जिन गम्भीर तथयों को प्रस्फुटित कर दिया गया है, वे किसी भी वृहद् काव्य में नही आ पाये थे। अतएव कहा जाता है कि नीति काव्य के मुक्तक पद्य सहस्रों प्रबन्ध काव्यों की समता रखते हैं। नीति कार्व्या में जीवन के अनुभूत अकाट्य वचन समाहित हैं। वस्तुसतः इन्हें हम जीवन का रसायन कह सकते हैं। यह मानव जीवन में उत्पन्न होने वाली व्याधियों का वारण सहजता से कर देते हैं। अन्य काव्य जहाँ केवल आनन्द की प्राप्ति कराने में समर्थ माने जा सकते हैं वहीं नीति काव्य परमानन्ददाय होने के साथ ही अन्धकारपूर्ण जीवन में दीप-स्पम्भ का कार्य करते हैं। इनका एक-एक नीति वचन जीवन पथ को आलोकित करने में समर्थ है। अतएव पञ्चतन्त्र में स्पष्ट रूप से नीति काव्यां का महत्व व्यक्त करते हुये कहा गया है-

"अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्र श्रृणोति च।
न पराभवभाप्नोति शक्रादपि कदाचन।।"[1]

यही कारण है कि संस्कृत साहित्य में नीति परक काव्यों का प्रभाव अति प्रचीन काल से माना गया है। वैदिक साहित्य में स्पष्ट तथा नीति वचनों का रूप देखने कोमिलता है। शनै-शनैः वैदिक साहित्य के अनन्तर लौकिक साहित्य के प्रभाव में आने पर समयानुसार नीति काव्यों का स्वरूप विकसित होता गया, जिसकाप्रमाण रामायण, महाभारत आदि महाकाव्यों में देखा जा सकता है। नीति काव्यों के महत्व को अंकित करने के लिये यही सर्वाधिक प्रमाण है कि इसकी छाया स्पष्ट रूपसे समाज पर देखी जा सकती है। इसका कारण है कि नीति काव्य सर्वजनहितकारी और मंगलदायक हैं, इनमें जीवन से सम्बन्धित सम्पूर्ण निचोड़ निहित किया गया है। नीति काव्यों में विद्या, आचरण, धर्म, दश्नन आदि का सुगमता से वर्णन किया गया है तथा जीवन से सम्बन्धित विविध विषयों का समावेश किया गया है, जो समाजिक, आध्यात्मिक, मैत्रीभाव, सदाचरण आदि सभी दृष्टियों से उपयोगी हैं। वस्तुतः नीती काव्यों के मुक्तक, नाविक के तीर के समान अत्यन्त लघु रूप

---

[1] पञ्चतन्त्र - कथामुखम् - श्लोक 10

होते हैं परन्तु उनका प्रभाव अति गम्भीर होता है, जो पाठ्क के अन्तर्मन को आलोडित कर देता है। अतः व्यक्ति इस अनुभूत नीति पर मंथन करने के लिये विवश हो जाता है, नीतिपरक काव्यों की यही विशेषता है। इस विशेषता के कारण ही साहित्य क्षेत्र तथा समाज में नीतिपरक काव्यों का महत्व है। इसी विशेषता को ध्यान में रखते हुये मानो नीति काव्यों के महत्व तथा वैशिष्ट्य को व्यक्त कराने के लिये ही कवि ने कहा है कि इन्हें लघु रूप समझने की भूल नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इनकी लघुता में ही तेजस्विता समाहित रहती है। ये लघु रूप अंकुश के समान हैं जो विशाल गज को वश में कर लेता है। सूर्यमण्डल देखने में लघु रूप दिखाई पड़ता है परन्तु वह अपने तेज से अन्धकार समूह को क्षणभर में नष्ट कर देता है। लघु रूप मुक्तकों की महत्ता को परिभाषित करने के लिये ही कवि ने कहा है–

"हस्ती स्थूलतनुः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः।
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रो गिरिस्
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः।।"[1]

इस कथन के द्वारा कवि ने नीति वचनों के महत्व को व्यक्त कर दिया है। उक्त कथन देखने में सीधा, सरल लगता है और इसका अभिधयार्थ ही महत्वपूर्ण प्रतीत होता है, परन्तु इस अभिधा के गर्म में जो व्यंग्यार्थ छिपा हुआ है वह व्यंग्यार्थ ही नीति काव्यों के वैशिष्ट्य को प्रतिपादित करते हुये उसके महत्व को प्रकट कर देता है। यही कारण है कि नीति काव्य परमानन्ददायक, अभीष्ट फल प्रदाता, सभी को वशीभूत करके विमुग्ध कर देने वाले तथासर्वजनचित्ताकर्षक माने गये हैं। इनमें कवि की स्वानुभूति समाहित रहती है, जो जीवन की कसौटी पर घिस जाने के अनन्तर सर्वतोभावेन शुद्ध होकर अपने महत्व को स्वतः प्रमाणित करती है।

नीति काव्य तो साहित्यारण्य के वे सुमन स्तवक (गुच्छा) हैं, जो अपनी अनुपम सुगंध से जीवन से सम्बन्धित समस्त विकारों को दूर करने की क्षमता रखते हैं। अन्य काव्य या रूपक इत्यादि प्रारम्भ से अन्त तक पढ़ने के अनन्तर ही सुख तथा आनन्द का बोध कराते हैं, परन्तु नीति काव्यों का एक–एक श्लोक ही चमत्कारी होता है। अतएव सहृदयों के मध्य यह सूक्ति प्रसिद्ध है कि–

"मुक्तक श्लोक एकैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।।"

---

[1] चाणक्य नीति – 11/3

जहाँ अन्य काव्यों मं किसी एक ही कथानक को प्रधान रूप से वर्णित किया जाता है और उसके अध्ययन के अनन्तर तथ्य प्राप्त किया जाता है, वहीं नीतिपरक काव्यों में एक ही बात सारगर्भित होती है। इस विशेषता के साथ ही साथ नीतिपरक काव्य माधुर्य और प्रसाद गुणों से परिपूर्ण होते हैं और कृत्रिमता तथा काव्यशास्त्रीय आडम्बर से सदा दूर रहते हैं। इनकी सबसे बड़ी विशेषता सारगर्मित विषय को सरल शब्दों में व्यक्त कर देना है। इसके प्रमाण महाभारत आदि आकर ग्रन्थों तथा नीतिपरक काव्यों में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। महाभारत में यदि वर्णनात्मक वंशावलियों को छोड़ दिया जाय तो उसमें नीतिवचन ही शेष रह जाते हैं।

वर्तमान युग को लोग भौतिकवादी युग मानते हुये और अर्थ प्रधान युग कहते हुये अर्थ को ही समस्त सुखों का साधन मानते हैं और उसकी प्राप्ति के लिये विभिन्न प्रयास करते हैं, परन्तु मेरे विचार से सभी युगों में अर्थ को प्रधान माना जाता रहा है, क्योंकि बिना अर्थ के किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिल पाती। अतएव अर्थ की महत्ता को व्यक्त करते हुये महाभारत में कहा गया है–

"यस्यार्थास्तस्य मित्रणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुर्भाल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः।।"[1]

महाभारत का उक्त कथन यही सिद्ध करता है कि प्रत्येक युग में धनका महत्व माना गया है। अतएव भिन्न-भिन्न शास्त्रों पर विचार करते हुये किसी नीतिकार ने कहा है कि–

**"बुभुक्षितैः व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैः काव्य रसो न पीयते।
न छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय बन्धु केवलम्।।"**

अर्थात् पेट की अग्नि व्याकरण से, प्यास काव्य रस से, परिवार का भरण पोषण वेद से पूर्ण नहीं होता। अतः धन को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये, जिससे उक्त सभी कार्यो की सिद्धि होती है। यह नीति प्राचीन काल से चलती हुई वर्तमान काल में भी प्रासंगिक है। इसी प्रकार अन्य नीतिकारों ने भी अपने नीति काव्यों में अर्थ कीप्रधानता को प्रकट किया है। नीतिपरक काव्यों का सबसे बड़ा महत्व यही है कि इनके रचनाकारों ने देश-काल-परिस्थिति को ध्यान में रखकर नीतिवचन कहे हैं। समयानुकूल या युगानुरूप जो नीति कही जाती है, वही सफल होती है और यह सफलता नीति काव्यों में स्पष्ट रूप से झलकती है। अतएव नीतिकारों ने कहा है कि जो सम्पन्न होते हैं, धन-धान्य से पूर्ण होते हैं, वे अकुलीन होते हुये भी कुलीन और मूर्ख होते हुये भी विद्वान माने जाते हैं, क्योंकि सभी गुण काञ्चन में व्याप्त होते हैं। जैसा स्पष्ट करते हुये कहा है–

---

[1] महाभारत – शान्तिपर्व – 8/19

"यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान गुणज्ञः।
स एव वक्ता, स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।।"[1]

इस प्रकार नीतिपरक काव्यों की यही विशेषता और महत्व है कि वे मानव जीवन को सफल बनाने में पथ प्रदर्शक का कार्य करते हैं, जिसके आलोक में गम्भीरतापूर्वक जो मनुष्य जीववन-यात्रा प्रारम्भ करते हैं, वे कभी असफल नहीं होते। नीति काव्य मनुष्य को भविष्य के लिये आगाह करते हैं, शासित नहीं। यह मनुष्य का कर्तव्य या दृष्टिकोण है कि वह उन नीति वचनों को अपने जीवन का आधार बनाता है अथवा नहीं। इस प्रकार नीतिपरक काव्य विभिन्न दृष्टियों से समाज के लिये ही नहीं अपितु प्रत्येक व्यक्ति के लिये व्यक्तिगत रूप से महत्व रखते हैं।

नीति काव्यों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनकी भाषा अत्यन्त सरल होने के साथ ही साथ सुबोध होती है। नीति काव्य, साहित्य शास्त्र की सीमा से अपने कथन को आबद्ध नहीं करते, ये सन्दर्भ आदि से मुक्त होकर अपने अनुभूत कथ्य को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर देते हैं। इसका कारण यह है कि नीति काव्यकार सामाजिक एवं वैयक्तिक हित से सम्बन्धित अपने अन्तस्तल में अनुभूत उद्‌गारों को किसी नियमबद्ध प्रणाली में आबद्ध नहीं करते क्योंकि उनके नीति वचनों मेंजीवन का कोई एक विशेष पक्ष नहीं होता अपितु विविधता का समावेश रहता है। जीवन का अनुभूत यथार्थ व्यक्त करना ही उनका मुख्य उद्‌देश्य होता है। यही कारण है कि नीति काव्यों में जीवन के अनुरञ्जनकारी चित्र अंकित किये गये हैं, जो मनुष्य के जीवन से सीधे सम्बद्ध होते हैं। दूसरी बात यह है कि ये नीति वाक्य वेद वाक्यों की तरह आदेश न देते हुये बड़ी सरलता के साथ अपनी भाववना को व्यक्त कर देते हैं, जिनका मनुष्य के मन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। नीति काव्यों में यह नहीं कहा गया है। विद्या पढो, बड़ों की सेवा करो, ऐसा न कहकर नीति यह कहती है कि विद्या इसलिये प्राप्त करनी चाहिये कि विद्या मनुष्य का गुप्त धन होती है, जहाँ कोई सहायक नहीं होता वहाँ विद्या हीउसकी सहायता करती है साथ ही यह ऐसा धन है जिसको न तो चोर चुरा सकता है और न भाइयों में इसका विभाजन हो सकता है तथा न राजा के द्वारा इसका हरण किया जा सकता है। इस प्रकार के वचनों द्वारा ये नीति काव्य लोगों में विद्याध्ययन के प्रति बड़ी सरलता के साथ रूचि उत्पन्न कर देते हैं। किसके साथ्ज्ञ कैसा व्यवहार करना चाहिये यह बड़ी सहजता के साथ कह देते हैं कि अपने से बड़ों की सेवा करने पर आयु, विद्या, यश और बल में वृद्धि होती है। यह नीति

---

[1] नीतिशतक - श्लोक 41

बड़ों के प्रति सेवा भाव रखने के लिये मनुष्य को स्वतः प्रेरित कर देती है। यही कारण है कि सुभाशित नीति काव्य, साहित्य जगत के ही नहीं अपितु सामाजिकों के भी कण्ठहार बन गये हैं। इनका महत्व इसी से प्रकट होता है कि प्रायः सभी काव्यकारों, गद्यकारों तथा अन्य कवियों ने अपनी रचनाओं में सुभाषित नीति काव्यों की सूक्तियों तथा नीति वचनों को पर्याप्त स्थान दिया है, जो नीति काव्यों के महत्व को ही सिद्ध करते हैं।

नीतिविषयक काव्यों की यह विशेषता है कि इनमें नीति विषयक सूक्तियोंके साथ–साथ उपदेशात्मक प्रवृत्ति काभी समावेश देखने को मिलता है। इस प्रकार नीति काव्यों के दो रूप हो जाते हैं– एक में नीति मुख्य और उपदेश गौण और दूसरे में उपदेश मुख्य तथा नीति वचन गौण हो जाते हैं। अतएव उन्हें उपदेशात्मक नीति काव्यकहा जा सकता है। वस्तुतः नीति विषयक काव्यों में सुधारात्मक प्रवृत्ति को अपनाते हुये आचार को विशेष महत्व दिया गया है, क्योंकि आचार के अन्तर्गत जीवन सम्बन्धी सभी क्रिया कलाप समाहित हो जाते हैं। इनमें सामाजिक सद्भाव, मैत्री की भावना, सदाचार तथा रानीतिजैसेविषयों का समावेश सरलकाव्यमयी भाषा में उतारा गया है। इनमें जीन के सुख दुःखों का समावेश इस प्रकार किया गया है कि वे स्वयं के ऊपर धरित होते प्रतीत होने लगते हैं तथा जीवन की अभ्युन्नति को दृष्टि में रखकर सुमार्गएवं कुमार्ग का सम्यक रूप से दिग्दर्शन कराया गया है। सीधी चोट करने वाली व्यंग्यात्मक शैली सें दैन्य, कार्पण्य, शोषण, असमानता आदि सामाजिक प्रवृत्तियों पर भी समर्थ प्रहार किया गया है। भाग्य की प्रबलता एवं अवश्यम्भाविता को मानते हुये भी पुरूषार्थ को सर्वाधिक महत्व दिया गया है, क्योंकि पुरूषार्थ के बिना दैव भी सहायक नहीं होता है। जैसे 'नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः' कहकर पुरूषार्थ की ओर ही संकेत किया गया है।

अन्त में नीति विषयक काव्यों के महत्व को व्यक्त करते हुये 'वाचस्पति गैरोला' के शब्दों में कह सकते हैं कि–

"संस्कृत के इन नीति विषयक उपदेशात्मक काव्यों के निर्माताओं के इस अद्‌भुत मनोविज्ञान को देखकर आश्चर्य होता है। दुनिया के साहित्य के साथ संस्कृत के इस काव्य पक्ष की तुलना करने की योग्यता मेरी नहीं हैः किन्तु मैं यही कहूँगा कि जिस किसी भी साहित्य में, इतने प्राचीन काल में, इस प्रकार की कृतियों का निर्माण हुआ, वह साहित्य और वे साहित्यकार सचमुच ही प्रशंसा के पात्र हैं।"[1]

[1] संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास – वाचस्पति गैरोला – पृष्ठ 799

(II)
नीतिपरक काव्यों की वर्णन-शैली

काव्य रचना की विविध शैलियाँ हुआ करती हैं, कवि अपनी दृष्टि से अपनी निजी शैली में काव्य रचना करता है । जैसे कोई व्यंग्यात्मक शैली में कोई अलंकारिक शैली में, कोई श्रृंगारिक शैली में, कोई क्लिष्ट काव्य रचना में प्रवृत्त हो जाता है, यथा– श्रीहर्ष,माघ तथा भारवि की रचनायें और कुछ कवि ऐसी शैली का प्रयोग करते हैं, जिनमें एक ही पद्य के दो अर्थ निकलते हैं, जैसे 'राघवपाण्डवीयम्' आदि परन्तु नीति काव्यकारों ने इन सबसे पृथक प्रसादात्मक सरल शैली का प्रयोग किया है, क्योंकि नीति काव्यों का आधार जन सामान्य होता है। अतः इनकी शैली इस प्रकार की स्वीकार की गई कि कथित नीतियो का लाभ विद्वद वृन्द से लेकर जन सामान्य को सुगमता के साथ मिल सके, इस दृष्टिकोण को ही नीतिपरक काव्यों में अपनाया गया है। वस्तुतः नीति काव्यों का सम्यक आलोडन करने से ही उनके गुण–दोषों को परखा जा सकता है। गुण–दोषों को बिना समझे हुये वर्णन शैली का विवेचन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। आलोचकों ने कवि को दूसरे प्रजापति के समान मानते हुये कहा है–

"अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिकल्प्यते।।"

अर्थात् कवि विश्व को जिस प्रकार देखता है वैसा ही वर्णन कर देने में समर्थ होता है। जैसे आचार्य भर्तृहरि ने अपने जीवन में अनुभव किया कि इस विश्व मे सब कुछ सम्भव एवं सरल हो सकता है, परन्तु मूर्ख व्यक्ति को समझाना, सुमार्ग पर लाना कठिन होता है। इसी अनुभूति की भावपूर्ण अभिव्यक्ति करते हुये कहा है–

"अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्माऽपि नरं न रञ्जयति।।"[1]

अतः हम कह सकते हैं कि जिस पर भगवती सरस्वती की अपार कृपा होती है वही प्रतिभा सम्पन्न कवि सरल, सरस एवं भावपूर्ण शैली मे रचना करने में समर्थ होता है। यह सरलता तथा सरसता ही नीतिपरक काव्यों की वर्णन शैली की विशेषता है, जो मनुष्यों के हृदय मे आनन्द ही उत्पन्न नहीं करती अपितु उनके जीवन को भी उदार तथा उदात्त बना देती है। जिससे बड़ी सहजता के साथ पाठक अपने जीवन के क्रिया–क्रलापों को सुधारने में समर्थ हो सकता है। नीतिपरक काव्यों की वर्णन शैली में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है कि कवियों ने वर्ण विषय को कल्पना से नहीं अपितु संसार मे

---

[1] नीतिशतक – श्लोक 3

अनुभूत स्वानुभवों को कसौटी पर खरा उतरने के पश्चात् सरल शब्दो में उनका भावपूर्ण प्रकाशन कर दिया है। जैसा कि आचार्च बलदेव उपाध्याय जी का कथन है–

"'दर्शन' सत्कवि के लिये सर्वप्रथम आवश्यक गुण है। परन्तु द्रष्टा होने पर भी कोई व्यक्ति तब तक कवि नही हो सकता जब तक अपने प्रातिभ चक्षु से अनुभूत दर्शन को शब्दों का कमनीय कलेवर देकर वह उसे प्रकट नही करता। भावों की शाब्दिक अभिव्यक्ति कवि के लिये उतनी ही आवश्यक है जितना उन भावों का दर्शन।"[1]

उक्त दर्शन और वर्णन ही कवि की शैली को प्रकट करते हैं। दैनन्दिन जीवन में प्रायः हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य की प्रवृत्ति में कोई न कोई कारण अवश्य विद्यमान रहता है, क्योंकि बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति हो ही नही सकती, यह सर्वमान्य सिद्धान्त हैं। इस आधार पर कवि के मानस–पटल पर जब उदात्त भावना का उदय होता है और उसमें मानव कल्याण की प्रवृति निःस्वार्थ भाव से जागृत होती है तब जन कल्याण की भावनायें कवि के अन्तस्तल में हिलोरें लेने लगती हैं, ऐसी स्थिति में कवि अपने विचारों को बिना किसी आडम्बर के प्रकट कर देता है, जो कवि की सर्वोत्त्म, वर्णन शैली का प्रतीक है। इस प्रकार जब कवि जनहित की भावना से काव्य रचना में प्रवृत्त होता है तो उसकी प्रतिभा इतनी उन्नत दशा को प्राप्त हो जाती है कि उसमें अलंकार, ध्वनि, लक्षणा, व्यञ्जना आदि सभी काव्यशास्त्रीय आडम्बर तिरोहित हो जाते है। ऐसी दशा मे कवि के उद्‌गार सरल बोधमयी भाषा में प्रकट होने लगते हैं और यही सारल्यपूर्ण शैली नीतिपरक काव्यों में देखने को मिलती है। अतः हमें यह कहने में कोई संकोच नही कि नीतिपरक काव्यों में जिस वर्णन शैली के दर्शन होते है वह सरल एवं सुबोध है, उसमें क्लिष्ट अलंकारो का प्रयोग बहुत कम किया गया है केवल उन्हीं अलंकारो को प्रयोग में लाया गया जो नीति वर्णन की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुये। इस क्रम में उपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि अलंकार नीति वचनो की सिद्धि में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुये। कवियों ने अन्यापदेश एवं अन्योक्ति को भी अपनी नीतिपरक वर्णन शैली में अपनाया है परन्तु इस शैली मे नीति की सरलता एवं स्पष्टता कुछ अंशो मे दब सी गई है, क्योंकि अन्योक्ति कथन सुनने के अनन्तर श्रोता को उसमें व्यञ्जित अर्थ को समझने का प्रयास करना पड़ता है तदनन्तर कथित नीति का मन्तव्य स्पष्ट होता है। इसके विपरीत उपमा, दृटान्त आदि को ध्यान में रखकर कही गई नीति दृष्टान्तयुक्त होने के कारण पाठ्क के मन को सीधे प्रभावित करती है इससे यह स्पष्ट होता है कि विषय की दृष्टि से नीतिवचन सीधे ओर सरल होने चाहिये, जिससे वे बोद्धा को सहजगम्य हो सकें।

---

[1] संस्कृत आलोचना – बलदेव उपाध्याय – पृष्ठ 13

जैसे 'सहसा विदधीत न क्रियामविवेक. परमापदामपदम्' यह नीति सद्यः 'बिना विचारे जो करे सो पाछे पछताय' को स्पष्ट कर देती है। नीतिपरक काव्यों में वर्ण्य विषय की दृष्टि से ऐसी नीतियों का कथन किया गया है जो अत्यन्त ही सारवान एवं सद्यः ग्रहणीय हैं। तथा शाश्वत सत्य को प्रकट करती हैं। जैसे चाणक्य ने कहा है कि बुरे ग्राम में निवास, नीच कुल की सेवा, कुत्सित भोजन, क्रोधी, पत्नी, मूर्ख पुत्र और विधवा कन्या, ये सभी बिना अग्नि के ही शरीर को जलाते रहते हैं-

"कुग्रामवासः कुलहीनसेवा
कुभोजन क्रोधमुखी च भार्या।
पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या
विनाऽग्निना षट् प्रदहन्ति कायम्।।"[1]

नीति विषयक काव्यो की वर्णन शैली मे प्रसाद गुण तथा वैदर्भी रीति का बाहुल्य है एवं भाषा स्वाभाविक तथा आडम्बरविहीन है। नीति काव्यकारों ने नीति को सरल एवं स्पष्ट शब्दों मे व्यक्त किया है जिससे इन्हें समझने मे किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती। नीतिपरक काव्यों में पद लालित्य, माधुर्य, तथा स्फुटार्थता के साथ ही अर्थ गौरव के भी दर्शन होते हैं। नीति काव्यकारो ने अनावश्यक शब्दाडम्बर द्वारा भाषा तथा भाव को बोझिल नहीं बनाया है, जिसके प्रमाण नीति काव्यों में स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं। जैसे चाणक्य ने बिना किसी आडम्बर में फँसे अतीव सरल एवं स्पष्ट नीति को व्यक्त करते हुये कहा है कि जब विपत्ति का समय आने वाला होता है तो महान लोगो की बुद्धि भी विपरीत हो जाती है-

"न निर्मितः केन न दृष्टपूर्वः
न श्रूयते हेममयः कुरङ्गः।
तथाऽपि तृष्णा रघुनन्दनस्य
विनाशकाले विपरीत बुद्धिः।।"[2]

इस प्रकार नीति काव्यों की वर्णन शैली का सर्वाधिक आकर्षण उनकी सरलता, स्पष्टवादिता के साथ ही सरल भाषा का प्रयोग है। नीतिपरक काव्यों की वर्णन शैली मे लम्बे समासो तथा क्लिष्टता का अभाव सा है, कवि ने भावानुसार अपनी भाषा को शब्दों का रूप प्रदान किया है। यही कारण है कि नीति काव्यों की वर्णन शैली में भाषा की स्पष्टता होने के कारण अभिव्यक्ति मे वह शक्ति विद्यमान है जो पाठक के अन्तस्तल को सहसा प्रभावित कर देती है। नीतिकारों ने थोड़े ही शब्दों में स्पष्ट चित्रांकन करने की जो प्रवीणता नीति काव्यों में प्रदर्शित की है वह अत्यन्त प्रभावशाली है एवं मनुष्यों को सद्यः

---

[1] चाणक्य नीति - 4/8
[2] चाणक्य नीति - 16/5

अपनी बात समझाने में समर्थ है। जैसे बिल्कुल सहज एवं स्पष्ट शब्दों मे कहा है कि इस ससार मे सुख के छः साधन है- अर्थागम, निरोगता, प्रियवादिनी पत्नी, वशीपुत्र और अर्थकरी विद्या । ये सभी सुख प्रदान करने वाले हैं-

"अर्थागमो नित्यमरोगिता च
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या
षड्जीवलोकेषु सुखानि तात।।"[1]

इस प्रकार नीतिपरक काव्यों की वर्णन शैली जिससें भाषा की सरलता और बोधगम्यता को सर्वोपरि रखा गया है, जिसमें नीति काव्य जन सामान्य को भी प्रभावित कर सकने में समर्थ हो सकें, इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये नीति काव्यकारों ने भाषा को सरल सहज आवरण पहनाकर उसे प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। इस प्रयास मे नीतियों के स्पष्टीकरण के लिये पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों वनस्पतियों तथा अन्य अनेक माध्यमो को अपनाकर अन्योक्ति के व्याज से जिन नीतियों का प्रतिपादन किया है वही नीति काव्यों की वर्णन शैली के वैशिष्ट्य् को प्रकट करते हैं।

---

[1] अष्टरत्नम् - श्लोक 1

(III)
नीति परक काव्यों का समाज पर प्रभाव

साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब प्रतिफलित होता है, और समाज साहित्य से प्रभावित होता है। इस प्रकार साहित्य और समाज का अटूट संबंध होता है। साहित्य का आधार लोक को ही माना गया है। आचार्य भरत ने भी यही कहा है कि लोक के अतिरिक्त वर्णन कवि को नहीं करना चाहिए। इसका कारण यही है कि समाज पर साहित्य का प्रभाव पड़ता है, क्योंकि व्यक्ति समाज का ही अंग होता है। इस प्रकार व्यक्ति की क्रिया-प्रक्रिया तथा मान्यताओं कासाहित्य में प्रतिफलन होता है। समाज की अच्छाइयों, बुराईयो तथा यश-अपयश का भागीदार मनुष्य ही होता है। अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि कवि चाहे जिस दृष्टिकोण से काव्य रचना में संलग्न हो प्रत्येक स्थिति में समाज के परिवेश में ही सामाजिक हित में लिए ही काव्य रचना करता है। नीति काव्यकारों ने भी यही दृष्टि अपनायी है। अतएव नीतिकाव्यकारों के समक्ष समाज का जो रूप दिखाई दिया उसका वर्णन उन्होंने अपनी प्रतिभा से तदानुसार कर दिया। इस वर्णन में नीतिकाव्यकारों ने सामाजिक परम्पराओं तथा सामाजिक क्रिया-कलापों का यथार्थ चित्रण करने में कोई संकोच नहीं किया है। जैसे कवि समाज को यह चेतावनी देता है कि इस संसारा में सज्जन और दुर्जन दो प्रकार के व्यक्ति होते हैं और दोनों में मौलिक भेद भी रहता है फिर भी दुर्जन व्यक्ति स्वयं को सज्जन सिद्ध करने का प्रयास करता रहता है, परन्तु इस प्रयास में भी उसकी दुर्जनता किसी न किसी रूप में अन्तर्निहित रहा करती है क्योंकि सज्जन एवं दुर्जन का मौलिक भेद कभी नष्ट नहीं होता जैसे कौआ कभी हंस नहीं हो सकता-

"काकस्य गात्रंयदि काञ्चनस्य माणिक्यरत्नं यदि चन्चुदेशे।
एकैकपक्षे ग्रथित मणीनां तथापि काको नतु राजहंस।।"[1]

नीतिपरक काव्यों का समाज पर अन्य काव्यों की अपेक्षा सर्वाधिक प्रभाव देखने को मिलता है, क्योंकि ये काव्य सामान्य जन के अन्तस्तल को सहसा प्रभावित कर देते हैं। जिसके फलस्वरूप नीति समाज में अपना प्रभाव स्थापित कर लेती है। समाज इनसे कितना प्रभावित हुआ है यह इसी से सिद्ध हो जाता है कि समाजिक जीवन से संबंधित अनेक अपयोगी नैतिक शिक्षाओं का नीतिपरक काव्यों में बहुलता के साथ प्रयोग हुआ है, जैसे समाज में किसके साथ किसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए इसकी शिक्षा उक्त काव्यों में अत्यंत ही रोचकताएवं स्पष्टता के साथ वर्णित की गई है। इस प्रकार सामाजिक

---
[1] सूक्तिगगाधर - 3/781

सम्बंधों को अत्यधिक दृढ़ और सुव्यस्थित बनाये रखने का नीतिपरक काव्यों मंसफल प्रयास किया गया है। इसी दृष्टि से कहा गया है कि मनुष्य का यह परम कर्तव्य है कि उसे अपने लोगोंके साथ उदारता का, सेवकों के साथ दया का, दुर्जनों के साथ शठ्ता का, सज्जनों के साथ स्नेह का व्यवहार करना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार का व्यवहार सम्बंधित व्यक्तियों के साथ करते हैं,वही श्रेष्ठ होते हैं और ऐसे मनुष्यों का ही समाज में सम्मान होता है–

"दाक्षिण्यं स्वजने दया परिजने शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने नयो नृपजने विद्वज्जने चार्जवम्।
शौर्य शत्रुजने क्षमा गुजजने कान्ताजने धृष्टया
ये चैवं पुरूषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः।।"[1]

सामाजिक स्थिति के लिये तथा प्रणियों में सद्भाव के लिये उक्त नीति अत्यन्त प्रभावशाली है, क्योंकि उक्त नीति के अनुसार यदि सभी आचरण करने लगें तो सामाजिक समरसता अक्ष्क्षुण्ण बनी रहती है और पारस्परिक विद्वेष एवं विघटन का अवसर नहीं आ पाता।

कहीं–कहीं पर नीति काव्यकारों ने सामाजिक रीति–रिवाजों पर भी कटाक्ष किया है। जैसे समाज में सर्वतः यह देखा जाता है कि जामाता का सर्वाधिक आदर–सम्मान किया जाता है और इतना होने पर भी सन्तुष्ट नहीं होता। इसी को ध्यान में रखकर कवि व्यंग्य करता है कि अन्य ग्रह तो उचित दान, तप, पूजा आदि से सन्तुष्ट हो जाते हैं परन्तु सर्वस्व देने पर भी जामाता सन्तुष्ट होता। इसीलिये नौ ग्रहों के अतिरिक्त जामाता को दसवाँ ग्रह कहा गया है–

"सूर्य्यादयो ग्रहाः सर्वे तुष्यन्त्युचितदानतः।
सर्वस्वेनापि नो तुष्येज्जामाता दशमो ग्रहः।।"[2]

उक्त नीति का प्रभाव आज प्रत्यक्ष रूप में समाज में सर्वत्र देखा जा सकता है। नीति परक काव्यों का समाज पर कितना अधिक प्रभाव पड़ता है इसका अनुमान समाज में प्रचलित कहावतों तथा लोकोक्तियों से लगाया जा सकता है। नीतिपरक काव्यों की नीतिपूर्ण उक्तियाँ समाज में विद्वानों से लेकर साधारण जनों तक प्रयोग में लायी जाती हैं। व्यक्ति जब कोई नीति या सूक्ति प्रयोग करता है तो उसका मूल नीतिपरक काव्यों में ही होता है। जैसे 'विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः' अथवा 'सहसा विदधीत न क्रियामविवेक. परमापदामपदं' का स्पष्ट प्रभाव 'बिना विचारे जो करे सो पीछे पछ्ताय' में

---

[1] नीतिशतक – श्लोक 22

[2] उद्भट सागर – 2/161

स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। समाज में हम देखते हैं कि अपढ़ व्यक्ति भी अपनी भावनाओं को प्रचलित नीतियों के आधार पर सहजता से व्यक्त कर देता है। जैसे किसी व्यक्ति को विशेष लाभ या सुख न मिलकर अल्प मात्रा में ही उपलब्धि मिलती है तो वह तुरन्त कहने लगता है कि 'जहाँ रूख न विरूख वहाँ रेण की ही छाँह भली' इसका मूल संस्कृत के 'निरस्त पादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते' में स्पष्ट रूप से झलकता है। इसी प्रकार अनेक नीतियाँ हैं, जिनका समाज में प्रचलन देखा जा सकता है, जो नीतिकाव्यों का समाज पर प्रभाव कहा जाता है–

'हितेन सह वर्तते तत् सहित्यं' अथवा 'सहितस्य भावः साहित्यम्'

ऐसा अर्थ मानने पर ही साहित्य समाज के लिये प्रभावी होता है। इसी को ध्यान में रखकर आचार्य बलदेव उपाध्याय ने कहा है–

"सच्चा कलाकार जीवन की विशालता और विविधता की ओर ही दृष्टि डालता है। उसके सामने वह अपने अस्तित्व को भी सर्वथा तिरस्कृत कर देता है। कलाकार समाज में जनमता है। समाज से ही अपने विचारों के लिये पौष्टिक पदार्थ ग्रहण करता है। अपने विचारों और भावनाओं को व्यक्तित्व के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठाकर वह विश्व के साथ सामञ्जस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है।"[1]

इस परिप्रेक्ष्य में हम नीतिपरक काव्यों के साथ ही साथ नीतिपरक कथा साहित्य को भी ध्यान में रख सकते हैं, क्योंकि नीति कथा साहित्य में नीति उद्‌बोधक जिन कथाओं का समावेश किया गया है वह नीति को सिद्धान्त के रूप में ही नहीं अपितु उदाहरण देते हुये प्रक्रियात्मक अथवा प्रयोगात्मक रूप में नीति की यथार्थता को प्रकट करती हैं। जैसे सिंह और शशक की कथा के माध्यम से कहा गया है कि 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्यनिर्बुद्धिस्तु कुतो बलं' अर्थात् बुद्धि और शक्ति में जिसके पास बुद्धिबल होता है वही वास्तविक रूप में बलवान होता है। इस प्रकार की नीति कथाओं का समावेश गुणाढ्य की 'वृहत्कथा', सोमदेव की 'कथासरित्सागर', विष्णुशर्मा के 'पञ्चतन्त्र' और नारायण भट्ट के 'हितोपदेश' में किया गया है। जिनका समाज पर प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। ये नीति कथायें सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी एवं प्रभावशालिनी सिद्ध हुई हैं, इनमें व्यक्ति को सतत जागयक करने का सफल प्रयास किया गया है। जैसे मनुष्य को सचेत् करते हुये कहा गया है कि अकेले ही किसी वस्तु को नहीं ग्रहण करना चाहिये और जहाँ परसभी मनुष्य निद्रा में हो वहाँ अकेले नहीं जागते रहना चाहिये तथा यात्रा भी अकेले

---

[1] सस्कृत आलोचना – बलदेव उपाध्याय – पृष्ठ 18

नहीं करना चाहिये इसी प्रकार किसी भी गम्भीर विषय पर एकाकी निर्णय नहीं लेना चाहिये अन्यथा ये सभी दुर्घट्ना के कारण बन सकते हैं। जैसा कि नीति का संकलित रूप में प्रतिपादन करते हुये पञ्चतन्त्र में कहा गया है–

"एकः स्वादु न भुञ्जीत, नैकः सुप्तेषु जागृयात्।
एको न गच्छेदध्वानं, नैकश्चार्थान्प्रचिन्तयेत्।।"[1]

समाज में यह नीति प्रचलित है कि 'भूखे भजन न होय गोपाला', यह नीति 'बुभुक्षितै· व्याकरणं न भुज्यते' एवं 'पिपासितै· काव्य रसो न पीयते' से अनुप्राणित प्रतीत होती है। इस कथन को और अधिक व्यापक दृष्टि से विचार करते हुये नीतिकार ने कहा है कि लज्जा, प्रेम, मधुरभाषिता, मोह, सुखोपभोग, शास्त्राध्ययन आदि तभी तक प्रतीत होते हैं जब तक मनुष्य का पेट भरा रहता है। इस नीति को समावेष्टित करते हुये कहा है–

"लज्जा स्नेहः स्वरमधुरता बुद्धयो यौवनश्रीः
कान्तासङ्ग स्वजनममता दुःखहानिर्विलासः।
धर्मः शास्त्रं सुरगुरूमतिः शौचमाचार चिन्ता
पूर्णे सर्वे जठरपिठरे प्राणिनां सम्भवन्ति।।"[2]

पञ्चतन्त्र के नीतिवचन सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली हैं, क्योंकि इसका एक-एक नीति वाक्य तमसावृत जीवन पथ को आलोकित करने में समर्थ है। जैसे 'कलहान्तानि हर्म्याणि' नीति वाक्य पारिवारिक संगठ्न को बनाये रखने के लिये नितान्त उपयोगी है। यदि उक्त नीति का पालन करते हुये पारिवारिक कलह से विरत रहा जाय तो जो जीवन आनन्द के साथ व्यतीत हो सकता है परन्तु इसके विपरीत आचरण करने पर उपलब्ध सुख-शान्ती एवं समृद्धि शनैः-शनै· नष्ट होने लगती है, इसी को ध्यान में रखकर समाज में यह कहावत प्रचलित है कि 'आयी रोटी भाजै-जब दाँत कटाकट बाजै'।

समाज में यह कहावत प्रचलित है कि 'अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता' अर्थात् कोई भी बड़ा कार्य करने कें एक अकेला मनुष्य पर्याप्त नहीं होता और यदि वह ऐसा करता है तो लोगों के मध्य हँसी का पात्र बनता है। इसी कथन को नीतिकार ने अपने शब्दों में व्यक्त करते हुये कहा है-

"यो ह्यपकर्तुमशक्तः कुप्यति किमसौ नरोऽत्र निर्लज्जः।
उत्पतितोऽपि हि चणकः शक्तः किं भ्राष्ट्रकं भङ्क्तुम्।।"[3]

उक्त विवेचन एवं उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि नीति कथाओं तथा नीति काव्यों का समाज पर किसी न किसी रूप में प्रभाव अवश्य पड़ा है, जो स्पष्ट या एस्पष्ट रूप

---

[1] पञ्चतन्त्र – अपरीक्षितकारक – श्लोक 93
[2] पञ्चतन्त्र – अपरीक्षितकारक – श्लोक 89
[3] पञ्चतन्त्र – मित्रभेद – श्लोक 143

से सर्वत्र दिखाई पड़ता है। नीति काव्यकारों का यही मंतव्य प्रकट होता है कि समाज में रहते हुए व्यक्ति को वही कार्य करने चाहिए जिनके करने से समाज का कल्याण हो और यही नहीं उनके सुकृत्यों से समाज प्रभावित भी हों सके। जैसा कि आचार्य भर्तृहरि ने जो नीति मार्ग दिखलाया है वह समाज परसार्वदेशिक और सार्वकालिक प्रभाव डालता है। कवि का मत है कि प्राणियों को हिंसा नहीं करनी तथा यथाशक्ति दान देना चाहिए, ये सभी गुण मानव कल्याण के लिए परम हितकारी हैं। जैसा कहा है–

"प्राणाघातान्निवृप्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदानं युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
तृष्णास्त्रोतोविभङ्गो गुरूष च विनयः सर्वभूतानुकम्पा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः।।"[1]

भर्तृहरि की यह नीति समाज को सन्मार्ग पर ले जाने में पूर्णतया सक्षम है। समाज में यह कहावत प्रचलित है कि 'नीम न मीठी होय, चाहे सींचों गुड़ घी से' अर्थात् जिसका जैसा स्वभाव होता है वह उसे कभी नहीं छोड़ता उसके लिये चाहे जितना प्रयत्न किया जाय। इसका मूलरूप कवि की दृष्टि में दर्शनीय है–

"शर्कराघृतयोगेन निम्बबीजं प्रतिष्ठितम्।
अपि क्षीररसदाक्षेपैर्निम्बः किं मधुरायते।।"[2]

नीतिकार कहता है कि दुर्बल व्यक्ति को कभी पीड़ा नहीं पहुँचानी चाहिए, क्योंकि पीड़ित व्यक्ति के हृदय से निकली हुई आह पीड़ा पहुँचाने वाले व्यक्ति को समूल नष्ट कर देती है। समाज में यह सूक्ति भी प्रचलित है कि 'दुर्बल को न सताइये, वा की मोटी हाय' इस कहावत को नीतिकार न व्यक्त करते हुए कहा है–

"नहि दुर्बलदग्धस्य कुले कञ्चित् प्ररोहते।
आमूलं निर्दहत्येव मा स्म दुर्बलमासदः।।"[3]

इस प्रकार उपयुक्त प्रतिपादित नीतियों का प्रभाव समाज पर व्यापक रूप से देखा जा सकता है। भारतीय नीति काव्यकारों की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि उन्होंने अपने लिए नहीं अपितु समाज के लिए चिंतन किया है। नीति काव्यों का अध्ययन करने पर यही आभास मिलता है कि उनका चिंतन सतत समाज के लिए ही था। समाज का कोई भी व्यक्ति जिस किसी भी परिस्थिति में रहे वहाँसे अपने को सुरक्षापूर्वक निकालने का मार्ग नीति काव्यकारों ने दिखलाया है। अतः हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं कि भारतीय नीति काव्यकारों की धारणा सदैव समाजोन्मुखी रही है। उनका मुख्य उद्देश्य

---

[1] नीतिशतक – श्लोक 26
[2] उद्भट सागर – 1/77
[3] सूक्तिगंगाधर – 2/478

समाज की मंगल कामना, समाज का हित चिंतन तथा समाज के कल्याण के लिए नीतिपरक उपदेश देना रहा है। इसी उद्‌देश्य की पूर्ति के लिए नीतिकारों ने जीवन के विविध पक्षों पर सम्यक विचार करने के अनन्तर नीतियाँ प्रतिपादित की हैं। यही कारण है कि नीतिपरक काव्यों कासमाज पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। अन्त में आचार्य बलदेव उपाध्याय के शब्दों में कहना चाहूँगा कि–

"भारतीय संस्कृति में समाज और व्यक्ति में भव्य सामञ्जस्य सदैव वर्तमान रहा है। भारतीय धर्म जिस प्रकार व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति का संदेश देता हुआ समाज के हित चिन्तन के लिये भी जागरुक रहता है, उसी प्रकार भारतीय साहित्य भी व्यक्ति तथा समाज, दोनों के हित चिन्तन तथा स्वार्थ के एकीकरण के लिये प्रवृत्त होता है।"[1]

---

[1] सस्कृत आलोचना – बलदेव उपाध्याय – पृष्ठ 18

(IV)
नीतिपरक काव्यों का योगदान

नीतिपरक काव्य साहित्य क्षेत्र के ही नहीं अपितु समाज के भी अमूल्य निधि हैं तथा माँ सरस्वती के अनुपम श्रृंगार रत्न है। इनकी एक नीति जीवन दिशा को परिवर्तित करने में पूर्णरूपेण सक्षम है। अतः नीतिपरक काव्यों का सभी क्षेत्रों में विशेष योगदान रहा है। नीति काव्यकारो ने अपने नीतिपरक विचारो से सभी को जीवन दान दिया है, चाहें वह साहित्यिक क्षेत्र हो, धार्मिक क्षेत्र हो, सामाजिक क्षेत्र हो यहां तक कि आर्थिक क्षेत्र में भी इनका योगदान रहा है। जैसे अर्थ के सम्बन्ध मे कहा गया है कि 'अर्थस्य सर्वे दासाः अर्थोदासो न कस्यचित्' अर्थात अर्थ के सभी दास होते है, अर्थ किसी का दास नहीं होता। इस कारण समाज में प्रतिष्ठापूर्वक निर्वाह करने के लिये धन का विशेष महत्व है, क्योंकि जिसके पास धन होता है वही व्यक्ति कुलीन, पण्डित और गुणवान माना जाता है, क्योंकि 'सर्वेगुणाः कात्र्चनमाश्रयन्ति' ऐसा नीतिकारों का मत है। अतः हम कह सकते है कि संस्कृत साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र के निर्माण एवं विकास मे नीतिपरक काव्यों का विशेष योगदान रहा है । यही कारण है कि संस्कृत साहित्य के अनेकों काव्यकारों ने अपने-अपने काव्यों में नीतिपरक ववनो का उदारतापूर्वक प्रयोग किया है, जिसका विवेचन हम पिछले अध्यायों मे कर चुके है।

नीतिपरक काव्यों का सबसे बड़ा योगदान यही माना जा सकता है क़ि नीति काव्यो ने अपनी अनूठी नीतियों से सभी शास्त्रों, काव्यों आदि को प्रभावित किया, जिससे उनकी श्रेष्ठ्ता तथा सौन्दर्य मे वृद्धि हुई। यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि काव्यादि का कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं जो नीति काव्यों का ऋणी न हो, क्योंकि नीति काव्य ऐसे अनिन्द्य रत्न हैं जिनकी प्रभा से सभी स्वतः आलोकित हो जाते हैं, काव्य जगत के लिये यही इनका अनुपम योगदान है। नीति काव्यों ने साहित्य क्षेत्र के विकास मे योगदान करने के साथ ही साथ समाज के अन्य विभिन्न क्षेत्रों मे भी पूर्ण योगदान दिया है। समाज में जिस आचार-व्यवहार, सदाचार धर्म आदि के जो रूप दिखाई पड़ते है, वे सभी नीति काव्यों से प्रभावित हैं। नीति ही हमें यह शिक्षा देती है कि मानव जीवन का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति करना है। चाणक्य नीति में यही शिक्षा देते हुये कहा गया हैं कि नीतिपरक काव्यों का विधिवत् अध्ययन करके शास्त्रानुमोदित कर्तव्य-अकर्तव्य, पुण्य-पाप धर्म-अधर्म आदि का सम्यक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इनके अध्ययन से धर्म, अर्थ, काम इत्यादि की प्राप्ति सहज रूप से हो सकती है और

यही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है। जिस मनुष्य ने अपने जीवन मे धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन चारों पुरूषार्थो मे से किसी एक को भी प्राप्त नहीं किया उसके साथ बार-बार उत्पन्न होकर बार-बार मरने का ही क्रम चलता रहता है।

"धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
जन्म जन्मनि मर्त्येषु मरणं तस्य केवलम्।।"[1]

नीतिपरक काव्य केवल आचरण विषयक सैद्धान्तिक न होकर अत्यन्त ही व्यवहारिक हैं, क्योंकि नीति काव्यकारों ने मानव आचरण को अपनी सूक्ष्म विवेचिका दृष्टि से समझने का प्रयत्न किया है और तत्पश्चात् जीवन की समीक्षा अपने नीतिपरक काव्यों में प्रस्तुत करके इस दिशा में अपना योगदान दिया है।

नीतिपरक काव्यों का व्यवहारिक महत्व इस बात से सुस्पष्ट हो जाता है कि चाहे अर्थ के सम्बन्ध मे बात की जाय या राजनीति के सम्बन्ध में अथवा समाज से सम्बन्धित कोई भी नीतिगत बात हो, सभी के मूल में किसी न किसी रूप में नैतिकता छिपी रहती है। अत· नीतिपरक काव्यों के अध्ययन से मनुष्य अपने जीवन में अवश्य लाभाविन्त हो सकता है, यदि वह उन काव्यों में वर्णित नीतियों का पालन पूर्ण ईमानदारी के साथ करे। अत· नीतिपरक काव्यों का योगदान हम मनुष्य जीवन के सभी पक्षों मे देख सकते है।

नीतिपरक काव्य मानव-आचरण मे व्याप्त परम्परागत रीतियों, प्रचलनों,प्रथाओं तथा अनैतिक कार्यो की मात्र समीक्षा करके उन्हें त्याग देने को ही नहीं कहते वरन् उनके स्थान पर नवीन कर्तव्यों व नीतियों को स्थापित करते हैं इस प्रकार मानव-आचरण के सुन्दरतम् विकास की दिशा मे निरन्तर गति करते रहना इनका परम लक्ष्य है। अतः हम कह सकते हैं कि नीति काव्यों के द्वारा प्रदत्त ज्ञान मानव आचरण की वह सुदृढ़ भित्ति है, जिस पर आधारित मानव-व्यवहार लोक-कल्याण का सृजन कर सकता है।

नीति काव्य मानव जीवन के समस्त पक्षों यथा-धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक आदि को अपने में समाहित किये रहते हैं, अतः ये हमारे सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करते है। नीति विहीन धर्म संस्थागत परम्पराओं और अन्धविश्वासों मे परिणत हो जाता है ठीक इसी प्रकार राजनीति का आधार नीतिगत हो तो मनुष्य का नैतिक स्तर ऊपर उठाया जा सकता है, अन्यथा नीतिविहीन राज्य शक्ति अमानवीय व्यवहारों का स्रोत बन एक दिन स्वयं नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार यदि सामाजिक जीवन नीति की सुदृढ़

---

[1] चाणक्य नीति- 3/20

भित्ति पर टिका नहीं रहता तो इसका परिणाम समाज के विनाश के रूप मे ही हमारे सामने आता है और नीतिविहीन जीवन निश्चय ही पाशविकता की ओर ले जाता है। भारतीय ऋषियों ने तो इस सत्य का साक्षात्कार किया था कि न केवल मानव-समाज मे अपितु समस्त सृष्टि में एक नैतिक शक्ति व्याप्त है, अतः स्पष्ट है कि समाज के सुचारू रूप से गति करते रहने के लिये नीतिपरक काव्यों का अध्ययन मानव जीवन के लिये उपयोगी ही नहीं वरन् परमावश्यक है।

मनुष्य केवल इच्छाओं, आवेगों, मूलवत्तियों एवं संवेगों का गट्ठर मात्र नही है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है, इसलिये वह जो भी कार्य करता है उसमें सद्-असद् का भेद करना उसके लिये आवश्यक होता है, क्योंकि वह कोई भी कार्य समाज के विरूद्ध नहीं कर सकता। नीति काव्यों का सबसे बड़ा योगदान यही है कि वे मनुष्य को सद्-असद् के ज्ञान का विवेक कराते है एवं यह नैतिक शिक्षा भी देते है कि उसे किस परिस्थिति मे किस प्रकार का आचरण करना चाहिये और तदनुकूल आचरण करने मे उसे क्या लाभ प्राप्त होगा।

इस प्रकार नीतिपरक काव्य मानव जीवन के सभी पक्षों का प्रभावित करते हुये तथा लोक की स्थिति को सुरक्षित रखनें के लिये चतुर्विध पुरूषार्थो की प्राप्ति में सहायता प्राप्त कराते हैं। इसके अन्तर्गत सदाचार, आचार-व्यवहार आदि सभी पक्ष आ जाते हैं, जिनका वर्णन नीति काव्यों में बहुलता साथ किया गया है। नीति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, जिसके विविध रूपों को सरल शब्दों में मानव-कल्याण के लिए नीतिपरक काव्यों में व्यक्त कर दिया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि नीति काव्य मानव जीवन पथ को आलोकित करने में नितान्त उपयोगी हैं और इनकी यह उपयोगिता सार्वकालिक है। इसलिये यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि नीतिपरक काव्यों का योगदान मानव जीवन के सभी पक्षों से सम्बन्धित है।

*** *** *** *** ***

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 श्रीमद्भगवद्गीता
2. तैत्तरीयोपनिषद
3 मनुस्मृति
4 पराशरस्मृति
5 अभिज्ञान शाकुन्तलम्
6 कठोपनिषद
7 ईशोपनिषद
8 अथर्ववेद
9 ऋृग्वेद
10 यजुर्वेद
11 ऐतरेय ब्राह्मण
12 नीतिशतक
13 पञ्चतन्त्र
14 बृहदारण्यकोपनिषद
15 भारतीय चिन्तन परम्परा– के० दामोदरन
16 महाभारत
17 कौटिलीय अर्थशास्त्र
18. नीतिवाक्यामृतम्
19 सस्कृत साहित्य का सक्षिप्त इतिहास– वाचस्पति गैरोला
20. उद्भट सागर
21 व्यवहारमयूख
22 चाणक्यनीति
23 नीतिसार
24. चाणक्यशतक
25. सूक्तिगगाधर
26. शिवमहिमस्तोत्र
27 शान्तिविलास
28. दीनाक्रन्दन स्तोत्र
29 दर्पदलनम्
30. अपराधभञ्जन स्तोत्र
31. मोहमुद्गर
32 वैराग्यशतक
33. साधन पञ्चक
34. यति पञ्चक
35 मुकुन्दमाला
36. धर्मविवेक

37 शान्तिशतक
38 भामिनी विलास
39 भ्रमराष्टकम्
40. अन्यापदेशशतकम्
41 सूक्तिमुक्तावली
42 भल्लटशतक
43 पण्डितराज काव्यसग्रह
44 सस्कृत साहित्य मे अन्योक्ति—डा० राजेन्द्र मिश्र
45 उत्तररामचरितम्
46 सस्कृत आलोचना—बलदेव उपाध्याय
47 काव्यालकार
48 रामायण
49 रघुवश
50 श्रीमद्भागवत
51 कुमार सम्भव
52 सौन्दरनन्द
53 किरातार्जुनीयम्
54 शिशुपालवधम्
55 नैषधीयचरितम्
56. मृच्छकटिकम्
57. अमरकोश
58. मालतीमाघव
59. ईशावास्योपनिषद
60 पञ्चरत्नम्
61. सप्तरत्नम्
62 अष्टरत्नम्
63 वानरी अष्टक
64. वानराष्टक
65 तर्कसंग्रह
66 आत्मबोध
67 धम्मपद
68. सुवृत्ततिलक
69. दृष्टान्तशतक
70. पद्यसग्रह
71 भ्रमराष्टक
72 नीति प्रदीप
73. काव्यालकारसूत्र
74 चन्द्रालोक
75 काव्यमीमासा

76 साहित्यदर्पण
77 श्रृंगारशतक
78. काव्यप्रकाश
79 वैराग्यशतक
80 ध्वन्यालोक
81 दशकुमारचरितम्
82 चन्द्रप्रभाचरितम्
83 मन्दारमञ्जरी
84 हर्षचरितम्
85. कादम्बरी
86 पुरूष परीक्षा
87 मालविकाग्निमित्रम्
88 नाट्य शास्त्र
89 स्वप्नवासवदत्तम्
90 आश्चर्यचूडामणि
91 विदग्धमाधव
92. हनुमन्नाटक
93. विक्रमोर्वशीयम्
94 मुद्राराक्षस
95 दूतवाक्यम्
96 कर्णभारम्
97 पञ्चरात्रम्
98 अभिषेक नाटकम्
99 अविमारकम्
100 प्रतिमानाटकम्
101. प्रतिज्ञायौगन्धरायण
102. चारूदत्तम्
103 चातकाष्टकम्
104 मेघदूत
105 वेणीसहार
106 रत्नावली
107 कर्पूरमञ्जरी
108 सस्कृत साहित्य का इतिहास – सेठ कन्हैया लाल पोद्दार
109 नीतिशास्त्र की भूमिका – हृदय नारायण मिश्र एव जमना प्रसाद अवस्थी
110 भारतीय नीतिशास्त्र – डा० दिवाकर पाठक